आधुनिक हिन्दी कविता में बिम्बविधान

*

डॉ० केदारनाथ सिंह
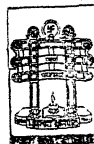
रतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

लोकोदय ग्रन्थमाला :
सम्पादक एवं नियामक
लक्ष्मीचन्द्र जैन

ग्रन्थांक : ३१६
प्रथम संस्करण : जुलाई

आधुनिक हिन्दी कविता में बिम्बविधान

(शोध-प्रबन्ध)

डॉ० केदारनाथ सिंह

61-11
6547

©

प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
३६२०/२१, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६

मुद्रक
सन्मति मुद्रणालय
दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-५

o o o o

ADHUNIK HINDI KAVITA MEN
BIMBAVIDHANA

(Thesis)

Dr. Kedar Nath Singh

Published by : BHARATIYA JNANPITH
3620/21, Netajee Subhash Marg, Delhi-6
(*Phone :* 272582. *Gram :* 'JNANPITH', Delhi-6)

Price
Rs. 20.00

मूल्य : बीस रुपये ।

प्राक्कथन

सन् १९५८–५९ के आसपास जब मैंने आधुनिक हिन्दी कविता के बिम्बविधान पर काम करना शुरू किया था तो यह विषय मेरे लिए और शायद हिन्दी आलोचना के लिए भी बहुत नया था। शोध-कार्य के लिए इस विषय को चुनना कुछ अटपटा और साथ ही जोखिम से भरा हुआ भी था। हिन्दी समीक्षा में उस समय तक बिम्बविचार की कोई सुनिश्चित परम्परा नहीं थी। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सन् १९२९–३० के आसपास अपने एक प्रसिद्ध निबन्ध में बिम्बग्रहण की पहलेपहल चर्चा की थी। पर उन के बाद एक लम्बे अरसे तक उस विचार-सूत्र को आगे बढ़ाने की कोशिश नही की गयी। फिर प्रयोगवाद या नयी कविता के आगमन के साथ एक दूसरे सन्दर्भ में बिम्ब की चर्चा नये सिरे से शुरू की गयी और धीरे-धीरे वह नयी समीक्षा का एक मूल्यपरक शब्द बन गया। वास्तविकता यह है कि पहले बिम्ब की चर्चा नवलेखन के रचनाकारों के बीच अधिक थी और आलोचक उस के बारे में प्रायः चुप थे। उन के निकट बिम्ब रचना की आन्तरिक समस्याओं से जुड़ा हुआ था और रचनाकार की अपनी लड़ाई का एक खास मुद्दा था। अब पिछले पाँच-सात वर्षों में पहले वाली स्थिति एकदम उलट गयी है। यानी रचनाकार बिम्ब के बारे में प्रायः चुप हैं और आलोचक मुखर। यह विचित्र विडम्बना है कि जिस अनुपात में बिम्ब के प्रति आलोचकों की दिलचस्पी बढ़ती गयी है उसी अनुपात में नये रचनाकार की दिलचस्पी उस में कम भी होती गयी है।

इस बीच बिम्ब तथा बिम्बविधान के बारे में काफ़ी-कुछ लिखा-पढ़ा गया है और उस के समानान्तर रचना-कर्म से जूझने वाले कवियों तथा कुछ आलोचकों के द्वारा बिम्ब की काव्यात्मक उपयोगिता के सम्बन्ध में कुछ शंकाएँ भी उठायी गयी हैं। कहा गया है कि बिम्ब कविता की बुनियादी ज़रूरतों का हिस्सा नहीं है और इसी लिए यह बिलकुल ज़रूरी नहीं है कि वह काव्यवस्तु की जड़ों तक ले जाने में पाठक की बराबर मदद ही करे। अकसर वह अपनी आपात स्थूलता और अस्पष्टता के कारण रचना और ग्राहक के बीच एक धुँधले आवरण का काम भी करता है। इस से भी आगे बढ़कर उस के बारे में सब से बडी आपत्ति यह

उठायी गयी है कि उस के कारण भाषा की स्वाभाविक गति और वाक्य-विन्यास को क्षति पहुँचती है, और यह कि उस की तर्कविरोधी प्रकृति के कारण रचना की वैचारिक संगति भी अंशतः नष्ट होती है। इन सारी बातों से इतना तो स्पष्ट है कि काव्यबिम्ब कोई ऐसी वस्तु नहीं जिसे पहली ही दृष्टि में, बिना निर्मम परख या बौद्धिक पड़ताल के, चुपचाप काव्यधर्म के रूप में स्वीकार कर लिया जाये। नयी समीक्षा का एक बहुत बड़ा दायित्व यह होगा कि वह बिम्बों के सही चुनाव के द्वारा इस बात को पूरी तरह साफ़ कर दे कि कविता में आया हुआ हर शब्दचित्र बिम्ब नहीं होता। असल में मूर्तिमत्ता जहाँ बिम्ब की सब से बड़ी शक्ति है, वहीं वह उस की सब से बड़ी सीमा भी है। सीमा इस अर्थ में कि अक्सर मूर्तिमत्ता के कारण ही किसी स्थूल शब्दचित्र को भी काव्य-बिम्ब की संज्ञा दे दी जाती है। किसी अप्रस्तुत अथवा शब्दचित्र के बिम्ब के स्तर तक पहुँचने के लिए केवल यही आवश्यक नहीं है कि वह भौतिक अर्थ में मूर्त हो बल्कि यह उस से भी ज़्यादा आवश्यक है कि वह ऐतिहासिक अर्थ में भी मूर्त हो। ऐतिहासिक मूर्तता से मेरा तात्पर्य बिम्ब की उस तात्कालिकता से है, जिस के चलते वह अपनी एकान्त मूर्तिमत्ता को अतिक्रान्त कर अपने समय की वास्तविकता से एक गहरे स्तर पर सम्पृक्त हो जाता है। बिम्ब के सम्बन्ध में लम्बे सोच-विचार के बाद में इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि एक सार्थक और श्रेष्ठ बिम्ब की कसौटी यह ऐतिहासिक मूर्तता ही हो सकती है। इस दृष्टि से नयी समीक्षा द्वारा उदाहृत अधिकांश बिम्ब केवल स्थूल अर्थ में ही बिम्ब कहे जा सकते हैं, ऐतिहासिक मूर्तता की दृष्टि से उन्हें काव्य-बिम्ब नहीं कहा जा सकता।

छायावादी कविता के बिम्बविधान पर विचार करते समय यह प्रश्न मेरे सामने बराबर रहा कि उस के प्रकृति-चित्रों और चित्रभाषा-पद्धति को तकनीकी अर्थ में बिम्ब कहा जा सकता है, या नहीं? उस समय मेरे पास इस प्रश्न का कोई सीधा उत्तर नहीं था। पर अब मेरी यह निश्चित धारणा है कि छायावाद के ज़्यादातर प्रकृति-चित्रों को इसलिए बिम्ब नहीं माना जा सकता कि वे किसी भी स्तर पर अपने समय की तात्कालिकता से सम्पृक्त नहीं हैं। यदि इस आधार पर मूल प्रबन्ध में मैं परिवर्तन या संशोधन की बात सोचता तो फिर सारी पुस्तक को नये सिरे से लिखना पड़ता। ऐसा न कर के यदि पुस्तक को उस के मूल रूप में ही प्रकाशित होने दिया गया तो उस के पीछे भी एक निश्चित तर्क है। मेरा ख़याल है कि आधुनिक हिन्दी कविता को अलंकारविधान की मध्ययुगीन जकड़ से अपने-आप को मुक्त करने के लिए बहुत लम्बा संघर्ष करना पड़ा है। इस प्रबन्ध को लिखते समय मेरा प्रमुख उद्देश्य यही था कि इस काव्यात्मक संघर्ष के पूरे विकास को कविता के रूपविन्यास में होने वाले परिवर्तनों के स्तर पर विश्लेषित और परिभाषित किया जाये। इसलिए उस हर परिवर्तन को

बिम्बविधान की दिशा में एक निश्चित विकास माना गया है, जिस में मध्ययुगीन अलंकारों की जड़ निर्वैयक्तिकता से मुक्त होने की एक हलकी-सी भी रचनात्मक कोशिश दिखाई पड़ी। हिन्दी कविता में सच्चे अर्थों में बिम्ब का आगमन तो इस शताब्दी के छठे दशक में हुआ। पर यह उस लम्बे काव्यात्मक संघर्ष की सहज परिणति थी जिस की शुरुआत इस शताब्दी के पहले दशक के आसपास ही हो गयी थी। शब्द और अनुभव के स्तर पर कविता की मुक्ति का वह संघर्ष आज भी जारी है, बल्कि पिछले दिनों उस में और तेज़ी आयी है। मुझे विश्वास है कि जो लोग कविता के आन्तरिक संघर्ष के इतिहास में दिलचस्पी रखते हैं, उन के निकट यह अध्ययन एक कोरा 'एकेडेमिक' प्रयास मात्र नहीं साबित होगा।

शोध की अपनी कुछ सीमाएँ होती हैं और वे इस पुस्तक में भी देखी जा सकती हैं। मेरे लिए लिखते समय उन से बचना सम्भव नहीं था। पर आप—यानी कि पाठक—पढ़ते समय पूर्णतया मुक्त हैं, और इसी लिए मैं आप से यह आग्रह भी कर सकता हूँ कि प्रस्तुत अध्ययन में जहाँ-कहीं अनावश्यक स्फीति दीखे, उसे शोध-लेखन की तात्कालिक सीमा मान कर आगे बढ़ जायें।

—केदारनाथ

अनुक्रम

अध्याय : १

बिम्बसिद्धान्त का विकास

आधुनिक कविता के रूप-विन्यास पर अनेक सैद्धान्तिक वादों और कलागत आन्दोलनों का प्रभाव पड़ा है। नृतत्त्वशास्त्र, भाषाविज्ञान और मनोविज्ञान की नवीनतम खोजों और उपलब्धियों ने सम्पूर्ण मानवीय अभिव्यक्ति को किसी न किसी स्तर पर प्रभावित किया है। इन सभी प्रभावों के मूल में वस्तुतः आधुनिक मानव की वह वैज्ञानिक दृष्टि और अन्वेषण वृत्ति ही काम कर रही है जो उसे निरन्तर जीवन और जगत् की गहन जटिलताओं को खोलने के लिए प्रेरित करती रहती है। फलतः बाह्य यथार्थ के प्रति मनुष्य की भावात्मक प्रतिक्रिया में भी परिवर्तन हुआ है। आज वह सम्पूर्ण यथार्थ को अपने निजी अनुभव और संवेदना के स्तर पर ग्रहण करना चाहता है। भ्रम, कल्पना और प्रातिभज्ञान के विरुद्ध प्रत्यक्ष और ठोस अनुभव को आत्यन्तिक महत्त्व देना आधुनिक भाव-बोध का पहला लक्षण माना जा सकता है। इस अनुभववादी दृष्टिकोण का प्रभाव काव्य की रचना-प्रक्रिया और रसास्वादन की प्रणाली पर भी पड़ा है। इसी के फलस्वरूप जहाँ एक ओर आज का कवि अपनी जटिल अनुभूतियों को सम्प्रेषित करने के लिए नये एवं सार्थक और संवेदनक्षम काव्यात्मक बिम्बों की खोज में निरन्तर लगा हुआ है, वहीं दूसरी ओर आधुनिक कविता का आलोचक सम्मूर्तन विधान अथवा बिम्ब-स्थापन को काव्य-निर्माण का मुख्य उद्देश्य मानने के लिए बाध्य हुआ है।[1] अमेरिकी विचारक जोज़ेफ़ाइन माइल्स के अनुसार बिम्बसिद्धान्त का आरम्भ उस समय से मानना चाहिए जब लॉक और ह्यूम जैसे इन्द्रियानुभववादी दार्शनिकों ने तर्क और अनुमान की अपेक्षा वस्तु की प्रत्यक्ष संवेदना को अधिक प्रामाणिक और महत्त्वपूर्ण सिद्ध किया।[2] काव्य के क्षेत्र में अमूर्त भावना के स्थान पर मूर्त ऐन्द्रिय चित्रों अथवा बिम्ब विधान का आग्रह इसी क्रान्तिकारी दार्शनिक स्थापना का परिणाम था।

ध्यान से देखा जाये तो प्रत्येक युग में बाह्य यथार्थ के [illegible] परिवर्तनों के समानान्तर काव्य के बिम्बविधान में भी परिवर्तन होता चलता है। मुख्यतः इसके दो कारण माने जा सकते हैं। एक : बदलती हुई वास्तविकता का कवि के संवेदनशील मन पर पड़ने वाला प्रत्यक्ष प्रभाव; दूसरा : प्रत्येक युग की अपनी वह विशेष भाव-दृष्टि

---

१. रस-मीमांसा; पृ० ३१०.

२. *Sewance Review* (Vol. LVIII/1950); P. 524.

जिस से वह अपने आसपास की वस्तुओं को देखता है। तात्पर्य यह कि बिम्बविधान की सम्पूर्ण प्रक्रिया प्रत्येक युग की प्रत्यक्षीकरण-सम्बन्धी अपनी विशेष मान्यताओं के द्वारा निर्धारित होती है। एक प्रसिद्ध पाश्चात्य आलोचक के अनुसार "बिम्बविधान के क्षेत्र में होनेवाला परिवर्तन वस्तुतः एक प्रकार की वैचारिक क्रान्ति का सूचक होता है।"[१] इस कथन से दो निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। पहला यह कि बिम्ब चाहे प्रत्येक युग की कविता का स्थायी धर्म हो परन्तु उस का साँचा (पैटर्न) युग की आवश्यकताओं के अनुसार बराबर बदलता रहता है। दूसरा यह कि बिम्बविधान के अन्तर्गत होनेवाला कोई भी परिवर्तन आकस्मिक नहीं होता। उस के पीछे उन नये विचारों की प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष प्रेरणा होती है जो इतिहास के किसी विशेष विन्दु पर मानव मन को एक नयी दिशा की ओर उन्मुख करते हैं। अतः काव्यगत बिम्बविधान के विकास का ठीक-ठीक अध्ययन बदलती हुई वास्तविकता और युग की विशेष मान्यताओं के आधार पर ही किया जा सकता है।

'बिम्ब' शब्द के अर्थ में क्रमशः विकास हुआ है। आधुनिक आलोचना के क्षेत्र में जो अर्थ उसे दे दिया गया है वह अपेक्षाकृत नया है। सामान्यतः उस का प्रयोग मूर्त्तिमत्ता अथवा चित्रात्मकता के अर्थ में किया जाता है। परन्तु आज की समीक्षा में उस का चित्रात्मकता वाला अर्थ गौण हो गया है और वह उन समस्त काव्यगत विशेषताओं का बोधक बन गया है जो पाठक को ऐन्द्रिय चेतना के किसी भी स्तर पर प्रभावित करती हैं। इस से भी आगे बढ़कर कुछ आलोचकों ने युंग मनोविज्ञान के आधार पर बिम्बविधान की प्रक्रिया को 'सामूहिक अवचेतन' (कलेक्टिव अन्कॉन्शस्) के स्तर पर देखने का प्रयास किया है। तात्पर्य यह कि नयी समीक्षा में 'बिम्ब' स्थूल शब्दचित्र मात्र का बोधक न रहकर, मनुष्य की सम्पूर्ण जटिल मानसिक प्रक्रिया का बोधक बन गया है। उस का क्षेत्र अलंकार विधान के समान केवल काव्य तक सीमित नहीं है। उस की स्थिति काव्य के अतिरिक्त संगीत, चित्रकला और मूर्तिकला इत्यादि में भी मानी जाती है। इस प्रकार उस का क्षेत्र बहुत व्यापक हो गया है। प्राचीन गाथाओं और पुराणों के अध्ययन से बिम्ब की सत्ता पर नया प्रकाश पड़ा है और भाषाशास्त्र तथा मनोविज्ञान की नयी खोजों ने उस के स्वरूप तथा प्रणाली को समझने के लिए नया परिप्रेक्ष्य प्रदान किया है। एक प्रकार से बिम्ब सम्पूर्ण आधुनिक काव्य-प्रवृत्तियों का केन्द्रबिन्दु बन गया है।[२] आगे हम बिम्बसिद्धान्त के विभिन्न स्रोतों के आधार पर उस के ऐतिहासिक विकास को समझने का प्रयास करेंगे।

बिम्बसिद्धान्त और भाषाशास्त्र

वस्तुतः बिम्बविधान की प्रक्रिया भाषा की विकास-परम्परा का ही एक अंग है। परन्तु यह विचित्र विरोधाभास है कि कवि इस प्रक्रिया के द्वारा बहुत-कुछ भाषा

१. *Axel's Castle*—Edmund Wilson; P. 5-6.
२. *Image and Experience*—Graham Hough (Dunkworth, London, 1960); P. 99.

की व्यवस्था के विरुद्ध क्रियाशील होता है। वह भाषा की सीमाओं से जितनी ही दूर होता जाता है, वस्तु अपने मौलिक रूप में उस के उतने ही निकटतर आती जाती है। शब्द और वस्तु के बीच की यह दूरी भाषा के एक लम्बे ऐतिहासिक विकास का परिणाम है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ भाषा के विकास की दिशा भी क्रमशः ऐन्द्रिय अनुभव से सूक्ष्म बौद्धिक विचारों की ओर गतिशील पायी जाती है। परिणामतः शब्दों की मूल चित्रात्मक शक्ति और व्यंजनाक्षमता में भी परिवर्तन होता गया। धीरे-धीरे व्यावहारिक उपयोगिता और वैज्ञानिक विकास ने भाषा को एक प्रकार की पारिभाषिक निश्चितता प्रदान कर दी। शब्द का जटिल ऐन्द्रिय रूप समाप्त हो गया और वह किसी सार्वभौम तथ्य या अमूर्त विचार (ऐब्स्ट्रैक्ट आइडिया) का सूचक बन गया। शब्दों को उन की बृहत्तर ध्वनियों और अनुगूँजों से विच्छिन्न कर के निस्सन्देह विज्ञान ने भाषा की ठेठ अभिधात्मक शक्ति को एक नये स्तर पर प्रतिष्ठित किया है। परन्तु इस से उन का काम अवश्य अधिक जटिल हो गया है जो शब्द को कच्चे माल की तरह खरादकर तीव्रतम संवेदना की उस सीमा पर ले जाकर झंकृत करते हैं जहाँ तात्कालिक अर्थ अपने आप दब जाता है और एक कभी न समाप्त होनेवाली गूँज बनी रह जाती है। एक प्रकार से आधुनिक कविता का इतिहास उसी 'गूँज' की दिशा में निरन्तर बढ़ते जाने का इतिहास है।

सर्वप्रथम प्रसिद्ध अँगरेज़ दार्शनिक लॉक ने इस मत की स्थापना की थी कि वे समस्त शब्द, जो आज अमूर्त विचारों के वाहक मात्र हैं, आरम्भ में अनुभूत वस्तुओं के व्यंजक थे। नवीनतम भाषा वैज्ञानिक खोजों ने लॉक की इस स्थापना पर नया प्रकाश डाला है। इन खोजों के आधार पर यह पाया गया है कि प्रत्येक शब्द अपने आप में मूलतः एक रूपक (मेटॅफ़र) होता है। कुछ शब्दों में उन के मौलिक आलंकारिक रूप को आज भी देखा जा सकता है—जैसे 'प्रवीण' अथवा 'कुशल'। आरम्भ में वीणा-वादन में दक्ष तथा मिट्टी में छिपी हुई जड़ों के भीतर से कुश चुनने वाले को क्रमशः 'प्रवीण' और 'कुशल' कहते थे। बाद में इन शब्दों का मौलिक रूप—चाहें तो इसे बिम्बाधायक रूप भी कह सकते हैं—समाप्त हो गया और सांकेतिक अथवा आलंकारिक रूप प्रधान हो उठा। एक पश्चिमी विचारक के अनुसार तो हमारी तीन-चौथाई भाषा का निर्माण इन्हीं घिसे-पिटे रूपकों के आधार पर हुआ है।[१] इस प्रकार देखें तो सादृश्य-विधान भाषा की मौलिक प्रकृति में ही निहित है और उस के विकास का सब से महत्त्वपूर्ण माध्यम है। कुछ विद्वानों ने इन शब्द-रूपकों को दो भागों में विभाजित किया है—जीवित रूपक और मृत रूपक।[२] जीवित रूपक अधिकतर काव्य अथवा साहित्य में पाये जाते हैं और मृत रूपक सामान्य बोलचाल और लोक-व्यवहार में। अधिकांश

---

१. *Introduction to the Science of Language*—A. H. Sayce (London 1880) Vol. I; P. 181.

२. *The World of Imagery*—S. J. Brown(London—1927); P. 33,

जिस से वह अपने आसपास की वस्तुओं को देखता है। तात्पर्य यह कि बिम्बविधान की सम्पूर्ण प्रक्रिया प्रत्येक युग की प्रत्यक्षीकरण-सम्बन्धी अपनी विशेष मान्यताओं के द्वारा निर्धारित होती है। एक प्रसिद्ध पाश्चात्य आलोचक के अनुसार "बिम्बविधान के क्षेत्र में होनेवाला परिवर्तन वस्तुतः एक प्रकार की वैचारिक क्रान्ति का सूचक होता है।"[१] इस कथन से दो निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। पहला यह कि बिम्ब चाहे प्रत्येक युग की कविता का स्थायी धर्म हो परन्तु उस का साँचा (पैटर्न) युग की आवश्यकताओं के अनुसार बराबर बदलता रहता है। दूसरा यह कि बिम्बविधान के अन्तर्गत होनेवाला कोई भी परिवर्तन आकस्मिक नहीं होता। उस के पीछे उन नये विचारों की प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष प्रेरणा होती है जो इतिहास के किसी विशेष विन्दु पर मानव मन को एक नयी दिशा की ओर उन्मुख करते हैं। अतः काव्यगत बिम्बविधान के विकास का ठीक-ठीक अध्ययन बदलती हुई वास्तविकता और युग की विशेष मान्यताओं के आधार पर ही किया जा सकता है।

'बिम्ब' शब्द के अर्थ में क्रमशः विकास हुआ है। आधुनिक आलोचना के क्षेत्र में जो अर्थ उसे दे दिया गया है वह अपेक्षाकृत नया है। सामान्यतः उस का प्रयोग मूर्त्तिमत्ता अथवा चित्रात्मकता के अर्थ में किया जाता है। परन्तु आज की समीक्षा में उस का चित्रात्मकता वाला अर्थ गौण हो गया है और वह उन समस्त काव्यगत विशेषताओं का बोधक बन गया है जो पाठक को ऐन्द्रिय चेतना के किसी भी स्तर पर प्रभावित करती हैं। इस से भी आगे बढ़कर कुछ आलोचकों ने युंग मनोविज्ञान के आधार पर बिम्बविधान की प्रक्रिया को 'सामूहिक अवचेतन' (कलेक्टिव अन्कॉन्शस्) के स्तर पर देखने का प्रयास किया है। तात्पर्य यह कि नयी समीक्षा में 'बिम्ब' स्थूल शब्दचित्र मात्र का वोधक न रहकर, मनुष्य की सम्पूर्ण जटिल मानसिक प्रक्रिया का बोधक बन गया है। उस का क्षेत्र अलंकार विधान के समान केवल काव्य तक सीमित नहीं है। उस की स्थिति काव्य के अतिरिक्त संगीत, चित्रकला और मूर्तिकला इत्यादि में भी मानी जाती है। इस प्रकार उस का क्षेत्र बहुत व्यापक हो गया है। प्राचीन गाथाओं और पुराणों के अध्ययन से बिम्ब की सत्ता पर नया प्रकाश पड़ा है और भाषाशास्त्र तथा मनोविज्ञान की नयी खोजों ने उस के स्वरूप तथा प्रणाली को समझने के लिए नया परिप्रेक्ष्य प्रदान किया है। एक प्रकार से बिम्ब सम्पूर्ण आधुनिक काव्य-प्रवृत्तियों का केन्द्रबिन्दु बन गया है।[२] आगे हम बिम्बसिद्धान्त के विभिन्न स्रोतों के आधार पर उस के ऐतिहासिक विकास को समझने का प्रयास करेंगे।

बिम्बसिद्धान्त और भाषाशास्त्र

वस्तुतः बिम्बविधान की प्रक्रिया भाषा की विकास-परम्परा का ही एक अंग है। परन्तु यह विचित्र विरोधाभास है कि कवि इस प्रक्रिया के द्वारा बहुत-कुछ भाषा

१. *Axel's Castle*—Edmund Wilson; P. 5-6.

२. *Image and Experience*—Graham Hough (Dunkworth, London, 1960); P. 99.

की व्यवस्था के विरुद्ध क्रियाशील होता है। वह भाषा की सीमाओं से जितनी ही दूर होता जाता है, वस्तु अपने मौलिक रूप में उस के उतने ही निकटतर आती जाती है। शब्द और वस्तु के बीच की यह दूरी भाषा के एक लम्बे ऐतिहासिक विकास का परिणाम है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ भाषा के विकास की दिशा भी क्रमशः ऐन्द्रिय अनुभव से सूक्ष्म बौद्धिक विचारों की ओर गतिशील पायी जाती है। परिणामतः शब्दों की मूल चित्रात्मक शक्ति और व्यंजनाक्षमता में भी परिवर्तन होता गया। धीरे-धीरे व्यावहारिक उपयोगिता और वैज्ञानिक विकास ने भाषा को एक प्रकार की पारिभाषिक निश्चितता प्रदान कर दी। शब्द का जटिल ऐन्द्रिय रूप समाप्त हो गया और वह किसी सार्वभौम तथ्य या अमूर्त विचार (ऐब्स्ट्रैक्ट आइडिया) का सूचक बन गया। शब्दों को उन की बृहत्तर ध्वनियों और अनुगूँजों से विच्छिन्न कर के निस्सन्देह विज्ञान ने भाषा की ठेठ अभिधात्मक शक्ति को एक नये स्तर पर प्रतिष्ठित किया है। परन्तु इस से उन का काम अवश्य अधिक जटिल हो गया है जो शब्द को कच्चे माल की तरह खरादकर तीव्रतम संवेदना की उस सीमा पर ले जाकर झंकृत करते हैं जहाँ तात्कालिक अर्थ अपने आप दब जाता है और एक कभी न समाप्त होनेवाली गूँज बनी रह जाती है। एक प्रकार से आधुनिक कविता का इतिहास उसी 'गूँज' की दिशा में निरन्तर बढ़ते जाने का इतिहास है।

सर्वप्रथम प्रसिद्ध अँगरेज़ दार्शनिक लॉक ने इस मत की स्थापना की थी कि वे समस्त शब्द, जो आज अमूर्त विचारों के वाहक मात्र हैं, आरम्भ में अनुभूत वस्तुओं के व्यंजक थे। नवीनतम भाषा वैज्ञानिक खोजों ने लॉक की इस स्थापना पर नया प्रकाश डाला है। इन खोजों के आधार पर यह पाया गया है कि प्रत्येक शब्द अपने आप में मूलतः एक रूपक (मेटॅफ़र) होता है। कुछ शब्दों में उन के मौलिक आलंकारिक रूप को आज भी देखा जा सकता है—जैसे 'प्रवीण' अथवा 'कुशल'। आरम्भ में वीणा-वादन में दक्ष तथा मिट्टी में छिपी हुई जड़ों के भीतर से कुश चुनने वाले को क्रमशः 'प्रवीण' और 'कुशल' कहते थे। बाद में इन शब्दों का मौलिक रूप—चाहें तो इसे बिम्बाधायक रूप भी कह सकते हैं—समाप्त हो गया और सांकेतिक अथवा आलंकारिक रूप प्रधान हो उठा। एक पश्चिमी विचारक के अनुसार तो हमारी तीन-चौथाई भाषा का निर्माण इन्हीं घिसे-पिटे रूपकों के आधार पर हुआ है।[१] इस प्रकार देखें तो सादृश्य-विधान भाषा की मौलिक प्रकृति में ही निहित है और उस के विकास का सब से महत्त्वपूर्ण माध्यम है। कुछ विद्वानों ने इन शब्द-रूपकों को दो भागों में विभाजित किया है—जीवित रूपक और मृत रूपक।[२] जीवित रूपक अधिकतर काव्य अथवा साहित्य में पाये जाते हैं और मृत रूपक सामान्य बोलचाल और लोक-व्यवहार में। अधिकांश

---

१. *Introduction to the Science of Language*—A. H. Sayce (London 1880) Vol. I; P. 181.

२. *The World of Imagery*—S. J. Brown(London—1927); P. 33,

लोकोक्तियाँ और मुहाविरे जिन्हें हम दैनिक बोलचाल में प्रयोग करते हैं, अपने भीतर एक मृत रूपक की स्मृति सँजोये रहते हैं—जैसे 'दूज का चाँद होना', 'सपना हो जाना' 'नींद उड़ जाना' इत्यादि।

मैक्स्मूलर के अनुसार 'मृत रूपक' को प्राथमिक रूपक (रैडिकल मेटॅफ़र) और जीवित रूपक को काव्यात्मक रूपक (पोएटिकल मेटॅफ़र) की संज्ञा दी जा सकती है। प्राथमिक रूपक प्राचीन भाषाओं में सामान्य रूप से पाया जाता है। 'प्रवीण' और 'कुशल' जैसे रूपक इसी कोटि में आयेंगे। मैक्स्मूलर के अनुसार जहाँ कोई शब्द अपने धातुगत अर्थ से भिन्न किसी सामान्य अर्थ का द्योतन करता है वहाँ प्राथमिक रूपक की सत्ता मानी जा सकती है। इस के विपरीत काव्यात्मक रूपक वहाँ होता है जहाँ कोई संज्ञा या क्रिया अपने परिचित सन्दर्भ से हटा कर किसी अन्य वस्तु या क्रिया पर आरोपित कर दी जाती है—जैसे किरणों को सूर्य की अँगुलियाँ कहना या मेघ को हाथी या पर्वत कहना। सामान्य प्रयोग में पहले प्रकार के रूपकों का बाहुल्य होता है। इन का उद्देश्य किसी सादृश्य की सृष्टि करना उतना नहीं होता जितना नयी वस्तु के लिए एक नया नाम देना। स्वयं मैक्स्मूलर ने इस विभाजन को अंशतः स्वीकार किया है। क्योंकि ऐसे उदाहरण भी मिल सकते हैं जहाँ प्राथमिक रूपक और काव्यात्मक रूपक के बीच अन्तर करना कठिन हो जाता है।[1] तात्पर्य यह कि सभी शब्द अपने मौलिक रूप में ऐन्द्रिय तथा मूर्त होते हैं और व्यापक जनसमूह की आवश्यकताओं के अनुसार कालान्तर में सूचनात्मक चिह्न या नाममात्र रह जाते हैं। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि भाषा अपने काव्यात्मक रूप को छोड़ कर निरन्तर गद्य की ओर बढ़ती जाती है। अतः जीवित रूपक और मृत रूपक का अन्तर वस्तुतः काव्य की भाषा और गद्य की भाषा का मूलभूत अन्तर है। क्रिस्टॉफ़र कॉडवेल ने जब कविता को अप्रतीकात्मक कला (नॉन-सिम्बॉलिक आर्ट) की संज्ञा दी थी,[2] तो उस का तात्पर्य एक ऐसी मूर्त कला से था जिस में गद्य के समान मृत रूपक और बीज-गणित के समान कल्पित चिह्न मात्र नहीं होते। अपने यहाँ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी बिम्बग्रहण कराने की शक्ति को काव्य-भाषा का प्रधान लक्ष्य बता कर प्रकारान्तर से इसी तथ्य पर बल दिया है। आई० ए० रिचर्ड्स् ने भी व्यावहारिक और कल्पनात्मक उपयोग के आधार पर भाषा के दो रूपों का स्पष्ट निर्देश किया है—वैज्ञानिक प्रयोग (साएंटिफिक यूज़ ऑव लैंग्वेज), तथा संवेगात्मक प्रयोग (इमोटिक यूज़ ऑव लैंग्वेज)। पहली प्रकार की भाषा का प्रयोग केवल सन्दर्भों की सूचना देने के लिए होता है और दूसरी प्रकार की भाषा का भावों तथा संवेदनाओं को जगाने के लिए। कवि दूसरी प्रकार की भाषा का प्रयोग करता है, जब कि एक वैज्ञानिक पहली प्रकार की भाषा से

---

१. *Lectures on the Science of Language*—Maxmuller (London-1880) Vol. II; P. 388.

२. *Illusion and Reality*; P. 128.

अपना काम चला लेता है। तात्पर्य यह कि वैज्ञानिक द्वारा प्रयुक्त शब्द वस्तु का एक कामचलाऊ 'नाम' होता है जब कि कवि द्वारा प्रयुक्त शब्द उस का अन्तिम और एक-मात्र नाम होता है। मनुष्य की ज्ञातभाषा में उस का पर्याय नहीं होता। कविता के इतिहास के प्रत्येक चरण में नये बिम्बों की आवश्यकता इसीलिए पड़ती है कि शब्दों की मौलिक प्रकृति में निहित रूपक धीरे-धीरे घिस कर अमूर्त हो जाते हैं। फिर यथार्थ के नित नये उभरते हुए स्तरों की तुलना में शब्द बहुत कम पड़ते हैं। एक प्रकार से बिम्ब-निर्माण की प्रक्रिया भाषा के व्यावहारिक नियमों के विरुद्ध अज्ञातरूप से चलता रहने वाला रचनात्मक विद्रोह है जो उसे निरन्तर गद्यात्मक प्रयोगों से दूर शब्दों की उन आदिम ध्वनियों की ओर ले जाने का प्रयास करता है जब वस्तु और उस के कल्पित 'नाम' के बीच न्यूनतम अन्तर था।

बिम्ब की यही सार्थकता है कि वह व्यावहारिक भाषा के मृत रूपकों को एक नये स्तर पर पुनर्जीवित करता है और अमूर्त विचारों की परिधि से बाहर ले जा कर जीवित और ठोस वस्तु से हमारा साक्षात्कार कराता है। भाषा के इस बिम्बाधायक, जीवित और ठोस रूप पर, प्रायः सभी नये काव्य-आन्दोलनों ने आवश्यकता से अधिक बल दिया है। आधुनिक कवि भाषा के आवरण से परे, प्रत्येक वस्तु को उस के मौलिक और अनावृत रूप मे उपलब्ध करना चाहता है। भाषा के व्यावहारिक माध्यम को अस्वीकार कर नामहीन ठोस वस्तु तक प्रत्यक्षतः (संवेदना के माध्यम से) पहुँचने की इस प्रक्रिया से बिम्ब का जन्म होता है। कवि की कल्पना अलग-अलग पड़े हुए नाम और वस्तु के बीच की टूटी हुई कड़ी को स्मृति के एक आकस्मिक सूत्र से सहसा जोड़ देती है। आधुनिक कविता ने भाषाशास्त्र और नृतत्त्वशास्त्र की नवीनतम खोजों से पर्याप्त लाभ उठाया है। बिम्बवाद, अतियथार्थवाद और प्रयोगवाद पर इन का प्रभाव स्पष्ट है।

बिम्ब की मनोविश्लेषणात्मक व्याख्या

काव्यात्मक बिम्ब और मनोवैज्ञानिक बिम्ब में एक मौलिक अन्तर होता है, जिसे समझ लेना आवश्यक है। मनोविज्ञान केवल उन मानसिक बिम्बों का अध्ययन करता है जो किसी विशेष अवस्था—जैसे स्मृति, स्वप्न अथवा उन्माद—में आकस्मिक रूप से मन के भीतर उत्पन्न होते हैं और तत्काल विलीन हो जाते हैं। परन्तु काव्यगत बिम्ब इस से सर्वथा भिन्न होता है। वह मानव-मन से निकल कर भाषा के साँचे में ढल चुका रहता है और उस के निर्माण के पीछे मनुष्य की चेतन इच्छाशक्ति का भी किसी न किसी रूप में योग होता है। परन्तु यह सच है कि ये कलात्मक बिम्ब भी अन्ततः उसी मानसिक प्रक्रिया की सृष्टि होते हैं जिन में स्मृतियों और स्वप्नों का निर्माण और विलयन होता रहता है। कुछ आधुनिक आलोचकों का मत है कि बिम्बों की मनो-विश्लेषणात्मक व्याख्या के द्वारा उन की जटिल रचना-प्रक्रिया को अधिक अच्छी तरह

समझा जा सकता है। न केवल रचना-प्रक्रिया को बल्कि इस के द्वारा कवि की रुचि, सांस्कृतिक वातावरण और बौद्धिक रुझान को भी ठीक-ठीक समझा जा सकता है। फ्रॉएड का मनोविश्लेपणवाद और विशेषत: स्वप्नगत बिम्बों की नयी व्याख्याओं ने काव्यगत बिम्ब को समझने के लिए एक नयी दृष्टि दी है। फ्रॉएड के अनुसार मन के तीन स्तर होते हैं: चेतन, उपचेतन और अवचेतन। इस व्यावहारिक जगत् में मनुष्य हर क्षण सामाजिक वर्जनाओं और सभ्यता के दबाव के नीचे साँस लेने के लिए बाध्य होता है। एक औसत मनुष्य अपनी ऊपरी चेतना को जागरूक रखते हुए बाह्य यथार्थ के साथ समझौता कर लेता है, जब कि एक स्नायविक दृष्टि से दुर्बल और भावुक व्यक्ति उन परिस्थितियों के साथ सरलता से समझौता नहीं कर पाता। परिणाम यह होता है कि वह एकान्त क्षणों में, बाह्य जगत् से घबरा कर बार-बार उपचेतन और अवचेतन की गहराइयों में लौट जाता है। फ्रॉएड के अनुसार एक कवि अथवा कलाकार की रचना-प्रक्रिया भी बहुत कुछ स्नायु-दुर्बल व्यक्ति की मानसिक छाया-कल्पनाओं के समान ही घटित होती है। अन्तर यह होता है कि एक कलाकार उन छाया-कल्पनाओं को कलात्मक रचना का रूप दे कर उन से सहज ही मुक्ति पा लेता है, जब कि स्नायु-दुर्बल व्यक्ति के लिए उन के सुखद मोह से छुटकारा पाना लगभग असम्भव होता है।[१]

फ्रॉएड ने मानव-मन के अवचेतन स्तर को कल्पना का उद्गम-स्रोत माना है। वहीं से अन्तर्दृष्टि, प्रातिभज्ञान, प्रतीक और बिम्ब सब की सृष्टि होती है। चेतन सन्दर्भों से कविता का न्यूनतम सम्बन्ध होता है। विश्व की अधिकांश श्रेष्ठ कविताएँ एक पूर्ण आत्म-विस्मृत अवस्था में लिखी गयी हैं, जब मन का चेतन स्तर सो जाता है और अवचेतन अपने सम्पूर्ण संचित स्मृतिकोश के साथ क्रियाशील रहता है। बाद में, निर्मित कृति में चाहे जितनी काट-छाँट की जाये पर उस के मौलिक स्वरूप का निर्धारण उस आत्म-विस्मृत अवस्था में ही हो जाता है। इस प्रकार की रचनाओं में आने वाले बिम्ब-पुंजों के अध्ययन से लेखक के व्यक्तित्व के अनेक पहलुओं पर प्रकाश पड़ सकता है। श्रीमती कैरोलाइन स्पर्जियन ने इस दृष्टि से शेक्सपीयर के नाटकों में आने वाले बिम्बों का विशद अध्ययन प्रस्तुत किया है और उस के रहस्यमय व्यक्तित्व के सम्बन्ध में अनेक रोचक निष्कर्ष निकाले हैं। उन का निश्चित मत है कि "वह अचेतन रूप से मुख्यत: अपने बिम्बों के माध्यम से ही अपने आप को व्यक्त करता है।"[२] रंगों का चुनाव, दृश्यों का आकलन, पशु-पक्षी और वनस्पतियों का वर्णन—इन सभी बाह्य अभिव्यक्तियों में कवि वस्तुतः अपने भीतर के ही किसी रहस्यमय अंश को सम्प्रेषित करता है। श्रीमती स्पर्जियन की स्थापना से प्रभावित हो कर, इस प्रकार के अनेक प्रयास इस दिशा में किये गये हैं। फिर भी, कुछ आलोचकों ने इस आलोचनात्मक पद्धति की सीमाओं को दिखाते

---

१. *Introductory Lectures on Psycho-analysis*—S. Freud: P. 3

२. *Shakespeare's Imagery*—Caroline F. E. Spurgeon; P. 4.

हुए उन की मुख्य स्थापना के आगे एक प्रश्न-चिह्न लगा दिया है। श्रीमती स्पर्जियन के अतिरिक्त प्रोफ़ेसर लिविंगस्टन लॉवेस, एडवर्ड ए० आर्मस्ट्रॉङ्ग और रॉबिन स्केल्टन ने काव्यात्मक बिम्ब को मनोविश्लेषणात्मक दृष्टि से देखने का प्रयास किया है। हिन्दी समीक्षा में केवल डॉ० नगेन्द्र, अज्ञेय, और प्रभाकर माचवे के कुछ निबन्धों में इस प्रकार के विवेचन मिलते हैं। ये आलोचक फ़ॉएड की इस स्थापना का प्रकारान्तर से समर्थन करते हैं कि स्वप्नगत बिम्ब ही स्थानान्तरित हो कर काव्यात्मक बिम्ब का रूप ले लेते हैं और यह कि वे अन्ततः अपने रचयिता की किसी अवदमित इच्छा को उद्घाटित करते हैं।

स्वप्न, फ़ॉएड के अनुसार मानव-मन की अतृप्त इच्छाओं का ही एक परिवर्तित और विकृत (डिस्टॉर्टेड) रूप है। ये अतृप्त इच्छाएँ अधिकतर यौन-भावना अथवा काम-वृत्ति से सम्बद्ध होती हैं। स्वप्न का निर्माण एक स्वतःचालित अवस्था में बिम्बों के पारस्परिक मिश्रण, स्थानान्तरण और विपर्यय से होता है। इन बिम्बों में कोई तार्किक संगति नहीं होती। मनोविश्लेषणात्मक निष्कर्षों के अनुसार स्वप्न-बिम्बों का अध्ययन बाह्य यथार्थ के नियमों के आधार पर नहीं हो सकता। इन के अध्ययन के लिए मानवमन के संवेगात्मक नियमों (इफ़ेक्टिव लॉज़) को ही आधार बनाया जा सकता है। फ़ॉएड की इस क्रान्तिकारी स्थापना का प्रभाव यह पड़ा कि आधुनिक कविता, विशेषतः अतियथार्थवादियों की कविता, का बिम्बविधान प्राचीन काव्य के कार्य-कारण शृंखला में बँधे हुए रूपकों की तरह न होकर, विशुद्ध संवेगात्मक नियमों के आधार पर निर्मित होने लगा। उपन्यास के क्षेत्र में जिस प्रकार 'चेतना-प्रवाह शैली' का प्रचलन हुआ उसी प्रकार कविता के क्षेत्र में स्वतःचालित बिम्बविधान (ऑटोमैटिक इमेजरी) का। इस के लिए तर्क यह दिया गया कि जैसे स्वप्न एक प्रकार के असामाजिक, आनुषंगिक, नियमों की अन्तःप्रेरित कृति होता है, वैसे ही काव्यगत बिम्बों की योजना भी आकस्मिक, अनिर्दिष्ट और स्वतःचालित होनी चाहिए। परन्तु इस सिद्धान्त को प्रचारित करने वाले यह भूल गये कि कविता और स्वप्न की प्रक्रिया में एक बहुत बड़ा अन्तर यह है कि कविता यथार्थ अनुभूतियों द्वारा प्रेरित तथा सामाजिक अहम् (सोशल इगो) द्वारा नियन्त्रित कला है जब कि स्वप्न समाज-निरपेक्ष, अत्यन्त निजी और स्वतन्त्र अनुषंगों की स्वतः पूर्ण कृति है।[१] फिर स्वप्न के सामने प्रेषणीयता का कोई प्रश्न नहीं होता, जब कि कविता के सामने वह सब से पहला और सब से महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। फ़ॉएड का प्रभाव आधुनिक कविता के बिम्ब विधान पर चाहे जिस रूप में पड़ा हो, पर इतना तो सच है कि यदि उस ने मनोविश्लेषणात्मक प्रयोगों के आधार पर स्वप्न-बिम्बों की वैज्ञानिक व्याख्या न प्रस्तुत की होती तो काव्यात्मक बिम्ब की जटिल प्रक्रिया को समझने के लिए कोई ठोस आधार न मिलता।

---

१. *Illusion and Reality*—C. Caudwell; P. 299.

बिम्ब और युंग का सामूहिक अवचेतन-सिद्धान्त

फ्रॉएड ने यदि मनोविश्लेषणवाद के द्वारा मन की समस्त सामाजिक-असामाजिक क्रियाओं का वैज्ञानिक आधार ढूँढ़ निकाला तो कार्ल युंग ने सभी युगों और सभी देशों के मानवमन के भीतर समान रूप से उभरने वाले बिम्बों के मूलभूत साँचे (पैटर्न) और अन्तर्निहित एकता को खोजने का प्रयास किया, जिस की जड़ें समस्त मानव-जाति के प्रागैतिहासिक अतीत तक फैली होती हैं। फ्रॉएड द्वारा निरूपित मानसिक विभाजन में युंग ने कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये। उन का पहला और सब से महत्त्वपूर्ण परिवर्तन अवचेतन-सिद्धान्त के सम्बन्ध में है। युंग के अनुसार इस अवचेतन स्तर को भी दो भागों में विभाजित किया जा सकता है : व्यक्तिगत अवचेतन और सामूहिक अवचेतन। चेतन मन के ठीक नीचेवाला स्तर व्यक्तिगत अवचेतन है जिस में युंग ने उन समस्त बातों की स्थिति स्वीकार की है जो कभी चेतन-मन में थीं और वहाँ से अवदमित होकर और नीचे ढकेल दी गयीं। पर अवचेतन का दूसरा स्तर अधिक व्यापक और अधिक स्थायी होता है। वह किसी एक व्यक्ति की सम्पत्ति न हो कर मानव-मात्र की सम्पत्ति होता है। 'सामूहिक' शब्द का तात्पर्य केवल इतना ही है कि मन का यह स्तर सर्वथा व्यक्ति-गत नहीं होता। डॉ० प्रोगोफ़ के शब्दों में "सामूहिक अवचेतन की सत्ता तब से है जब मानव-व्यक्तित्व की स्वतन्त्र इकाई का निर्माण भी नहीं हुआ था।"[1] आधुनिक सभ्य मानव प्रायः भूल जाता है कि वह अपने मन के निम्नतम स्तरों में अपने अतीत के सम्पूर्ण जीवित अंशों को बरावर ढोता आ रहा है। मानव-मात्र में सामूहिक अवचेतन का साँचा प्रायः एक-सा होता है जिस की अभिव्यक्ति जातीय अवदानों (मिथ) और आदिम बिम्बों (आर्केटाइपल इमेजेज़) के रूप में होती है। यह एक प्रकार का आव-र्तक साँचा (रेकरिंग पैटर्न) होता है जो घूम-फिर कर प्रत्येक देश और प्रत्येक युग की संस्कृति में अभिव्यक्त होता रहता है। इन जातीय अवदानों और आदिम बिम्बों का अभिप्राय सभी साहित्यों में प्रायः एक-सा होता है। इन बिम्बों के साथ मानव-जाति का एक प्रकार का रक्तगत सम्बन्ध होता है। सी० डे लिविस के अनुसार आदिम बिम्बों की अभिव्यक्ति अधिकतर उन कविताओं में होती है जिनके विषय सार्वकालिक होते हैं— जैसे प्रेम, घृणा, मृत्यु, फ़सल, वसन्त आदि।

इस कोटि के बिम्बों की बौद्धिक व्याख्या नहीं हो सकती। क्योंकि इनके सन्दर्भ-सूत्र अत्यन्त धूमिल और अस्पष्ट होते हैं। युंग के अनुसार अन्तर्दृष्टि अथवा प्रातिभज्ञान के स्तर पर केवल इन की सुदूर प्रतीकात्मक ध्वनि को पकड़ा जा सकता है।[3] इसीलिए इन बिम्बों में अर्थ की अपार सम्भावनाएँ होती हैं। इन की उत्पत्ति तथा पुनर्निर्माण मन की उस विशिष्ट अवस्था में होता है जब वह किसी एक देश अथवा एक काल से

---

१. *Jung's Psychology and Its Social Meaning.*—Ira Progoff; P. 59.

२. *The Poetic Image*; P. 144.

३. *The Integration of Personality*; P. 89.

बँधा नहीं रहता । अतः इस प्रकार की कविताओं में कवि का समकालीन जीवन, केवल प्रतीकात्मक रूप में, परोक्ष रूप से व्यक्त होता है । इस प्रकार के बिम्बों के साक्षात्कार से पाठक को यथार्थ का कोई नया बोध नहीं मिलता, बल्कि एक ऐसी अन्तर्दृष्टि मिल जाती है जो सम्पूर्ण स्थूल यथार्थ के आर-पार देखने में समर्थ होती है ।

अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'आर्केटाइपल पैटर्न इन पोएट्री' (काव्य में आदिम बिम्बात्मक साँचा) में मॉड बॉडकिन ने युंग के सिद्धान्तों के आधार पर काव्यात्मक बिम्ब-विधान को एक सर्वथा नये परिप्रेक्ष्य में रख कर देखने का प्रयास किया है। शेक्सपीयर तथा कोलरिज की कुछ कविताओं की परीक्षा कर के उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि वे कविताएँ हमें इसीलिए प्रभावित करती हैं कि उनका संवेगात्मक साँचा (इमोशनल पैटर्न) हमारे अवचेतन मन के आदिम बिम्बात्मक साँचे से मेल खाता है। कोलरिज की 'एन्शेंट मैरिनर' (प्राचीन-सागरिक) कविता के आधार पर उन्होंने यह सिद्ध किया है कि 'पुनर्जन्म' की कल्पना एक ऐसा आदिम-बिम्ब अथवा अभिप्राय है जो प्रत्येक युग की कविता में जलयात्रा अथवा अन्धकार-यात्रा के रूपक के द्वारा व्यक्त होता है ।

युंग के सामूहिक अवचेतन-सिद्धान्त की अनेक क्षेत्रों में आलोचना हुई है। आलोचकों को मुख्य आपत्ति यह है कि युंग ने मानव के वर्तमान इतिहास को मोड़ कर अतीत की वन्य गुफाओं की ओर ले जाने का प्रयास किया है । यहाँ इस विवाद में न पड़ कर हम केवल इतना कहना चाहते हैं कि सामूहिक अवचेतन की खोज के द्वारा युंग ने पहली बार आदिम बिम्बों की जटिलता और रहस्यमयता का उद्घाटन किया। फलतः अनेक आधुनिक कवियों ने आदिम जनगाथाओं, पुराणों और तान्त्रिक संकेतों को एक नयी दृष्टि से देखा और मानव-मन की जटिलतम अनुभूतियों तथा रहस्यों को व्यक्त करने के लिए उन्हें प्रतीकात्मक माध्यम बनाया । अतः आधुनिक कविता के बिम्बात्मक विकास का सम्यक् अध्ययन करने के लिए युंग के आदिमबिम्ब-सिद्धान्त का पर्यालोचन आवश्यक है ।

बिम्बवाद

अँगरेज़ी साहित्य में बिम्ब (इमेज) की चर्चा यों तो एडिसन के काल से आरम्भ हो गयी थी, परन्तु बिम्बसिद्धान्त को शास्त्रीय रूप देने का सर्वप्रथम प्रयास बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक दशक में हुआ । रोमांटिक-युग के पश्चात् एक लम्बी अवधि तक अँगरेज़ी-कविता के इतिहास में एक प्रकार की 'काव्यात्मक यथास्थिति' (पोएटिक स्टेटस-क्वो) बनी रही । ऐसी दशा में नवीन काव्य-प्रयोगों के लिए कम से कम सम्भावना थी । इस स्थिति के विरुद्ध प्रतिक्रिया तो बहुत पहले ही आरम्भ हो गयी थी, परन्तु सामूहिक रूप में इस दबी हुई प्रतिक्रिया को व्यापक साहित्यिक आन्दोलन का रूप देने का प्रयास पहले-पहल सन् १९०८ में किया गया । इस नये आन्दोलन

के नेता थे टी० ई० हुल्मे और एफ़० एस० फ़्लिट। इसी वर्ष दल का प्रथम घोषणा-पत्र प्रकाशित हुआ जिस में बिम्ब को कवि-कर्म की चरम उपलब्धि माना गया। आगे चलकर अँगरेजी साहित्य के इतिहास में यह काव्यात्मक आन्दोलन अपने बिम्ब-सम्बन्धी आग्रह के कारण 'बिम्बवाद' (इमेजिज़्म) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यहाँ यह बताना अप्रासंगिक न होगा कि अँगरेज़ी के अतिरिक्त रूसी भाषा मे भी इस नाम से एक आन्दोलन चला था जिस को परिणति बाद में 'भविष्यवाद' के रूप में हुई। बिम्बवाद का पहला विरोध रोमांटिक कविता की अतिशय कल्पनाशीलता और भावात्मक स्फीति से था। वे कविता में सूक्ष्म और अमूर्त के स्थान पर ठोस और मूर्त को स्थापित करना चाहते थे। टी० ई० हुल्मे ने अपने एक प्रसिद्ध निबन्ध में यह ऐतिहासिक घोषणा की कि 'रोमांटिक कविता की एक पूरी शताब्दी के बाद काव्य के क्षेत्र में पुनः 'क्लैसिक' (अभिजात अथवा कालजयी साहित्य) साहित्य का आगमन होने वाला है और यह कि अगला युग शुष्क (परिपक्व), कठोर और नियन्त्रित कविता का युग होगा।''[१] हुल्मे की यह भविष्यवाणी पूर्णतः सत्य तो नहीं हुई, परन्तु उस के बाद जो काव्य लिखा गया उस में वायवीय कल्पना के स्थान पर मूर्त चित्रण अर्थात् बिम्ब का महत्त्व निरन्तर बढ़ता गया।

बिम्बवादियों की सब से महत्त्वपूर्ण स्थापना यह थी कि काव्य में 'विशेष' की ही अभिव्यक्ति होनी चाहिए, सामान्य की नहीं। बिम्ब का सम्बन्ध कवि के प्रत्यक्ष ऐन्द्रिय बोध से है। ऐन्द्रिय बोध का विषय होता है 'विशेष'—विशेष व्यक्ति, विशेष वस्तु, विशेष स्थान। अतः बिम्ब जब होगा तब 'विशेष' का होगा, 'सामान्य' का कदापि नहीं। इस मान्यता का परिणाम यह हुआ कि कविता के परम्परागत उपमान, जो अपनी विशिष्टता को खोकर सामान्य बन गये थे, धीरे-धीरे छोड़ दिये गये और उन के स्थान पर बौद्धिक आघात देने वाले, परिचित जीवन-क्षेत्र से चुने हुए, नये अप्रस्तुत प्रतिष्ठित किये जाने लगे। १९०८ में बिम्बवादियों का जो प्रथम घोषणापत्र प्रकाशित हुआ था उस में हुल्मे की पहली बिम्बवादी कविता छपी थी, जिस का शीर्षक था 'पतझड़'। इस में विरोधी बिम्बों की एक नयी शैली के द्वारा पतझड़ के चाँद का एक अपेक्षाकृत आधुनिक चित्र प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया था। काव्यात्मक उपलब्धि की दृष्टि से यह कविता बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं मानी जा सकती। परन्तु उपमानों के आधुनिक प्रयोग की दृष्टि से इस कविता का ऐतिहासिक महत्त्व है। इस में पहली बार चाँद की उपमा एक रक्तवर्ण किसान की आकृति से दी गयी थी, और खिले हुए तारों की "उत्सुक, श्वेत नागरिक बच्चों" से। काव्यगत रूढ़ियों के विरोध के साथ-साथ कवि ने इन अपरिचित बिम्बों की कलात्मक योजना के द्वारा एक सर्वथा नये प्रकार की संवेदना को सम्प्रेषित करने का प्रयास किया था। ऐतिहासिक दृष्टि से बिम्बवाद का आरम्भ इसी कविता से माना जाता है।

१. *Speculations*; P. 113.

इसी वर्ष के अन्त में इस दल के एक अन्य सदस्य एडवर्ड स्टोरर ने एक संकलन निकाला जो बिम्बवादी कविताओं का प्रथम प्रतिनिधि संग्रह कहा जा सकता है। इस संकलन में पहली बार एक ऐसी कविता प्रकाशित हुई जिस का शीर्षक था 'बिम्ब'। बिम्ब सम्बन्धी धारणाओं के इतिहास में इस कविता का कोई विशेष योग नहीं है। इस से केवल काव्य के क्षेत्र में 'बिम्ब' शब्द के प्रथम ऐतिहासिक महत्त्व की सूचना मिलती है।

सन् १९१३ में एफ़० एस० फ़्लिंट ने 'बिम्बवाद' शीर्षक से एक आलोचनात्मक टिप्पणी प्रकाशित करवायी जिसकी प्रमुख स्थापनाएँ थीं :[१]

(क) काव्य में वस्तु का प्रत्यक्षग्रहण।

(ख) ऐसे शब्दों का सर्वथा त्याग जो काव्य को अर्थवान् बनाने में योगदान नहीं देते।

(ग) लययोजना में यान्त्रिक पद्धति का त्याग और सांगीतिक नियमों का पालन।

इन में से पहला सिद्धान्त बिम्बवादियों के दर्शन से सम्बन्धित है। वस्तु को वे बहुत-कुछ गणित के नियमों की भाँति पूर्वनिश्चित और स्थिर मानते थे। 'प्रत्यक्षग्रहण' से उन का तात्पर्य था मूर्त अभिव्यक्ति अर्थात् बिम्बनिर्माण। शेष दो स्थापनाओं का सम्बन्ध कविता के 'रूप' (फ़ॉर्म) से था। छन्द, भाषा और अभिव्यक्ति-पद्धति को बदलकर वे वस्तुतः काव्य के रूप-विन्यास में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन लाना चाहते थे।

इसी के आस-पास इस दल के प्रमुख कवि और आलोचक एज़रा पाउंड ने अपना ऐतिहासिक घोषणापत्र प्रकाशित किया जिस में विस्तार-पूर्वक बिम्बवादी सिद्धान्तों की चर्चा थी। घोषणापत्र का सार-संक्षेप इस प्रकार था :

१. काव्य के रूप अथवा रचना-तन्त्र को सर्वोपरि महत्त्व देना।
२. नयी संवेदना के अनुकूल नयी लय-पद्धतियों की खोज।
३. मुक्त छन्द को मानव की मौलिक स्वातन्त्र्य-चेतना के रूप में स्वीकार करने का आग्रह।
४. विषय के निर्वाचन में पूर्ण स्वतन्त्रता।
५. ताज़े और मूर्त बिम्बों का अन्वेषण तथा अमूर्त शब्दों का पूर्ण बहिष्कार।
६. ऐसी कविताओं का निर्माण करना जो 'संक्षिप्त' 'कठोर' और 'स्पष्ट' हों।
७. काव्यगत केन्द्रणशीलता का सिद्धान्त।

संक्षेप में ये बिम्बवादी स्कूल के प्रमुख सिद्धान्त और आदर्श थे। इन में से पहला सिद्धान्त, अर्थात् रचना-तन्त्र को काव्य में सर्वोपरि महत्त्व देना, एक प्रकार से सम्पूर्ण

१. *Imagism (Poetry)*: Vol. I. No. 6 (March, 1913).

आधुनिक अँगरेज़ी कविता का प्रमुख चरित्र-लक्षण (कैरिक्टेरिस्टिक) माना जा सकता है। इस से विषय (कंटेंट) और रूप (फ़ॉर्म) के सम्बन्ध में चलनेवाले परम्परागत विवाद को एक नया निर्णयात्मक मोड़ मिला। दूसरे और तीसरे सिद्धान्त के द्वारा मुक्त छन्द को आधुनिक मानव की मुक्ति-कामना के साथ जोड़ा गया। चौथा सिद्धान्त बिम्बवादियों के लिए कोरा आदर्श था। उन के काव्य की सुनिश्चित और संकीर्ण सीमाओं से इसकी पुष्टि नहीं होती। अन्तिम तीन सिद्धान्त ऐसे हैं जिन का प्रत्येक बिम्बवादी कवि ने दृढ़तापूर्वक पालन किया। 'कठोरता' तथा केन्द्रणशीलता का सिद्धान्त बहुत कुछ रोमांटिक कविता के विरुद्ध उन के तथाकथित क्लैसिकल आदर्श का सिद्धान्त था।

सैद्धान्तिक दृष्टि से बिम्बवादियों की दो उपलब्धियाँ मानी जा सकती हैं। उन्होंने पहली बार काव्य की मूर्तिमत्ता (बिम्ब) पर बल देकर कविता को यथार्थ के जीवित धरातल पर लाने का प्रयास किया। इस से भी महत्त्वपूर्ण उन की देन यह थी कि उन्होंने 'सामान्य' (रोमांटिक कविता की सौन्दर्य और सत्य सम्बन्धी सार्वभौम अनुभूतियों) के विरुद्ध काव्य के क्षेत्र में पुनः 'विशेष' (जीवन और जगत् की देशकाल-बद्ध विशिष्ट अनुभूतियों) के महत्त्व का प्रतिपादन किया। अपने इन आदर्शों की सिद्धि के लिए उन्होंने चीनी कविता से पर्याप्त प्रेरणा ली और कलात्मक संहति तथा संक्षिप्तता की दृष्टि से जापानी कविता की 'हाइकू' शैली को अपना सर्वोच्च आदर्श बनाया। वे यह मानते थे कि आदिम मानव के सहज भाव-चित्रों से विकसित हो कर आज भाषा पूर्णतः अमूर्त हो गयी है और घिसते-घिसते सारे शब्द स्थूल संकेत बनकर रह गये हैं। चीनी भाषा की वर्णमाला में आदिम चित्रात्मकता आज भी सुरक्षित है। चीनी कविता के बिम्बबहुल अथवा चित्रात्मक होने का यही रहस्य है। इस चित्रात्मक सौन्दर्य की उपलब्धि के लिए कवियों को पुनः भाषा की उसी सहज आदिम चित्रात्मक अवस्था की ओर लौटना चाहिए।

बिम्ब के स्वरूप के सम्बन्ध में बिम्बवादियों की दृष्टि अपेक्षाकृत सीमित थी। वे उसे अनिवार्यतः 'दृश्य' मानते थे और उस की चित्रात्मकता पर अधिक बल देते थे। जैसा कि हम आगे देखेंगे, आज की समीक्षा में बिम्ब एक अधिक सूक्ष्म और जटिल शब्द बन गया। अतः बिम्बवादियों का स्थूल चित्रात्मकता का सिद्धान्त आज ग्राह्य नहीं हो सकता। फिर भी, बिम्ब सिद्धान्त के विकास मे उन का जो ऐतिहासिक योगदान है, उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने बिम्बवादी सिद्धान्तों का पर्यालोचन किया था और वे उन की स्थापनाओं से अंशतः प्रभावित भी थे। परन्तु उन के सैद्धान्तिक आग्रहों के कारण उन्होंने भी यह स्वीकार किया कि "इन के सिद्धान्त में सत्य का बहुत-कुछ आधार था, पर वे उसे बहुत दूर तक घसीट ले गये।"[1]

---

१. रस-मीमांसा; पृ० ३२६.

हिन्दी-आलोचना में बिम्बसिद्धान्त का विकास

भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा में 'बिम्ब' शब्द अपेक्षाकृत नया है। पुराने लक्षण-ग्रन्थों में इस शब्द का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। केवल दृष्टान्त अलंकार की चर्चा में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव का उल्लेख मिलता है जिस का आधुनिक कविता के बिम्ब से कोई सम्बन्ध नहीं।[१] वस्तुतः हिन्दी-आलोचना के क्षेत्र में 'बिम्ब' शब्द के प्रथम प्रयोक्ता और व्याख्याता आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ही हैं। उन्होने सर्वप्रथम काव्यगत अमूर्तता का विरोध किया और बिम्बनिर्माण की क्रिया को कवि का मुख्य उद्देश्य बताया :

> "काव्य का काम है कल्पना में बिम्ब अथवा मूर्त भावना उपस्थित करना, बुद्धि के सामने कोई विचार लाना नहीं।"[२]

अब यह विचारणीय है कि हिन्दी-आलोचना के क्षेत्र में 'बिम्ब' शब्द आया कहाँ से ? पहले कहा जा चुका है कि काव्यशास्त्र के पुराने ग्रन्थों में इस शब्द का इस अर्थ में प्रयोग कहीं नहीं मिलता। वस्तुतः बिम्बसिद्धान्त हिन्दी-आलोचना को शुक्ल जो की अपनी देन है। उन से पूर्व बिम्ब को सामान्यतः उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति और समासोक्ति आदि अलंकारों के भीतर ही समझ लिया जाता था। बिम्ब के संश्लिष्ट स्वरूप की व्याख्या करके शुक्ल जी ने ही पहले-पहल उसे शोभाधर्मी अलंकारों से अलगाने का प्रयास किया। चूँकि आलोचना का कोई भी नया सिद्धान्त तत्कालीन कृति-साहित्य से सर्वथा निरपेक्ष नहीं हो सकता, अतः यह कहा जा सकता है कि शुक्ल जी के बिम्ब-सिद्धान्त और छायावादी कविता की चित्रभाषा-पद्धति में कोई गहरा ऐतिहासिक सम्बन्ध है। पर अपने अभिजात साहित्यिक संस्कार के कारण जब वे बिम्बग्रहण की प्रक्रिया पर विचार करने बैठे तो उन के सामने स्वभावतः पहले बाल्मीकि, कालिदास और तुलसी इत्यादि कालजयी कवियों की कृतियाँ आयीं।[3] अपने इसी संस्कार के कारण उन्होंने बिम्ब को संश्लिष्ट रूप में देखा। अतः छायावादी कविता के कल्पना-प्रेरित स्वच्छन्द प्रकृति-चित्रों से उन की इस स्थापना का मेल न बैठ सका। इसीलिए उन्होंने छायावादी कविता की चर्चा में 'बिम्ब' शब्द के प्रयोग से बराबर बचने का प्रयास किया है।

अब प्रश्न यह है कि शुक्ल जी के बिम्बसिद्धान्त का मूलस्रोत क्या है। 'रस-मीमांसा' में संगृहीत उन की पाश्चात्य काव्य-प्रवृत्तियों पर लिखी हुई टिप्पणियों से पता चलता है कि उन्होंने बिम्बवादी-घोषणापत्र का सूक्ष्म अध्ययन किया था और उस की सीमाओं पर भी विचार किया था।[४] बिम्ब की सत्ता की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है :

---

१. चेद्बिम्बप्रतिबिम्बत्वं दृष्टान्तस्तदलंकृतिः; कुवलयानन्द, ५२.

२. रस-मीमांसा; पृ० ३१०.

३. चिन्तामणि, (दूसरा भाग) : 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' शीर्षक निबन्ध।

४. रस-मीमांसा; पृ० ३२६.

"बिम्ब जब होगा तब 'विशेष' का होगा, 'सामान्य' या जाति का नहीं।"[1]

शुक्ल जी का यह विचार बिम्बवादियों के घोषणापत्र की निम्नलिखित स्थापना का समर्थन-सा जान पड़ता है :

"To present an image (hence the name imagist)········We believe that poetry should render particulars exactly and not deal in vague generalities."[2]

विचारों की यह समता आकस्मिक नहीं है। शुक्ल जी की विचार-प्रणाली और साहित्यिक आदर्शों को देखते हुए कहा जा सकता है कि उन्होंने बिम्बवादियों के घोषणा-पत्र का अध्ययन न किया होता तब भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचते। यह उन की सम्पूर्ण चिन्तन-पद्धति की स्वाभाविक परिणति थी। परन्तु इस में संदेह नहीं कि जिस रूप में उन्होंने अपना बिम्ब-सिद्धान्त उपस्थित किया है, उस पर बिम्बवादी घोषणापत्र की स्पष्ट छाप है। इस आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'बिम्ब' शब्द का प्रयोग आचार्य शुक्ल ने पहले-पहल अँगरेज़ी के 'इमेज' शब्द के अनुवाद के रूप में ही किया होगा। जिस प्रकार अँगरेज़ी के अनेक पारिभाषिक शब्दों के लिए उन्होंने हिन्दी में नये पारिभाषिक शब्द गढ़े थे, उसी प्रकार 'इमेज' के लिए 'बिम्ब' शब्द की भी उद्भावना की थी। आज यह शब्द हिन्दी-समीक्षा की शब्दावली का इतना स्वाभाविक अग बन गया है कि उस के मूलस्रोत की ओर ध्यान ही नहीं जाता।

शुक्ल जी के पश्चात् बिम्बसिद्धान्त को आगे बढ़ाने का प्रयास बहुत कम हुआ। उन के ठीक बाद आने वाले आलोचक बिम्ब सम्बन्धी चर्चा से प्रायः विरत रहे। छायावादी कवियों में से कुछ के भीतर बिम्ब के सौन्दर्य पक्ष की पूर्ण चेतना थी। पर तब तक बिम्ब शब्द उतना प्रचलित नहीं हुआ था। अतः 'पल्लव' की भूमिका में पन्त जी ने उस के लिए 'चित्रभाषा' शब्द का प्रयोग किया है :

"कविता के लिए चित्रभाषा की आवश्यकता पड़ती है। उस के शब्द सस्वर होने चाहिए, जो बोलते हों, सेब की तरह जिन की रस-मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पड़े, जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि में आँखों के आगे चित्रित कर सके, जो झंकार में चित्र, चित्र में झंकार हो, जिन का भाव-संगीत विद्युद्धारा की तरह रोम-रोम में प्रवाहित हो सके, जिस का सौरभ सूँघते ही साँसों द्वारा अन्दर पैठकर हृदयाकाश में समा जाये। जापान की द्वीपमालिका की तरह जिस की छोटी-छोटी पंक्तियाँ अपने अन्तस्तल में सुलगी ज्वालामुखी को दबा न सकने के कारण अनन्त श्वासोच्छ्वास के भूकम्प में काँपती रहे।"[3]

---

१. रस-मीमांसा; पृ० ३१०.

२. *The Imagist Movement*—S. K. Coffman; 29.

३ 'पल्लव' (भूमिका); पृ० १७–१८.

पन्त जी का उपर्युक्त कथन हिन्दी-समीक्षा के क्षेत्र में बिम्ब के रचनात्मक स्वरूप—संवेदनाओं का मिश्रण और तीव्र संवेगात्मकता—की व्याख्या का पहला प्रयास है। छायावादी कविता में दृश्य-चित्रों की प्रधानता होने के कारण उन्होंने उसे सीधे-सीधे 'चित्रभाषा' कहना अधिक उचित समझा। पर मूलतः पन्त जी ने 'चित्रभाषा' की आवश्यकता पर बल देकर बिम्ब की अनिवार्यता की ओर ही संकेत किया था।

छायावादी कविता के आलोचकों ने बिम्ब अथवा बिम्बविधान की प्रणाली पर अलग से विचार नहीं किया। यही स्थिति प्रगतिवादी आलोचकों की भी रही। पर पाँचवें दशक की कविता में बिम्ब क्रमशः महत्त्वपूर्ण होता गया। 'तारसप्तक' (१९४३) के एक कवि ने पुरानी कविता के "सहस्मृत और परम्परागत बिम्बों" का विरोध किया और उन के स्थान पर "ऐन्द्रिय और आवेगाश्रित" बिम्बों का काव्यात्मक महत्त्व प्रतिपादित किया।[1] परन्तु बिम्ब की व्यापक चर्चा 'नयी कविता' के आगमन के पश्चात् आरम्भ हुई। 'तीसरा सप्तक' के एक कवि ने घोषित किया कि "प्राचीन काव्य में जो स्थान 'चरित्र' का था, आज की कविता में वही स्थान बिम्ब अथवा 'इमेज' का है।"[2] इस प्रकार नयी समीक्षा में काव्य के अन्य तत्त्वों की अपेक्षा बिम्ब को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा है। छायावादी कवियों के निकट जो स्थान कल्पना का था, आज के कवियों के निकट वही स्थान बिम्ब का हो गया है। यह दोनों युगों की प्रवृत्तियों का मूलभूत अन्तर है। इतना होने पर भी बिम्ब के स्वरूप और परिभाषा के सम्बन्ध में व्यवस्थित रूप से विचार करने का प्रयास बहुत कम हुआ है।

बिम्ब : काव्यालोचन की कसौटी के रूप में

कविता के विकास के साथ-साथ उस के मूल्यांकन के आधार और रसास्वादन की दिशा में भी परिवर्तन होता है। प्रत्येक युग के आलोचक के सामने समसामयिक साहित्य के मूल्यांकन की कुछ ऐसी समस्याएँ होती हैं जो अन्य युगों से सर्वथा भिन्न रूप में उपस्थित होती हैं। परिणामतः आलोचना के सूक्ष्म यन्त्र को थोड़ा और संवेदनशील बनाना पड़ता है। काव्य का लक्ष्य तो वही रहता है—आनन्द प्राप्त करना। परन्तु युग की ऐतिहासिक आवश्यकताओं के अनुसार आनन्द प्राप्त करने की प्रणाली और उस कलात्मक आनन्द की मौलिकता तथा श्रेष्ठता की परीक्षा करनेवाली कसौटी में भी परिवर्तन करना पड़ता है। आधुनिक युग में, आलोचना के मानदण्ड की समस्या को लेकर अनेक विवाद हो चुके हैं। जो आलोचक काव्य को इतिहास के बृहत्तर परिप्रेक्ष्य में रखकर देखने के समर्थक हैं उन के सामने यह मानदण्ड की समस्या उतने विकट रूप में नहीं उपस्थित होती। उन के निकट सभी युगों के साहित्य को परखने के लिए एक सामान्य कसौटी होती है—कालजयी (क्लैसिक) साहित्य की श्रेष्ठतम कृतियाँ।

---

१. 'तार सप्तक'; पृ० ५२.
२, 'तीसरा सप्तक'; पृ० १८३.

इसी वर्ग में वे मानवतावादी आलोचक भी आते हैं जो काव्य के कलात्मक स्वरूप की अपेक्षा, लोकमंगल की भावना अथवा लोक-चेतना को अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं। इन दोनों से भिन्न, आलोचकों का तीसरा वर्ग भी है जो आत्माभिव्यक्ति को काव्य का प्रयोजन बताता है तथा उसी के आधार पर उस की परीक्षा भी करता है। परन्तु इन सब से विलक्षण मान्यता उन शुद्ध कलावादियों की है जो काव्य के मूल्यांकन के लिए किसी भी बाह्य प्रतिमान को स्वीकार नहीं करते। उन के अनुसार काव्यालोचन के सारे प्रतिमान केवल एक सीमा तक ही ग्राहक (पाठक) की सहायता कर पाते हैं। उस के बाद वह कला के स्वतन्त्र लोक में, कृति-सौन्दर्य के रहस्य और जटिलता को समझने के लिए नितान्त अकेला छोड़ दिया जाता है। वैसी स्थिति में वह रचनागत सौन्दर्य को अपने लिए स्वतन्त्र रूप से उपलब्ध करता है, और इस प्रकार एक निष्क्रिय ग्राहक मात्र न रहकर कल्पना के स्तर पर स्वयं कृति की रचना-प्रक्रिया का सहभोगी बन जाता है। इन में से किसी एक मत को काव्यालोचन को एकमात्र कसौटी मानने में कठिनाई हो सकती है। पर सब में कुछ न कुछ सार अवश्य है, इस से इनकार नहीं किया जा सकता।

वस्तुतः सारी कठिनाई इस बात को लेकर है कि काव्यशास्त्र के मूल्यों का सम्बन्ध किस के साथ स्थापित किया जाये : विषयवस्तु के साथ, अथवा 'रूप' (फ़ॉर्म) के साथ। कलात्मक दृष्टि से दोनों में अन्तर करना निरर्थक है। परन्तु मानव-मनोविज्ञान और रसबोध के विविध रूप इतने जटिल और असमान होते हैं कि रसास्वादन का कोई एक बौद्धिक मानदण्ड बनाना कठिन हो जाता है। हम यह मान भी लें कि काव्यमात्र का उद्देश्य प्रत्येक काल में एक ही रहा है। सौन्दर्यबोधात्मक आनन्द (इस्थेटिक प्लेज़र) को उपलब्धि कराना। तो भी यह प्रश्न रह जाता है कि क्या सौन्दर्य के प्रति मानव-मात्र की बौद्धिक प्रतिक्रिया एक-सी होती है ? संवेदना के सब से निचले स्तर पर तो यह एकरूपता सम्भव है, परन्तु उच्चतर स्तरों पर रसबोध का स्वरूप और दिशाएँ अनेक हो जाती हैं। सामान्यतः सौन्दर्यबोधात्मक आनन्द को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है : सन्दर्भ-सापेक्ष आनन्द और सन्दर्भ-निरपेक्ष आनन्द। पहले प्रकार के आनन्द में वृहत्तर मानवीय मूल्यों—जैसे दर्शन, धर्म, समाज, नैतिकता आदि—की चेतना भी घुली-मिली रहती है। परन्तु दूसरे प्रकार का आनन्द काव्य के 'ऐतिहासिक अर्थ (हिस्टॉरिकल मीनिंग) से सर्वथा असम्पृक्त, केवल उस की लय, संगीत, गठन और लालित्य तक ही सीमित होता है। कलात्मक सौन्दर्य के प्रति इस परस्पर-विरोधी प्रतिक्रिया के कारण, आलोचना का यह दायित्व हो जाता है कि वह रसास्वादन के इन दोनों छोरों के बीच कोई ऐसा प्रतिमान ढूँढ़ निकाले जो दोनों स्तरों को एक साथ छू सके। जहाँ तक आधुनिक कविता के मूल्यांकन का प्रश्न है, बिम्बविधान एक ऐसा कलात्मक प्रतिमान हो सकता है जिस का सम्बन्ध सहज ही विषयवस्तु (कंटेंट) और 'रूप' (फ़ॉर्म) दोनों से स्थापित हो जाता है। अभिव्यक्ति-पक्ष का अविच्छेद्य अंग

तथा सम्प्रेषित अनुभूति का मूर्त वाहक होने के कारण, बिम्ब रचना-प्रक्रिया का एक ऐसा केन्द्र-विन्दु होता है जिस में काव्य का आभ्यन्तर और बाह्य दोनों समाहित हो जाते हैं। फिर एक आधुनिक कवि की आधुनिकता और उस की निजी विशिष्टता सब से अधिक उस के बिम्बविधान के द्वारा ही व्यक्त होती है। अतः बिम्ब को केन्द्र बनाकर कृति के आन्तरिक सौन्दर्य और बाह्य सौन्दर्य दोनों की सम्यक् विवेचना की जा सकती है।

अँगरेज़ी-समीक्षा के अन्तर्गत बिम्बविधान की दृष्टि से कांव्य की व्याख्या करने का सर्वप्रथम प्रयास बिम्बवादियों ने किया था। उन के नेता टी० ई० हुल्मे ने बिम्ब-निर्माण को कवि की रचनात्मक प्रतिभा की कसौटी माना। एज़रा पाउंड ने घोषणा की कि कवि के लिए अनेक बड़े-बड़े प्रबन्धकाव्य लिखने की अपेक्षा एक सफल बिम्ब की सृष्टि कर पाना कहीं अधिक गौरव की बात है। बिम्बविधान को आधार बनाकर काव्य का समग्र अध्ययन पहले-पहल अमरीकी विद्वान् हेनरी वेल्स ने प्रस्तुत किया। परन्तु इन सभो आलोचकों ने अधिकतर बिम्ब के स्वरूप को स्पष्ट करने का ही प्रयास किया। उस के निरन्तर बदलते हुए रूप और ऐतिहासिक महत्त्व की ओर किसी का ध्यान नहीं गया। इस दृष्टि से, सर्वप्रथम और सबसे महत्त्वपूर्ण अध्ययन श्रीमती स्पर्जियन ने प्रस्तुत किया। उन्होंने बिम्बविधान के बदलते हुए अभिप्रायों, रूपों, उद्गम-स्रोतों और समसामयिक संकेतों के आधार पर शेक्सपीयर के प्रमुख नाटकों की वैज्ञानिक व्याख्या की और उन के रचयिता के व्यक्तित्व पर नया प्रकाश डाला। एक प्रकार से, बिम्ब-विधान के ऐतिहासिक महत्त्व की ओर आलोचकों और पाठकों की रुचि को आकृष्ट करने का काम श्रीमती स्पर्जियन की पुस्तक ने ही किया। इस प्रकार एक नयी आलोचना-प्रणाली का जन्म हुआ। इस प्रणाली की विशेषताओं को कुछ विस्तार से समझ लेना उचित होगा।

श्रीमती स्पर्जियन आरम्भ से ही बिम्बविधान के सम्बन्ध में कुछ मूलभूत बातें मानकर चली हैं। उन की पहली मान्यता यह है कि कवि बिम्बों का नैसर्गिक रूप से प्रयोग करता है, अर्थात् वे मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उस के अचेतन-मन की विलक्षणता को सूचित करते हैं। इस के आधार पर उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि बिम्बविधान के अध्ययन के द्वारा कवि के व्यक्तित्व की विशिष्टता को उद्घाटित किया जा सकता है। उस की रुचियाँ, उस के सोचने की प्रणाली, उस की स्मृति में आनेवाली वस्तुओं और उस के सम्पूर्ण समसामयिक वातावरण को जाना जा सकता है। यही नहीं, श्रीमती स्पर्जियन के अनुसार इस के आधार पर, उन वस्तुओं का भी पता लगाया जा सकता है जिन्हें न वह देखता है, न कभी याद करता है।[१] अपनी आलोचना-प्रणाली के सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं लिखा है कि मेरा ध्यान बिम्ब के रूप पक्ष की अपेक्षा, उस

१. *Shakespeare's Imagery*; P. 4.

की विषयवस्तु पर अधिक केन्द्रित रहा है। संक्षेप में, उन की व्याख्या-पद्धति की दो विशेषताएँ निर्दिष्ट की जा सकती हैं : (क) बिम्ब के मूलस्रोतों का अध्ययन तथा (ख) उन के माध्यम से कवि के व्यक्तिगत जीवन पर पड़नेवाले प्रकाश की आधिकारिक विवेचना। इस विवेचन के द्वारा लेखिका ने शेक्सपीयर के जीवन के सम्बन्ध में अनेक रोचक तथ्यों का उद्घाटन किया है।

इस आलोचना-पद्धति की सब से बड़ी सीमा यह है कि इस प्रक्रिया के द्वारा पाठक सम्पूर्ण कृति के सौन्दर्य का साक्षात्कार नहीं कर पाता। बिम्बों की वस्तुपरक तालिका गिनाकर आलोचक अपने अथक परिश्रम का प्रमाण दे सकता है। परन्तु वह तालिका पाठक को काव्य के रसतत्त्व तक पहुँचाने में बहुत सहायक नहीं होती। इस पद्धति की एक दूसरी बहुत बड़ी सीमा यह है कि इस से यह भ्रम उत्पन्न होता है कि सभी बिम्ब काव्य की दृष्टि से समान महत्त्व के हैं; फिर प्रत्येक बिम्ब को अपने-आप में स्वतन्त्र मान लेने के कारण उन का सामूहिक व्यक्तित्व भी खण्डित हो जाता है। इसी प्रकार यह धारणा भी भ्रामक है कि इस पद्धति के द्वारा कवि के निजी व्यक्तित्व की विलक्षणताओं की व्याख्या की जा सकती है। वस्तुतः बिम्ब-निर्माण की प्रक्रिया इतनी जटिल होती है कि उस के आधार पर कोई सामान्य निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता।

श्रीमती स्पर्जियन के अतिरिक्त इस दिशा में कार्य करने वाले अन्य आलोचकों में प्रोफ़ेसर क्लेमन, विल्सन नाइट, सी० डे लिविस, आर० ए० फ़ॉक्स और फ़्रैंक करमोडे के नाम प्रमुख हैं। इन में से प्रथम तीन आलोचकों का कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण है। प्रोफ़ेसर क्लेमन खण्डित और वर्गीकृत बिम्बों की अध्ययन-पद्धति को एकांगी और अवैज्ञानिक मानते हैं। उन्होंने अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "एक सन्दर्भ-च्युत बिम्ब, केवल अधूरा बिम्ब है। प्रत्येक बिम्ब और प्रत्येक रूपक अपने सन्दर्भ से ही जीवन और अर्थवत्ता प्राप्त करता है।"[1] प्रोफ़ेसर क्लेमन का यह मत पूर्णतः वैज्ञानिक जान पड़ता है कि बिम्ब को उस के सन्दर्भ की पूर्णता में ही ठीक-ठीक समझा जा सकता है। ताज़गी, तीव्रता और सोयी हुई स्मृतियों को जगाने की शक्ति—बिम्ब की ये तीन मूलभूत विशेषताएँ मानी गयी हैं। पर इन में से किसी विशेषता को उस का तात्त्विक गुण नहीं माना जा सकता। जो विशेषता बिम्ब को एक सफल और पूर्ण बिम्ब बनाती है वह है काव्य की भाववस्तु के साथ उस की घनीभूत एकता। अतः भाववस्तु की सम्बद्धता में ही बिम्बविधान की सही आलोचना की जा सकती है। सी० डे लिविस ने भी अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'द पोएटिक इमेज' (काव्यात्मक बिम्ब) में इसी पद्धति का अवलम्बन किया है। उन के अनुसार बिम्ब और भाववस्तु का कुछ ऐसा पारस्परिक सम्बन्ध होता है कि एक ओर बिम्ब भाववस्तु के मार्ग को प्रकाशित करता चलता है और दूसरी ओर भाववस्तु, जैसे-जैसे कविता आगे बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे बिम्बों के

---

१. *Analysis of Imagery*. 'PMLA' (1942); P. 649.

सामूहिक विकास को नियन्त्रित करती जाती है।"[1] एक सीमा तक विल्सन नाइट ने भी बिम्ब और भाववस्तु के अन्तरावलम्बन को अपनी आलोचना-पद्धति का आधार बनाया है। परन्तु आगे चलकर उन्होंने बिम्बविधान के प्रतीकात्मक स्वरूप की व्याख्या पर अधिक ध्यान दिया है। इन पद्धतियों के अतिरिक्त बिम्ब-समीक्षा की एक मनोवैज्ञानिक प्रणाली भी है जिस का अवलम्बन रॉबिन स्केल्टन ने अपनी नवीनतम पुस्तक में किया है। इस प्रणाली के द्वारा आलोचक बिम्ब के कलात्मक स्वरूप की अपेक्षा उस के मनोवैज्ञानिक स्वरूप को अधिक महत्त्व देता है। फ्रॉएड और युंग के सिद्धान्त-सूत्र इस समीक्षा प्रणाली के मुख्य आधार हैं। परन्तु श्रीमती स्पर्जियन की समीक्षा-प्रणाली की भाँति मनोवैज्ञानिक प्रणाली भी काव्य के कलात्मक सौन्दर्य तक पहुँचने में हमारी विशेष सहायता नहीं करती।

इधर कुछ नये आलोचकों ने इस मत की स्थापना की है कि बिम्ब को अलग-अलग खण्डों में न देखकर, सम्पूर्ण कविता को एक घनीभूत बिम्ब के रूप में देखना चाहिए।[2] इन आलोचकों का सब से बड़ा तर्क यह है कि एक कविता में आये हुए अनेक बिम्ब वस्तुतः एक ही पूर्ण बिम्ब का निर्माण करते हैं। अतः आलोचक का कर्तव्य है कि वह उस पूर्ण बिम्ब को स्पष्ट करे जो अनेक सम-विषम बिम्बों से मिलकर निर्मित होता है। इस में सन्देह नहीं कि इन आलोचकों की साहित्यिक दृष्टि अधिक वस्तुपरक और अधिक वैज्ञानिक है। परन्तु अनेक बिम्बों से मिलकर बनने वाला अन्तिम बिम्ब (फ़ाइनल इमेज) सब के लिए एक ही होगा—इस के सम्बन्ध में कुछ भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। इसलिए आलोचना का यह आधार भी अन्ततः सन्दिग्ध हो उठता है। हिन्दी में बिम्ब-विचार की कोई सुनिश्चित परम्परा अभी तक नहीं बन पायी है। इसलिए इस समस्या पर विचार हुआ ही नहीं। आचार्य शुक्ल ने केवल बिम्बविधान की आवश्यकता पर बल दिया था। अन्य आलोचकों ने बिम्ब का उल्लेख किया भी तो किसी विशेष प्रसंग में। स्वतन्त्र रूप से, बिम्ब को कसौटी बनाकर काव्य को परखने का प्रयास नहीं के बराबर हुआ है।

ऐसा तो नहीं कहा जा सकता कि बिम्ब आधुनिक कविता के मूल्यांकन की एकमात्र कसौटी है। परन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि वह एक प्रकार से सम्पूर्ण आधुनिक कृतित्व का केन्द्रबिन्दु है। अतः उस के आधार पर आधुनिक कविता के विविध पक्षों की विवेचना की जा सकती है। आगे के पृष्ठों में बिम्बविधान के ऐतिहासिक महत्त्व और कला के बदलते हुए मूल्यों के आधार पर आधुनिक हिन्दी कविता के विकास का एक नया मानचित्र प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

●

---

१. *The Poetic Image*; P. 88.

२. *Romantic Image*—Frank Kermode.

अध्याय : २

[क] बिम्ब की परिभाषा

बिम्ब के स्वरूप-निर्धारण के सम्बन्ध में बहुत मतभेद है। कुछ आधुनिक विचारक उस को अरस्तू द्वारा स्थापित 'रूपक' से अभिन्न मानते हैं। इस मत के प्रबल समर्थक अमेरिकी समीक्षक क्लिथ ब्रुक्स हैं जिन्होंने 'रूपक' को काव्य-प्रतिभा की सर्वोत्तम उपलब्धि माना है।[१] एक अन्य विचारक ने 'बिम्ब' शब्द की शास्त्रीय उपयोगिता के सम्बन्ध में शंका प्रकट की है। उन के अनुसार यह शब्द बहुत अस्पष्ट और अनिश्चित है। क्योंकि यह बताना बहुत कठिन है कि काव्य के भीतर कहाँ उस का आरम्भ होता है और कहाँ अन्त ? दूसरे यह कि हमारे पास कोई मापदण्ड ही नहीं है जिस के आधार पर हम निर्णय कर सकें कि बिम्ब क्या है और क्या नहीं है।[२] उन की विशेष आपत्ति इस बात पर है कि बिम्ब शब्द में अतिव्याप्ति दोष है। अपने मूल अर्थ के अनुसार उसे मुख्यतः 'दृश्य' होना चाहिए। परन्तु काव्य में वह प्रायः सभी संवेदनों, और कभी-कभी बौद्धिक उक्तियों के भीतर भी पाया जाता है। बिम्ब का सब से प्रमुख कार्य है एक कल्पित सादृश्य विधान के द्वारा वस्तु और काव्यगत अर्थ को जोड़ना। परन्तु उक्त लेखक के अनुसार काव्यगत अर्थ और बाह्य वस्तु का सम्बन्ध हमारी कल्पना से कहीं अधिक जटिल होता है। अतः केवल एक सादृश्य अथवा उपमा को सामने रख कर उन के आन्तरिक सम्बन्ध को नहीं समझा जा सकता। चित्रकला में यह सम्भव है, क्योंकि वहाँ वस्तु और चित्रित विषय का सम्बन्ध दृश्यता के स्तर पर स्थापित किया जाता है।

उपर्युक्त आलोचना के उत्तर में केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि बिम्ब शब्द आलोचना के क्षेत्र में यद्यपि नया नहीं है—(इमेज शब्द का प्रयोग सिडनी और एडिसन की पुस्तकों में भी मिलता है)—फिर भी इस शब्द से जो अर्थ आज ग्रहण किया जाता है वह उस का नया और परिवर्द्धित अर्थ है। निस्सन्देह उस के मौलिक अर्थ में

---

१. *Literary Criticism : A Short History* (Chapter 32)—Clinth Brooks; P. 749.

२. "Image is a single word, but an image is not a determinate entity. There is no way of deciding precisely where an image begins and where it ends and there is no definitive criterion by which we can say what is an image in poetry and what is not !" *Poetic Process*—George Whalley; 161.

दृश्यता की ध्वनि है। परन्तु आज की समीक्षा में यह शब्द आई० ए० रिचर्ड्स, सर हरबर्ट रीड, और सी० डी० लिविस की नवीन व्याख्याओं के कारण बहुत व्यापक अर्थ का बोधक बन गया है। वह दृश्य, श्रव्य, घ्रातव्य, स्पृश्य, आस्वाद्य और अनुमेय—सब को अपने भीतर समेटे हुए है। आचार्य शुक्ल भी बिम्ब को नितान्त दृश्य मानने के पक्ष में नहीं थे। उन्होंने स्पष्ट कहा है : "काव्य का काम है 'कल्पना' मे बिम्ब या 'मूर्त भावना' उपस्थित करना।[1] अर्थात् बिम्ब आँख का विषय नहीं, कल्पना का विषय है। केवल उस का बोध होना चाहिए। वह सूक्ष्म या स्थूल किसी भी प्रकार का हो सकता है। इसीलिए एक सफल बिम्बात्मक कविता में जो प्रत्यक्ष दिखाई देता है उस से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण वह अमूर्त झलक होती है जो एक ज्योति-रेखा की तरह क्षण-भर के लिए चेतना के धरातल पर खिंच कर तत्काल विलीन हो जाती है। उन अत्याधुनिक पश्चिमी आलोचकों के निकट, जो कविता में ऐतिहासिक (बाह्य) अर्थ को अनात्यन्तिक मानते हैं, इस क्षणिक ज्योति-रेखा में ही उस की सारी सार्थकता होती है। मेरे विचार से, बिम्ब शब्द की अस्पष्टता को अंशतः स्वीकार करते हुए भी, आज की समीक्षा में उस की शास्त्रीय उपयोगिता से इनकार नहीं किया जा सकता। रही उस के स्वरूप-निर्णय के लिए मापदण्ड की बात, उस के सम्बन्ध में हम यही कह सकते हैं कि ऐन्द्रियता बिम्ब की प्रथम और अन्तिम कसौटी है। इस कसौटी के आधार पर वह सब कुछ जिस का हमें किसी इन्द्रिय के द्वारा प्रत्यक्षीकरण होता है, बिम्ब कहला सकता है।

ऐन्द्रियता बिम्ब का प्रथम गुण है। हम न हवा का निर्माण करते हैं, न फूल का, न अन्न का और न धरती का। हम केवल उस बिम्ब का निर्माण करते हैं जो हमें इन सभी वस्तुओं के सम्बन्ध से प्राप्त होता है। अतः वह व्यक्ति जिस की संवेदनाएँ कुण्ठित या निस्पन्द हो गयी हैं, कभी भी एक सफल बिम्ब को जन्म नहीं दे सकता। जिस कवि का, जीवन और जगत् के बृहत्तर यथार्थ से जितना गहरा रागात्मक सम्बन्ध होगा, वह उतने ही सफल बिम्बों का निर्माण कर सकेगा। इस सम्बन्ध की गाढ़ता के साथ सम्पन्न स्मृतिकोश और कल्पना-शक्ति की उर्वरता भी आवश्यक होती है। बिम्ब वास्तविकता के विभिन्न स्तरों तक पहुँचने का एक नितान्त व्यक्तिगत और आत्मपरक मार्ग है। वह वस्तु की अनुकृति नहीं, उस के समानान्तर एक नयी और अभूतपूर्व कृति है। कवि की मौलिकता के दर्शन केवल शैली और शिल्प में ही नहीं होते। उसकी मौलिकता वस्तु-जगत् के प्रति उस की भावात्मक प्रतिक्रिया में होती है, जिस के द्वारा वह धीरे-धीरे सम्पूर्ण यथार्थ के प्रति अपना एक विशेष दृष्टिकोण बनाता है। उस की भावात्मक प्रतिक्रिया और उस के दृष्टिकोण का यह वैशिष्ट्य सब से अधिक उस के बिम्बों में ही व्यक्त होता है। वह वस्तु को अलग-अलग खण्डों में नहीं देखता, बल्कि एक सम्पूर्ण बिम्बात्मक संघटन के रूप में देखता है। इस

१. चिन्तामणि; पृ० २२८.

सम्बन्ध-योजना के द्वारा वह प्रमाणित करना चाहता है कि वस्तुजगत् के भीतर भी एक अधिक गहरा और स्थायी संघटन है अवश्य।

परन्तु यथार्थ को एक निश्चित ढाँचे या सम्बन्ध-योजना के रूप में देखने का यह तात्पर्य नहीं कि उस के बिम्बों के क्रम में कोई कार्य-कारण सम्बन्ध होता है, या कि वह जीवन और जगत् के व्यापारों में कोई तार्किक संगति ढूँढ़ निकालता है। यह काम तो इतिहासकार अथवा ज्योतिषी का होता है। ग्रहयोग और पृथ्वी की गति की माप कविता नहीं करती। उस का सम्बन्ध ग्रहों के फेर से कहीं अधिक मनुष्यता के भाग्य में होने वाले उन अदृश्य परिवर्तनों से होता है जिन्हें तर्क अथवा गणित के द्वारा नहीं जाना जा सकता। उस के बिम्बविधान में विचारों की-सी तरतमता या संगति नहीं होती। उस की सूक्ष्म आन्तरिक सम्बन्ध योजना को, चाहें तो एक प्रकार के 'संवेगात्मक तर्क' (इमोशनल-लॉजिक) की संज्ञा दे सकते हैं।

बिम्ब कभी-कभी एकान्त और स्वतः पूर्ण नहीं होता। उस के साथ, व्यक्त या अव्यक्त रूप से, एक पूरा परिवेश होता है। उस सन्दर्भ के धुँधले, बारीक और जीवन्त सूत्रों से उस का कलेवर बुना होता है। केवल 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' कहने से बिम्बनिर्माण की पूरी प्रक्रिया समाप्त नहीं हो जाती। उस के बाद यह बताना भी आवश्यक है—

> जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।
>   सरस तामरस गर्भ विभा पर,
>   नाच रही तरु-शिखा मनोहर,
> छिटका जीवन-हरियाली पर मंगल-कुंकुम सारा।

इस सम्पूर्ण सन्दर्भ के साथ 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' की आवृत्ति से एक नया अर्थ-सौन्दर्य उद्‌घाटित होता है। ध्यान से पढ़ने पर इस छन्द में रंगों की एक सांगीतिक योजना (कलर-सिम्फ़नी)-सी दीख पड़ेगी। सन्ध्या का नील-गुलाबी निस्सहाय क्षितिज, रक्त कमल के प्रस्फुटित कोश की मद्यः आभा, उस पर अधझुकी टहनी की काँपती हुई परछाईं, और उस के आसपास दूर्वादल की गाढ़ी हरियाली पर बिखरी हुई मांगलिक अनुष्ठान की रोली। इतने गहन और मिश्रित वर्णात्मक अनुषंगों (कलर ऐसोसियेशन्स) के बीच 'अरुण' शब्द केवल लाक्षणिक चमत्कार की सृष्टि ही नहीं करता, बल्कि एक आकस्मिक झटके के साथ हमारे उपचेतन में सोये हुए बचपन से लेकर अब तक के लाल रंग-सम्बन्धी समस्त अनुषंगों को उद्‌बुद्ध कर देता है। हम उस के द्वारा एक ही साथ सूर्योदय की लाली, पर्वतों का प्रगाढ़ प्रातःसौन्दर्य, पर्व और उत्सव के अवसर पर पहने जानेवाले लाल-पीले वस्त्रों की सुषमा, तथा जंगलों-घाटियों और उद्यानों में देखे हुए सैकड़ों हलके-गहरे लाल रंगों का प्रत्यक्षीकरण कर लेते हैं। जाने-अनजाने हमारी प्रत्येक अनुभूति का कोई न कोई रंग होता है। 'एक रंग' कहना सम्भवतः ठीक न हो। क्योंकि वस्तुतः प्रत्येक अनुभूति बहुत से सम-विषम, घुले-मिले

रंगों से बुनी होती है। कवि इन रंगों की आनुपातिक योजना के द्वारा भावों की गहराई, तनाव और विस्तार का बोध कराता है।

इसी प्रकार गन्ध, स्पर्श और स्वाद आदि का भी बिम्बविधान के निर्माण में बहुत बड़ा योग होता है। काव्य में प्रयुक्त होनेवाले अधिकांश बिम्बों का आकलन इन्हीं संवेदनों के भीतर से होता है। इन के पारस्परिक सम्बन्धों और अलग-अलग विशेषताओं पर हम आगे विचार करेंगे।

उपर्युक्त व्याख्या का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक बिम्ब का एक सम्पूर्ण साँचा या संघटन होता है। कभी-कभी अकेला बिम्ब भी अपने-आप में एक पूरा साँचा हो सकता हैं, जैसा छोटी जापानी कविताओं और विशेषतः 'हाइकू' में होता है। वहाँ एक ताल, एक वृक्ष, एक मेढक—अनुभूति के पूरे वेग के साथ आने पर इन में से कोई भी एक सम्पूर्ण बिम्ब-संघटन हो सकता है—

ताल पुराना
मेंढक उछला एक
छपाक् !

पुराना ताल काल के निरवधि निस्पन्द विस्तार का प्रतीक है, जिस में मेंढक की क्षणिक उछाल से एक त्वरित गति-चित्र और आकस्मिक जल-संगीत की सृष्टि होती है। कथ्य और अभिव्यक्ति, दोनों ही दृष्टियों से यह एक पूर्ण चित्र है। वस्तुतः बिम्ब की पूर्णता कार्यकारण-शृंखला या तारतमिक संगति में नहीं होती। उस की पूर्णता उस के तात्कालिक सन्दर्भ में होती है, जो अपने भीतर एक सम्पूर्ण कथानक लिये होता है। मान लीजिए कोई कहे : "समुद्र की लहरों में सूर्य डूब रहा है।" इस कथन से एक सौन्दर्य-चित्र सामने अवश्य आ जायेगा। पर काव्यात्मक उद्देश्य के लिए उतना ही काफ़ी नहीं है। इस कथन की सार्थकता तब होगी जब यह एक नाटकीय परिवेश के साथ आये। आवश्यक नहीं कि यह नाटकीय परिवेश किसी कथानक का ही अंग हो। यहाँ परिवेश का तात्पर्य अनुभूति के बाह्य आधार से है। प्राचीन समीक्षा की भाषा में इसे काव्य का विभाव पक्ष कह सकते हैं। जिस प्रकार विभाव की अनुपस्थिति में भाव की कोई सत्ता नहीं होती उसी प्रकार बाह्य सन्दर्भ अथवा परिवेशगत सम्पर्क के अभाव में बिम्ब भी निष्प्राण और निष्प्रयोजन हो जाता है। इस आवश्यकता को न समझ सकने के कारण कुछ अत्याधुनिक कवियों का बिम्बविधान प्रायः अधूरा और अशक्त रह गया है।

अब हम बिम्ब की परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं :

"बिम्ब वह शब्दचित्र है जो कल्पना के द्वारा ऐन्द्रिय अनुभवों के आधार पर निर्मित होता है।"

इस परिभाषा में तीन बातें ध्यान देने योग्य हैं। पहली यह कि बिम्ब एक प्रकार का शब्दचित्र है; दूसरी यह कि उस का निर्माण कल्पना के द्वारा होता है; और अन्तिम यह कि उस के निर्माण के लिए ऐन्द्रिय अनुभव के आधार का होना अत्यन्त

आवश्यक है। अर्थात् बिना गाढ़ वस्तुगत परिचय के, केवल अन्तर्दृष्टि अथवा प्रातिभज्ञान के स्तर पर, बिम्ब का निर्माण नहीं हो सकता। काव्य को शुद्ध ज्ञान अथवा बोध स्वरूप मानने वाले अभिव्यंजनावादी क्रोचे ने भी अभिव्यक्ति से पूर्व भावों या मनोविकारों की सत्ता अनिवार्यतः स्वीकार की है।[१]

अब प्रश्न है कि क्या ऐन्द्रिय शब्दचित्र की योजना कर देने से ही बिम्बविधान की प्रक्रिया समाप्त हो जाती है। इस का उत्तर स्पष्टतः 'नहीं' होगा। क्योंकि कभी-कभी पत्रकार भी किसी समाचार को ऐसी संवेदनात्मक तीव्रता के साथ प्रस्तुत करते हैं कि उस में एक प्रकार की चित्रात्मकता समाविष्ट हो जाती है। परन्तु काव्यात्मक बिम्ब से उस का अन्तर यह है कि उस में कोई सूक्ष्म आन्तरिक सम्बन्ध-योजना नहीं होती। यह सम्बन्ध योजना व्यक्ति-मन की तात्कालिक प्रतिक्रिया से नहीं आती। इस के पीछे उस के अन्तःकरण में निहित दीर्घकालिक 'वासना' और संवेगों की परम्परा होती है। इसीलिए कोई बिम्ब केवल एक क्षण अथवा एक घंटे की सृष्टि नहीं होता। वह लम्बे आत्मसंघर्ष और भावात्मक परिपक्वता की ही परिणति होता है। बिम्बसौन्दर्य के प्रसिद्ध मर्मज्ञ कोलरिज ने भी बिम्बों के लिए 'वासना' तथा संवेग का संस्पर्श आवश्यक माना है।[२]

आधुनिक कविता ने बिम्बों के स्वरूप और क्षेत्रों में बहुत से परिवर्तन किये हैं। स्वच्छन्दतावादी कविता में तो वह प्रायः काव्यगत विशेषणों से अभिन्न था। पर आज की कविता में वह केवल लाक्षणिक वक्रता-सूचक विशेषण न होकर अनेकानेक रूपों में विभक्त हो गया है। कुछ समीक्षक उसे 'सौन्दर्य का चिद् कण', 'विराट् काल का एक जीवित अंश' अथवा 'भाव तथा चिन्तन की एक जटिल रूपयोजना' मानने लगे हैं। आवश्यक नहीं कि वह काव्य का शोभावर्द्धक विशेषण होकर ही आये। वह एक तीव्र अनुभूति, एक कटु अनुभव, एक शून्य मनःस्थिति अथवा एक बौद्धिक संकेत—कुछ भी हो सकता है। प्रसिद्ध बिम्बवादी कवि एज़रा पाउंड ने बिम्ब की परिभाषा इस प्रकार दी है :

> "बिम्ब वह है जो काल की तात्कालिकता में बौद्धिक और भावात्मक संसृष्टि को उपस्थित करता है।"[3]

दार्शनिक पदावली में इस कथन की परिभाषा करना चाहें तो कह सकते है कि बिम्ब व्यक्ति-चेतना के धरातल पर एक प्रकार का जीवित कालबोध है। जब हम 'देश'

---

१. Matter is emotivity not aesthetically elaborated, i. e. impression. Form is elaboration and expression.......Sentiments of impressions pass by means of words from the obscure region of the soul into the clarity of the cor templative spirit." *Aesthetic*—Benedetto Croce.

२. "Images, however beautiful, do not of themselves characterise the poet They become proof of original genius only as far as they are modified by a predominant passion."—*Coleridge on Imagintion*, 35.

३. *Imagism*—S. K. Coffman (Jr); 9.

से कुछ देर के लिए कटकर या ऊपर उठकर समस्त इन्द्रियों और मन के द्वारा 'काल' को अनुभव करने का प्रयास करते हैं तो उस मानसिक प्रक्रिया के भीतर से बिम्बों की सृष्टि होती है। हम सम्पूर्ण 'काल' को अपने अनुभव का विषय नहीं बना सकते, वह केवल कुछ क्षणों और सीमाओं में ही अनुभूत हो सकता है।

सामान्यत: आधुनिक समीक्षा में काव्यात्मक बिम्ब के सम्बन्ध में जो व्याख्याएँ दी जाती हैं उन के आधार पर हम उसे इतने रूपों में देख सकते हैं :

(क) बिम्ब एक प्रकार का शब्दचित्र है।[१]

(ख) बिम्ब वस्तुओं के आन्तरिक सादृश्य का प्रत्यक्षीकरण है।[२]

(ग) बिम्ब ऐन्द्रिय माध्यम के द्वारा आध्यात्मिक अथवा तार्किक सत्यों तक पहुँचने का एक मार्ग है।

(घ) बिम्ब एक अमूर्त विचार अथवा 'भावना' की पुनर्रचना है।[४]

(ङ) बिम्ब दो विरोधी संवेदनाओं अथवा अनुभूतियों का आन्तरिक तनाव (टेन्शन) है।[५]

इन में से किसी एक व्याख्या को पूर्ण नहीं माना जा सकता। पर सब में बिम्ब के किसी न किसी पक्ष को समझने का प्रयास अवश्य है। पहली व्याख्या ऐसी है जिस का कोई विरोध नहीं हो सकता। दूसरी व्याख्या से इस बात पर प्रकाश पड़ता है कि बिम्ब औपम्यविधान का ही एक अंग है। यह बात अंशतः ही सत्य कही जा सकती है। क्योंकि बिम्बविधान में केवल सादृश्य की ही योजना नहीं होती; कभी-कभी नितान्त अभिधात्मक वक्तव्य (स्टेटमेंट) भी बिम्ब बन जाता है। तीसरी व्याख्या आज के अधिकांश विचारकों के लिए अमान्य होगी। बिम्ब के माध्यम से अमूर्त भावसत्यों तक पहुँचने की बात तो समझ में आ सकती है; परन्तु तार्किक सत्यों तक पहुँचनेवाली बात कविता की मूल प्रकृति के विरुद्ध पड़ती है। हम क्रिस्टॉफ़र कॉडवेल के मत का पहले उल्लेख कर चुके हैं कि कविता अतार्किक होती है। यदि यह मान भी लिया जाये कि कविता और ज्ञान (तर्क) का गन्तव्य एक ही होता है तब भी यह प्रश्न विचारणीय रह जाता है कि क्या एक जटिल अनुभूति-प्रेरित बिम्ब से प्राप्त आनन्द की तुलना तार्किक सत्य से की जा सकती है ? मेरी दृष्टि में यह काव्य की समस्त रचनाप्रक्रिया और उस के मौलिक सृजन के सत्य को अस्वीकार करने के समान है। चौथी व्याख्या में बिम्ब के एक विशेष पक्ष की ओर संकेत है—वह एक मानसिक 'विचार' का प्रत्यक्ष रूपान्तरण होता है। उस के लिए केवल ऐन्द्रिय अनुभव और संवेगात्मकता का होना

---

१. *The Poetic Image*—C. Day Lewis; 19.
२. *Speculations*—T. E. Hulme; 281.
३. *Problems of Art*—Susanne K. Langer; 132.
४. *Poetic Process*—George Whalley; 145.
५. *Selected Essays*—Allen Tate; 83.

ही आवश्यक नहीं है। उस का कोई न कोई परिपक्व वैचारिक आधार भी होना चाहिए। पाँचवें सूत्र का सम्बन्ध उस आधुनिक काव्य से है जिसे 'प्रयोगवादी' अथवा 'नयी' कविता कहते है। इस युग की कविता की बिम्बयोजना में सादृश्य की अपेक्षा विरोधमूलक पद्धतियों का आग्रह अधिक है। 'कमल' है तो उस के निकट शैवाल अथवा शंख ही होना चाहिए, इस तर्क को इस वर्ग के कवि नहीं मानते। वे उस के ठीक पार्श्व में एक 'रिक्त पड़े घोंघे' या 'राख रंग की हड्डी' को भी योजना कर सकते हैं। वे इस पद्धति के द्वारा मानवजीवन को संचालित करने वाले वस्तुजगत् के उस अतार्किक अन्तर्विरोध की अभिव्यक्ति करना चाहते है जिसे दर्शन अथवा विज्ञान नहीं समझा पाता।

कहा जा चुका है कि बिम्ब मूर्त होता है और उस का ग्रहण प्रत्यक्षीकरण के धरातल पर होता है। परन्तु कभी-कभी ऐसे प्रसंग भी आ जाते हैं जहाँ कोई पंक्ति किसी स्पष्ट मूर्त्ति का बोध नहीं कराती, पर वह एक सामान्य तटस्थ कथन से 'कुछ अधिक' होती है। उदाहरण के लिए 'कामायनी' के चिन्ता सर्ग में मनु का यह कथन :

> चिन्ता करता हूँ मैं जितनी
> उस अतीत की, उस सुख की।
> बनती जाती हैं अनन्त में
> उतनी रेखाएँ दुःख की।

अनन्त में बनती हुई दुःख की रेखाओं का कोई बिम्ब हमारे सामने नहीं खड़ा होता। रेखाओं के बनते जाने की एक धुँधली-सी अग्राह्य झलक-भर हमें मिलती है। बल्कि झलक भी नहीं मिलती, झलक-सी मिलने का एक अस्पष्ट बोध-भर हमें होता है। काव्यात्मक दृष्टि से तो 'अनन्त में दुःख की रेखाओं का बनना' बिलकुल स्वाभाविक प्रतीत होता है। परन्तु भौतिक स्तर पर इस चित्र का कोई साधारणीकरण नहीं होता। फिर प्रश्न उठता है कि इन पंक्तियों में बिम्ब की स्थिति मानी जाये अथवा नहीं? मेरे विचार से इन पंक्तियों के द्वारा एक विशेष प्रकार के बिम्ब की सृष्टि होती है जिसे प्रभाव की दृष्टि से हम 'संवेदनात्मक बिम्ब' कह सकते हैं। उस का ग्रहण एक सूक्ष्म संवेदना के स्तर पर होता है जिस में दृश्यता की अपेक्षा एक अस्पष्ट-से घुले-मिले ऐन्द्रिय-बोध की मात्रा अधिक होती है।

इस विवेचन के सन्दर्भ में देखें तो बिम्ब की परिभाषा जो पहले दी गयी थी वह अपूर्ण जान पड़ेगी। वह 'एक शब्दचित्र है', एक 'विचार अथवा भावना की पुनर्रचना है'—केवल इतना मान लेने से ऊपर की पंक्तियों में बिम्ब की स्थिति की बात नहीं स्पष्ट होती। अतः हमें बिम्ब-निर्णय के लिए एक अधिक व्यापक और वैज्ञानिक परिभाषा की खोज करनी होगी। कोलरिज के कल्पना-सिद्धान्त पर विचार करते हुए आई० ए० रिचर्ड्स ने बिम्ब का जो स्वरूप स्थिर किया है वह इस दृष्टि से अधिक विचारणीय है :

"बिम्ब एक दृश्यचित्र, संवेदना की एक अनुकृति, एक विचार, एक मानसिक घटना, एक अलंकार, अथवा दो भिन्न अनुभूतियों के तनाव से बनी एक भाव-स्थिति—कुछ भी हो सकता है।"

अर्थात् वह एक ओर स्पष्ट और स्थूल रूप से दृश्य, और दूसरी ओर नितान्त गहन और अमूर्त भी हो सकता है। पूरे संवेग और 'वासना' (पैशन) के साथ रखा हुआ एक सीधा-सादा 'विचार' (आइडिया) भी बिम्ब हो सकता है। अपेक्षित केवल इतना है कि उस कविता का ग्रहण इन्द्रियों द्वारा सम्भव हो। इस व्याख्या के आधार पर हम बिम्ब के स्वरूप की तीन स्थितियाँ मान सकते हैं। अपनी प्राथमिक अवस्था में वह किसी बाह्य वस्तु की स्पष्ट छाया होता है। द्वितीय अवस्था में वह किसी पदार्थ की सीधी छाया नहीं होता, बल्कि उस की छाया की छाया होता है। तृतीय अवस्था में हम इसी छाया-श्रृंखला को कुछ और आगे बढ़ा सकते हैं। जब बिम्ब अपने ग्राह्य रूप को छोड़कर अत्यन्त सूक्ष्म और दुर्बोध हो जाता है तो वह तृतीय अवस्था में पहुँच जाता है, अर्थात् यह प्रायः संकेत अथवा प्रतीक बन जाता है। इन अवस्थाओं के पारस्परिक सम्बन्धों की कल्पना हम आमने-सामने रखे दो भिन्न दर्पणों से कर सकते हैं, जिन के मध्य में कोई अन्य पदार्थ रखा हुआ हो। ऐसी दशा में केवल वह पदार्थ ही प्रतिबिम्बित नहीं होगा, बल्कि दोनों दर्पणों में पड़नेवाली उस की छायाएँ भी एक-दूसरे में प्रतिबिम्बित होंगी। बिम्बविधान में इसीलिए बिम्बों के क्रम तथा उन की पारस्परिक स्थिति का बड़ा महत्त्व होता है।

ऊपर दी हुई परिभाषाओं में हो सकता है बिम्ब का कोई अदृश्य पक्ष छूट गया हो। पर रिचर्ड्स की परिभाषा में प्रायः उस के समस्त स्तरों और भेदों को समेट लेने का प्रयास है। वस्तुतः बिम्ब इतना गहन और जटिल शब्द है कि उस के सम्बन्ध में कोई सामान्य लक्षण निर्धारित करना बड़ा कठिन है। उस की उपयोगिता इस बात में है कि वह भाव को ग्राह्य और सम्प्रेष्य बनाये। उस की सब से बड़ी सफलता काव्य की मौलिक अनुभूति को क्रमशः तीव्र से तीव्रतर करने में है। यदि वह उसे तीव्र करने के बजाय अलंकृत और बोझिल करता है तो वह उस कविता का स्वाभाविक गुण कभी नहीं हो सकता। वह केवल किसी अनुभूति को प्रतिबिम्बित ही नहीं करता, उसे एक नये स्तर पर पुनर्निर्मित भी करता है। वह विचारों और भावों का वहन ही नहीं करता, बल्कि उन विचारों और भावों के पीछे की सम्पूर्ण उलझनों और संघर्षों की भी सूचना देता है। हम कह सकते हैं कि एक सफल बिम्ब एक पूर्ण परिपक्व विचार की अपेक्षा उस की प्राक्परिपक्वावस्था के घात-प्रतिघातों, अन्तर्विरोधों और विकल्पों को अधिक गहराई से प्रतिबिम्बित करता है।

बिम्ब का दूसरा और कला की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है भाषा को संक्षिप्त, केन्द्रित और संगठित करना। भाषा को केन्द्रित करने के साथ-साथ वह काव्य-

---

१. *Coleridge on Imagination*; P. 34

गत अनुषंगों को भी केन्द्रित करता है। शब्द की उपेक्षा बिम्ब अधिक सन्दर्भ-सापेक्ष होता है, क्योंकि वह यथार्थ का एक सार्थक टुकड़ा होता है। वह अपनी ध्वनियों और संकेतों से भाषा को अधिक संवेदनशील और पारदर्शी बनाता है। उस का आधार कोशगत शब्द नहीं होता, सम्पूर्ण विस्तृत जीवन और इतिहास होता है। वह अभिधा की अपेक्षा लक्षणा और व्यंजना पर आधारित होता है।

बिम्ब और प्रतीक

बिम्ब का सब से निकटवर्ती शब्द प्रतीक है। प्रायः विचारकों ने दोनों के पारस्परिक स्वरूप को समझने में एक बहुत बड़े तथ्य की उपेक्षा की है कि वस्तुतः दोनों में उतना बड़ा अन्तर नहीं है जितना समझा जाता है। प्रत्येक प्रतीक अपने मूल में बिम्ब होता है और उस मौलिक रूप से क्रमशः विकसित होकर प्रतीक बन जाता है। उसी प्रकार प्रत्येक बिम्ब अपने प्रभाव में चाहे जितना ऐन्द्रिय और संवेगात्मक हो, पर अन्ततः उस की परिणति किसी प्रतीकात्मक अर्थ की व्यंजना में ही होती है। प्रतीकात्मक ध्वन्यात्मकता से हीन बिम्ब काव्य के शोभा-धर्म को क्षीण करनेवाला होता है। प्रतीक तीन प्रकार के होते हैं। प्रथम कोटि परम्परागत प्रतीकों की है जिन का प्रयोग प्रत्येक युग का कवि अपनी आवश्यकताओं के अनुसार करता है। द्वितीय कोटि वैयक्तिक प्रतीकों की है जिन की रचना कवि के विशिष्ट मानसिक गठन, संस्कार और अनुभूति की ऐकान्तिकता पर निर्भर करती है। तृतीय कोटि प्राकृतिक प्रतीकों की है जिन का प्रयोग प्रत्येक युग का कवि एक नये दृष्टिकोण से करता है। सभी प्रकार के प्रतीक विशेषोन्मुख होते हैं। वे किसी अमूर्त भाव अथवा विचार की उपमा अथवा सादृश्य बनकर नहीं आते। यहीं पर काव्यगत प्रतीक और गणित के प्रतीकों में अन्तर भी कर लेना चाहिए। कॉडवेल ने जब कहा था कि कविता को 'अप्रतीकात्मक' होना चाहिए तो उस की दृष्टि में निश्चित रूप से बीजगणित के ही प्रतीक थे। बीजगणित का प्रतीक एक कल्पित चिह्नमात्र होता है जिस के पीछे कोई भावना या अनुभूति नहीं होती। वह तार्किक सत्य का प्रतिनिधि होता है। परन्तु काव्यगत प्रतीक किसी विशेष मनोदशा, अन्तर्दृष्टि और रहस्य-चिन्तन की प्रतिकृति होता है। उस में एक विशेष संकेत के साथ-साथ अर्थगत निश्चिन्तता भी होती है। परन्तु उस के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह बीजगणित के प्रतीकों के समान बुद्धिगम्य और तर्कसंगत भी हो।

'मानव सृजनात्मक शक्ति का प्रतीक है'—इस वाक्य को सुन कर हमारे सामने कोई मानव मूर्ति नहीं खड़ी होती। हम 'मानव' के माध्यम से उस अदृश्य शक्ति को अनुभव करते हैं जो 'सृजनात्मक' है। सृजनात्मक शक्ति क्या है, हम नहीं जानते। हम ने कभी उसे देखा नहीं। हम उस के आकार से सर्वथा अपरिचित हैं। पर जब हम किसी से सुनते हैं कि 'मानव सृजनात्मक शक्ति का प्रतीक है', तो यद्यपि हमारे सामने उस का कोई स्पष्ट रूप नहीं आता फिर भी उस शक्ति को हम बहुत दूर तक

अपने भीतर अनुभव कर लेते हैं। ध्यान से देखने पर ज्ञात होगा कि उपर्युक्त वाक्य में 'मानव' शब्द का अर्थ गौण है, प्रधान वह अदृश्य 'सृजनात्मक शक्ति' है जिस की व्यंजना 'मानव' की स्थूल सत्ता के द्वारा हो रही है। तात्पर्य यह कि प्रतीक स्वयं गौण होता है, मुख्यता उस 'दिशा' की होती है जिधर वह संकेत करता है। यहीं उस का बिम्ब से सब से मौलिक अन्तर होता है। बिम्ब उठी हुई उँगली की तरह किसी एक ही दिशा में सदैव इंगित नहीं करता। वह एक साथ कई स्तरों पर और कई दिशाओं में इंगित करता है। परन्तु प्रतीक की तरह उस को निज की सत्ता उस संकेत में विलीन नहीं हो जाती, बल्कि अर्थ की प्रतिध्वनि समाप्त हो जाने के बाद भी वह बहुत देर तक हमें अभिभूत किये रहता है। शास्त्रीय पदावली में कहें तो प्रतीक व्यंग्यात्मक होता है और बिम्ब लाक्षणिक। बिम्ब प्रकृति से ही संश्लिष्ट होता है। अतः उस का ग्रहण भी प्रतीक के विपरीत संश्लिष्ट रूप में होता है। प्रत्येक पाठक उस के निकट अपने व्यक्तिगत अनुभव मार्ग से हो कर पहुँचता है। इस दृष्टि से बिम्ब प्रतीक की अपेक्षा अधिक स्वच्छन्द और अनेकार्थव्यंजक होता है। एक प्रसिद्ध अँगरेज समीक्षक के अनुसार 'प्रतीक' में अंकों की-सी निश्चितता होती है और जैसे '१' कहने से केवल एक संख्या का बोध होता है, दो अथवा पाँच का नहीं, वैसे ही एक प्रतीक भी अनिवार्य रूप से केवल उसी भाव अथवा विचार का प्रतिनिधित्व करता है जिस के लिए वह लाया गया होता है।[१] अतः दोनों की रचना-प्रक्रिया में भी अन्तर होता है। प्रतीक अपेक्षाकृत चेतन मन की सृष्टि होता है या, अधिक से अधिक कह सकते हैं कि, वह उपचेतन के ऊपरी स्तर की सृष्टि हो सकता है। बिम्बविधान का स्रोत मुख्यतः 'उपचेतन मन' है जो व्यापकता की दृष्टि से शेष दोनों स्तरों से अधिक महत्त्वपूर्ण होता है।

प्रतीक का एक पक्ष बराबर परम्पराजीवी और समाज-स्वीकृति-सापेक्ष होता है। कोई भी नया प्रतीक अपने अभीप्सित अर्थ की प्राप्ति के लिए एक ऐतिहासिक प्रवाह की अपेक्षा रखता है। वह निरन्तर प्रयुक्त होते-होते ही नियत अर्थ और निश्चित आकार ग्रहण करता है। इस के विपरीत बिम्ब प्रायः आकस्मिक होते हैं। उन का जीवन प्रवाह-जीवन नहीं होता। वे समय के सब से छोटे और अत्यन्त निजी अंश को बाँधने का प्रयास करते हैं। कुछ आलोचकों ने आज की कविता की बिम्ब-बहुलता को अस्तित्ववादी विचारों, और विशेषतः गार्ड और सार्त्र की कुछ स्थापनाओं का प्रभाव माना है। यह बात केवल अंशतः ही ठीक मानी जा सकती है। क्योंकि अस्तित्ववाद 'वस्तु' को ऐन्द्रिय चेतना से सर्वथा मुक्त और स्वतन्त्र मानता है। एक अस्तित्ववादी के निकट समय का केवल वह अंश महत्त्वपूर्ण होता है जो अनुभूतियों के धरातल पर उस के लिए सब से अधिक 'अस्तित्ववान्' होता है। दो विषम परिस्थितियों के बीच पड़ने वाला नियति का वह एक क्षण जो व्यक्ति को 'इस' या 'उस' में से किसी एक को चुन लेने का अतर्कित अवसर देता है, अस्तित्ववादियों के निकट एकमात्र सत्य होता

१. *The Poetic Image*—C. Dry Lewis; 40.

हैं। वह एक ही साथ ध्वंस और सृजन दोनों का क्षण होता है। वे काव्यगत बिम्बों का स्रोत उसी ध्वंस और सृजन के अस्तित्ववान् क्षण के भीतर मानते हैं।

तात्पर्य यह कि बिम्बविधान बहुत से विशृंखल क्षणों का एक समुच्चय होता है। उस का आधार जीवन और जगत् की 'अनेकता' में है। इस के विपरीत प्रतीक किसी सूक्ष्म और गहरी 'एकता' का बोधक होता है। इसी लिए प्रतीकों की योजना में जाने-अनजाने एक तार्किक संगति अवश्य रहती है। परन्तु बिम्बविधान में तार्किक संगति का पाया जाना लगभग असम्भव है, और यदि पायी भी जाती है तो वह उस की तीव्रता को कम करती है, बढ़ाती नहीं। प्रतीक का स्रोत कवि के व्यक्तिगत अनुषंगों (ऐसोसियेशन्स) में हो सकता है, परन्तु उस का आकलन आनुषंगिक नियमों के आधार पर नहीं होता। उस के निर्माण में, अज्ञात रूप से ही सही, एक प्रकार की अन्तर्दृष्टि या सूक्ष्म बौद्धिक प्रेरणा अवश्य रहती है। परन्तु बिम्ब का सम्पूर्ण ढाँचा आनुषंगिक नियमों के द्वारा बुना जाता है। इसीलिए उस के संघटन में प्रायः अबौद्धिकता, अन्तर्विरोध और व्यतिक्रम पाया जाता है।

प्रतीक मूर्त और अमूर्त दोनों ही हो सकता है।[1] इस के विपरीत बिम्ब के लिए, ज्ञानेन्द्रिय के किसी भी स्तर पर मूर्त होना आवश्यक है। यह मूर्तता केवल दृष्टि-विषयक ही नहीं होती; नाद, घ्राण और स्वादपरक हो सकती है। प्रतीक किसी वस्तु का चित्रांकन नहीं करता, केवल संकेत द्वारा उस की किसी विशेषता को ध्वनित करता है। इसीलिए प्रतीक का ग्रहण सन्दर्भ से अलग और एकान्त रूप में भी सम्भव हो सकता है। पर बिम्ब की प्रेषणीयता उस के पूरे सन्दर्भ के साथ होती है। 'राम की शक्ति पूजा' की इन प्रसिद्ध पंक्तियों को लीजिए :

> ऐसे क्षण अन्धकार घन मे जैसे विद्युत्
> जागी पृथ्वी-तनया कुमारिका छवि, अच्युत
> देखते हुए निष्पलक, यदि आया उपवन
> विदेह का, प्रथम स्नेह का लतान्तराल मिलन,
> नयनों का नयनों से प्रिय गोपन सम्भाषण-
> पलकों पर नव पलकों का प्रथमोत्थान-पतन-
> काँपते हुए किसलय, झरते पराग समुदय-
> गाते खग नवजीवन परिचय, तरु-मलय-वलय।

यहाँ से वहाँ तक लयबद्ध बिम्बों की एक लम्बी शृंखला है जिस में शब्दों के त्वरित प्रवाह से दृश्य-चित्रों को और तीव्र कर दिया गया है। राम की तत्कालीन मनःस्थिति को व्यक्त करने के लिए बिम्बों में एक क्षिप्रता और ऐन्द्रिय आवेग-सा भर दिया गया है। प्रत्येक बिम्ब पूरी पृष्ठभूमि और संघटन के भीतर ही अपना अर्थ रखता है। अन्धकार, विद्युत्, उपवन, किसलय, पराग, खग, तरु-मलय-वलय आदि बहुत से ऐसे बिम्ब

---

१. काव्य में अभिव्यंजनावाद—लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'; पृ० १२४.

हैं जो किसी अन्य प्रसंग में प्रतीक हो सकते थे। पर यहाँ उन का घनिष्ठ सम्बन्ध प्रस्तुत प्रसंग से है, किसी अदृश्य संकेत या व्यंग्य से नहीं।

इस के विपरीत महादेवीजी की निम्नलिखित पंक्तियाँ हैं :

यह बताया झर सुमन ने
यह बताया मूक तृण ने
यह कहा बेसुध पिकी ने
चिर पिपासित चातकी ने

सत्य जो दिवि कह न पाया था अमिट सन्देश में।

सुमन, तृण, पिकी और चातकी—इन में से प्रत्येक शब्द एक स्वतन्त्र उपलक्षण है जो अपने से परे किसी सत्य की ओर इंगित कर रहा है। न तो इन चित्रों का समष्टि रूप में ग्रहण ही सम्भव है, न ही पाठक के भीतर इन के द्वारा कोई ऐन्द्रिय अनुभूति हो जगती है। इन के अर्थ की सीमाएँ स्पष्ट है और बिम्ब की तरह इन के साथ पाठक को यह स्वतन्त्रता नहीं है कि वह अपनी निजी अनुभूतियों के सन्दर्भ में ही इन को ग्रहण करे।

इन दोनों उदाहरणों में एक अन्तर और भी द्रष्टव्य है। निरालाजी को पंक्तियों से किसी बिम्ब को हटाकर अलग कर दीजिए, उस का एक कलात्मक स्वरूप फिर भी बना रहेगा। उस का अर्थ चाहे स्पष्ट न हो, पर वह एक जीवित दृश्यखण्ड की तरह अवश्य लगेगा। दूसरे उदाहरण में प्रत्येक प्रतीक इतना स्वतन्त्र है कि वह प्रसंग के भीतर अथवा बाहर, एक-सा ही स्वरूप बनाये रहता है। पाठक का ध्यान इस बात की ओर नहीं जाता कि किस सुमन ने वह सन्देश दिया, कैसा रंग था उस का, किस स्थान पर खिला हुआ था वह ? वह बिना किसी प्रत्यक्षीकरण के सीधे, झरकर सुमन ने क्या बताया—इस सत्य तक पहुँच जाता है।

ऊपर बिम्ब और प्रतीक में जो अन्तर किया गया है उस का यह अथ नहीं कि दोनों सर्वथा भिन्न और विरुद्ध है। विकास की दृष्टि से दोनों में पूर्वापर ऐतिहासिक सम्बन्ध है। एक विशेष बिम्ब किसी एक ही कवि की अनेक रचनाओं में बार-बार दोहराया जाकर प्रायः प्रतीक बन जाता है। महादेवी वर्मा की आरम्भिक रचनाओं में दीप, फूल, झंझा, समीर, आकाश, निर्झर आदि के जो चित्र आये हैं वे निश्चय ही बिम्ब की स्थिति के अधिक निकट हैं। पर धीरे-धीरे उन के विकसित प्रयोगों में इन बिम्बों को इतनी आवृत्ति हुई है कि उन के अर्थ में एक प्रतीकात्मक निश्चिन्तता आ गयी है। वे प्रतीक हो गये हैं। हम कह सकते हैं कि बिम्ब से प्रतीक तक का यह विकास कवि को कलात्मक प्रौढ़ता और स्थिरता का सूचक है। होता यह है कि जब एक ही बिम्ब बार-बार कई प्रसंगों में दोहराया जाता है तो वह अतिपरिचय के कारण अपनी दृश्यता खोकर केवल सूचनात्मक संकेत या चिह्न रह जाता है। यह कवि की प्रौढ़ता और सीमा दोनों का सूचक है। समर्थ कवि इस परिणाम से बचने के लिए नये

विषयों और नूतन सन्दर्भों की खोज करते हैं। एक नया सन्दर्भ किसी सुपरिचित बिम्ब को बिलकुल नयी अर्थवत्ता और ध्वनि प्रदान करता है। निस्सन्देह प्रत्येक बिम्ब के भीतर एक प्रतीक अन्तर्निहित होता है और व्यापक प्रयोगों में जैसे-जैसे वह अमूर्तता की ओर बढ़ता जाता है वैसे-वैसे उस की प्रतीकात्मकता स्पष्ट होती जाती है, प्रतीकात्मकता-शून्य बिम्ब अधिक से अधिक कविता के बाह्य सौन्दर्य की ही वृद्धि कर सकता है, वह उस की अर्थ-संहति को बढ़ाने में सहायक नहीं हो सकता।[१] मैं, अमेरिकी विचारक सुश्री सुसाने के० लैंगर से, यहाँ अपने-आप को सोलहो आने सहमत पाता हूँ कि प्रत्येक बिम्ब तत्त्वतः प्रतीकात्मक होता है।[२]

बिम्ब और रूपक

बिम्ब के साथ और कभी-कभी उस के पर्याय के रूप में प्रयुक्त होनेवाला एक दूसरा शब्द है—'रूपक' (मेटॅफ़ॅर)। आधुनिक अँगरेज़ी समीक्षा के क्षेत्र में 'रूपक' शब्द बहुत व्यापक अर्थ रखता है। वह सामान्यतः उन समस्त काल्पनिक सृष्टियों के अर्थ में प्रयुक्त होता है जिन से बिम्बविधान का निर्माण होता है। आज की अँगरेज़ी समीक्षा में वह एक ही साथ अस्पष्टता (ऐम्बिग्युइटी) विरोधाभास, व्यंग्य अथवा विडम्बना (आयरॅनी)—सब का आधार बन गया है। सब से पहले अरस्तू ने 'रूपक' को काव्य-प्रतिभा की कसौटी माना था। उस के अनुसार साम्य 'रूपक' का आधार है, जो उसे शक्ति और सार्थकता प्रदान करता है।[3] उस के लिए दो वस्तुओं का तुलनात्मक मिश्रण आवश्यक है, चाहे वह आन्तरिक हो या बाह्य जहाँ यह तुलना बाह्य तार्किक सम्बन्धों को छोड़कर शुद्ध आन्तरिक सम्बन्धों पर आधारित होती है वहाँ 'रूपक' अपने सर्वोत्तम कलात्मक रूप में उपस्थित होता है। कदाचित् यह इस बात का प्रमाण है कि वस्तुजगत् के आन्तरिक सम्बन्ध-सूत्रों को बुद्धि के स्तर पर समझना लगभग असम्भव है। दो भिन्न वस्तुओं की पारस्परिक स्थिति इतनी जटिल और अव्याख्येय होती है कि उसे केवल 'प्रज्ञा' अथवा अनुभूति के स्तर पर जाना जा सकता है। 'रूपक' जितना ही सहज और स्वाभाविक होगा, उस की भ्रामक बाह्य तद्रूपता उतनी ही क्षीण होगी। बिम्ब और रूपक में यदि कोई

---

१. प्रसिद्ध समीक्षक श्री लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' ने भी अप्रस्तुत के भीतर प्रतीकत्व की स्थिति स्वीकार की है। उन के अनुसार "जिस अप्रस्तुत में जितना ही प्रतीकत्व रहेगा उस पर की गयी अन्योक्ति उतनी ही मार्मिक होगी।"—काव्य में अभिव्यंजनावाद, पृ० १२०.

२. "I think the popular notion of an image as replica of a sense-impression has made epistemologists generally miss the most important character of images, which is that they are symbolic. That is why in point of sensuous character they may be almost indescribably vague, fleeting, fragmentary, or distorted, they be sensuously altogether unlike what they represent," *Problems of Art*—Susanne K. Langer; 132.

३. *A Thought Repeated in Rhetoric*, III, 2.

अन्तर करना आवश्यक हो हो तो कहा जा सकता है कि पहला स्वच्छन्द होने के कारण अनिवार्यतः प्रतीकात्मक होता है जब कि दूसरे के लिए यह आवश्यक नहीं है। जैसा कि पहले कहा गया है, आधुनिक अँगरेज़ी समीक्षा में 'रूपक' प्रायः बिम्ब का समानार्थक माना जाता है। यही कारण है कि बिम्ब सिद्धान्त के सब से प्रसिद्ध व्याख्याता श्री सी० डे लिविस ने अपनी पुस्तक 'दी पोयेटिक इमेज' (काव्यात्मक बिम्ब) में बिम्ब (इमेज) और 'रूपक' (मेटॅफ़ॅर) का प्रयोग प्रायः समान अर्थ में किया।[१]

'रूपक' के साथ ही 'साध्यवसान' रूपक पर भी विचार कर लिया जाये जिस का उल्लेख बिम्ब-विधान की चर्चा में प्रायः किया जाता है। अँगरेज़ी समीक्षा में इस के लिए 'ऐलिगॅरी' शब्द प्रचलित है। इस के संगठन में अर्थ के दो भिन्न स्तर होते हैं और दोनों का ग्रहण अलग-अलग होता है। पाठक एक समय एक ही अर्थ को ग्रहण कर पाता है। 'रूपक' से इस का अन्तर इस बात में है कि इस के लिए एक पूर्वनिश्चित कथानक का होना आवश्यक है। 'प्रसाद'जी की 'कामना' नाटिका और पन्तजी की 'ज्योत्स्ना' साध्यवसान रूपक के सफल उदाहरण हैं। इन में प्रत्येक पात्र एक प्रतीक-चरित्र है जिस का अस्तित्व वस्तुजगत् में न हो कर किन्हीं आदर्शों और कल्पनाओं पर आधारित है। साध्यवसान रूपक में तुलना का आधार सादृश्य या साधर्म्य उतना नहीं होता जितना दो वस्तुओं के बीच 'समीकरण' की भावना। परन्तु 'समीकरण' का क्षेत्र काव्य नहीं, गणित है। अतः बिम्ब-विधान के निर्माण में साध्यवसान रूपक के योगदान को बराबर सन्देह की दृष्टि से देखा गया है।

बिम्ब और पौराणिक कल्पना (मिथ)

बिम्ब के आदिस्रोतों की व्याख्या की जाये तो प्रकृति का स्थान प्रथम और पुराण अथवा गाथा (मिथ) का स्थान द्वितीय होगा। पुराण मनुष्य की प्राक्वैज्ञानिक भावनाओं की सच्ची प्रतिकृति है। बिम्ब से पौराणिक कल्पना का अन्तर इस बात में है कि पहले का निर्माता एक व्यक्ति होता है और दूसरे का सम्पूर्ण 'जाति' अथवा समूह। सी० डे लिविस ने बिम्ब को 'व्यक्ति निर्मित पुराण' कहा है जिसे अनन्तः व्यापक स्वीकृति के लिए 'सामूहिक चेतना' के पास जाना पड़ता है।[२] बिम्ब एक बार निर्मित हो कर स्थिर हो जाता है, जब कि पौराणिक कल्पना के सीमान्त बराबर बदलते रहते हैं। ऊपर से देखने पर पुराण अतार्किकता और विज्ञान का विरोधी समझा जा सकता है। पर उस की अतार्किकता काव्य की अबौद्धिकता के अधिक निकट है। वह यथार्थ को एक ऐसे स्तर पर पकड़ने का प्रयास करता है जहाँ वह सब से अधिक जटिल,

---

१. "The 'image' is present in all poetry and every poem itself is an image. Trends come and go, diction alters, metrical fashions change, even elemental subject-matter may change almost beyond recognition, in 'metaphor' remains the life-principle of poetry, the poet's chief test and glory." *The Poetic Image*—C. Day Levis; 17.

२. *The Poetic Image*; 32.

अस्पष्ट और विशृंखल होता है। 'मिथ' की दो मुख्य विशेषताएँ हैं : अन्तर्विरोध तथा आत्मसंशोधन। इन्हीं विशेषताओं के कारण उस के रूप और मूल्य दोनों में परिवर्तन होते रहते हैं। बिम्ब की तरह पौराणिक कल्पना ऐन्द्रिय और संवेदन-क्षम नहीं होती। जातीय कल्पना की उत्पत्ति होने के कारण उस में वैयक्तिक संवेदना का अभाव होता है।

आदिम मनुष्य की भाषा अभिव्यक्ति के साधनों की दृष्टि से बहुत सम्पन्न नहीं थी। उस के पास सोचने के लिए न तो उपयुक्त पारिभाषिक शब्द थे न अज्ञात-अनुद्घाटित अनुभूतियों को प्रेषित करने के लिए ठीक-ठीक 'नाम'। सब बात तो यह है कि उस के पास स्पष्ट विचार भी नहीं थे, क्योंकि उस का 'सोचना' और 'अनुभव' करना—ये दोनों भिन्न क्रियाएँ नहीं थीं। परिणाम यह हुआ कि उस ने अपनी दैनिक व्यवहार की भाषा में अपने समस्त अनुभवों, विचारों, कल्पनाओं, स्मृतियों और मानसिक प्रतिमाओं को रूपाकार देने के लिए एक ऐसा मिला-जुला ढाँचा तैयार किया जो काव्य और धर्म, दोनों के बीच की वस्तु कहलाने का अधिकारी हुआ। बाद के साहित्य में इन आदिम कल्पनाओं का प्रचुर उपयोग हुआ। काव्य के रूप-विधान में उस का प्रयोग प्रायः प्रतीकात्मक रूप में पाया जाता था।

बिम्ब और पौराणिक कल्पना में एक बहुत बड़ा अन्तर यह है कि पहले को ग्रहण करने के लिए केवल संवेदनशीलता और सह-अनुभूति ही पर्याप्त है। परन्तु दूसरे को धारण करने के लिए घनिष्ठ विश्वास का होना आवश्यक है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने दोनों का अन्तर करते हुए बहुत स्पष्ट शब्दोंमें लिखा है :

> "पुराण मनुष्य की उन कल्पनाओं का जातीय रूप है जो जगत् के व्यापारों को समझने में बुद्धि के कुण्ठित होने पर उद्भूत हुई थीं, और दीर्घ काल तक जातीय चिन्ता के रूप में संचित होकर विश्वास का रूप धारण कर गयी हैं। काव्य की कल्पना, कल्पना ही रहती है। वह सत्य को ग्रहण करने में सहायक होती है। कल्पना ने जहाँ विश्वास का रूप धारण किया वहाँ वह पुराण हो गयी, काव्य नहीं रही। काव्य की कल्पना सदा सत्य को गाढ़ भाव से अनुभव करने का साधन बनी रहती है, स्वयं सत्य को आच्छादित करके प्रमुख स्थान पर अधिकार नहीं कर लेती।[१]"

तात्पर्य यह कि काव्य सम्भावना का क्षेत्र है और पुराण विश्वास या अतर्कित श्रद्धा का। दोनों के उद्देश्य में अन्तर है। पर काव्य इन संचित विश्वासों से सर्वथा असम्पृक्त नहीं रह सकता। उसे प्रायः बिम्ब-विधान के नये स्रोत और कथानकों के लिए उन विश्वासों की सहायता लेनी पड़ती है। काव्य में प्रयुक्त होनेवाले इन परम्परागत विश्वासों का वैज्ञानिक अध्ययन होना चाहिए। इससे कविता के रूप-विधान को

---

१. साहित्य का साथी; पृ० ५६.

समझने के लिए एक नयी दृष्टि मिल सकती है। मध्ययुग की सम्पूर्ण कविता इन्हीं 'विश्वासों' की नींव पर निर्मित हुई थी। धीरे-धीरे पौराणिक कल्पना के रूप और अन्तःप्रकृति में स्थिरता आती गयी और मध्ययुग के अन्त तक आते-आते उस के भीतर सदा जाग्रत् रहनेवाली आत्म-संशोधन की प्रवृत्ति समाप्त हो गयी। नैसर्गिक भावों से परिचालित होने के कारण आदिम मनुष्य को किसी वस्तु पर प्रयत्नपूर्वक विश्वास करने की आवश्यकता न थी। फलतः उस के लिए उड़नेवाले देवदूत, अनेक मुखधारी राक्षस, अर्द्धनारीश्वर, पंखोंवाली परियाँ, पशु-पक्षियों की बात-चीत, परकायप्रवेश, लिंग-परिवर्तन, मृतात्माओं का संचरण, शेषनाग के फण पर पृथ्वी का स्थित होना, क्षीरसिन्धुशायी विष्णु की नाभि से कमल तथा सृष्टि का आविर्भूत होना—आदि बातें सहज कल्पनीय थीं। उस का ज्ञान जादू और इन्द्रजाल की प्रक्रिया पर आधारित था। तथ्यपरक दृष्टि से देखने पर ये कल्पनाएँ निराधार और असत्य प्रतीत हो सकती हैं। पर काव्यात्मक दृष्टि से प्रत्येक युग ने इन गाथाओं में किसी सर्वथा नये और अनुद्घाटित प्रतीकात्मक अर्थ का साक्षात्कार किया है। आधुनिक कवि जो काम प्रतीकों और बिम्बों से लेता है, आदिम मनुष्य वह काम पौराणिक कल्पना अथवा गाथाओं द्वारा लेता था।

अधुनातन युग में पुनः उस पौराणिक कल्पना (मिथ) की ओर लौटने के कुछ सफल प्रयास हुए हैं। प्रसाद की 'कामायनी' और 'निराला' की 'राम की शक्ति-पूजा' इस प्रवृत्ति के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। परन्तु आधुनिक युग ने आदिम युग या मध्ययुग की भाँति किसी गाथा अथवा 'मिथ' का निर्माण नहीं किया है। विज्ञान ने हमारी चेतनाधारा को सम्भावना की ओर से खींचकर प्रयोग में केन्द्रित कर दिया है। इलियट ने दान्ते पर विचार करते हुए बहुत ठीक कहा है कि आधुनिक मनुष्य के पास सपने हैं, परन्तु उस ने वह अन्तर्दृष्टि खो दी है जो किसी विराट् कल्पना (पुराण) या 'विश्वास' का निर्माण करती हैं।[१] वस्तुतः इस के लिए जिस सामूहिक चेतना की आवश्यकता होती है, उस का आज नितान्त अभाव है। आज सम्पूर्ण समाज और मानव-जीवन इतने खण्डों और इकाइयों में विभाजित हो गया है कि वह सत्य को केवल अलग-अलग बिम्बों और छायाओं के रूप में ही पकड़ सकता है, किसी सर्वाश्लेषी विराट् कल्पना या 'विश्वास' के रूप में नहीं।[२]

---

१. "We have nothing but dreams, and we have forgotten that seeing visions—a practice now relegated to the aberrant and uneducated - was once a more significant, interesting and disciplined kind of dreaming. We take it for granted that our dreams spring from below : possibly that quality of our dreams suffers in consequence." *Selected Essays*—T. S. Eliot; 243.

२. सर हरबर्ट रीड ने आधुनिक कविता की उपलब्धियों पर विचार करते हुए कुछ इस प्रकार मत प्रकट किया है : "Our eclecticism has been a part of a deliberate attempt to provide the 20th century with a mythical poetry, ignoring the fact that a myth cannot be consciously imported into culture, but must emerge gradually from the collective unconscious."=Encounter : 16 : (Jan. 1955); 6.

बिम्ब की परिभाषा

बिम्ब और अलंकार

शास्त्रीय दृष्टि से बिम्ब का सब से निकट सम्बन्ध अलंकार से है। अतः दोनों की पारस्परिक स्थिति पर कुछ विस्तार से विचार कर लेना चाहिए। अलंकार कथन की रोचक, ग्राह्य और प्रभावपूर्ण प्रणाली है। आचार्य शुक्ल के अनुसार "भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होनेवाली युक्ति ही अलंकार है।[१]" इस परिभाषा के अनुसार अलंकार भी काव्य के रूप-विधान में वही कार्य करते हैं जो प्रकारान्तर से बिम्ब करता है। काव्य को मूर्त और ग्राह्य बनाना दोनों का प्रमुख धर्म है। इस दृष्टि से बिम्ब और अलंकार में अन्तर करना कुछ विचित्र-सा लग सकता है। कार्य की दृष्टि से समान होते हुए भी दोनों की निर्माण-प्रक्रिया, प्रकृति और प्रेषणीयता में कुछ बुनियादी अन्तर है। अतः इस भेद को स्पष्ट कर लेना आवश्यक है।

अलंकारवादी प्राचीन आचार्य भामह, दण्डी, वामन, रुद्रट आदि ने काव्य के सम्पूर्ण सौन्दर्य को अलंकार माना है। भरत के नाट्यशास्त्र में अलंकार-निरूपण का केवल निक्षेप हुआ था। उस की पूर्ण प्रतिष्ठा भामह से आरम्भ हुई और दण्डी, उद्भट, रुद्रट और प्रतीहारेन्दुराज द्वारा उस का अनुसरण हुआ। चन्द्रालोककार जयदेव ने अलंकार-विधान की नयी और समर्थ व्याख्या प्रस्तुत की जिस को बाद के विचारकों ने प्रायः स्वीकार कर लिया। आनन्दवर्द्धन के पहले तक अलंकार-मत का बड़ा ज़ोर था और, उन्हीं के प्रयत्नों से, बाद की समीक्षा में अलंकार-विधान रस-निष्पत्ति के एक साधन के रूप में स्वीकार किया गया और आचार्य शुक्ल तक यह विचार ज्यों का त्यों मान्य रहा। अलंकारों का वर्गीकरण, गुण और अलंकार का अन्तर तथा रस-ध्वनि-सिद्धान्त में काव्यगत अलंकार का स्थान—ये कुछ ऐसे प्रश्न रहे हैं जिन पर प्रायः विचारकों में बहुत से मत-मतान्तर रहे हैं। जहाँ तक अलंकार के स्वरूप-निर्धारण और परिभाषा का प्रश्न है, दण्डी का कथन इस दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। उन के अनुसार "काव्य का शोभाकर धर्म ही अलंकार है।[२]" 'धर्म' कह कर दण्डी ने अलंकार के सूक्ष्म तथा मूर्त दोनों रूपों का संकेत दे दिया है। चन्द्रालोककार ने अलंकार-विहीन काव्य को उष्णता-रहित अग्नि की उपाधि दी है।[3] हिन्दी के आचार्यों में केशवदास की उक्ति अत्यन्त प्रसिद्ध है: "भूषन बिन न विराजइ कविता, वनिता मित्त।" यही नहीं, इस सम्बन्ध में केशव का आग्रह इतना अधिक था कि वे 'उपमान' को ही सब कुछ मानते थे। 'उपमेय' उन के निकट गौण था।[४]

---

१. रस-मीमांसा ; पृ० ३५८.

२. "काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते"—काव्यादर्श, २, (१).

३. "असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती"—चन्द्रालोक, १ (८).

४. देखे मुख भावे, अनदेखेई कमल-चन्द्र,
ताते मुख मुखे सखि कमलो न चन्द री।

इसके विपरीत आचार्यों का एक दूसरा वर्ग भी रहा है जो, अलंकार को काव्य का अनिवार्य धर्म न मानकर, उसे रसोत्कर्ष का अनित्य साधन-मात्र मानता रहा है। इन आचार्यों में आनन्दवर्द्धन का उल्लेख पहले हो चुका है। आचार्य मम्मट, विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ आदि भी इसी मत के पोषक रहे हैं। इन की स्थापनाओं और व्याख्याओं का यह प्रभाव हुआ कि अलंकार को भावकोटि (वर्ण्य) से अलग, काव्य के शरीर और उस की सजावट का अंग मान लिया गया। बाद के कुछ आलंकारिकों द्वारा भाव से सम्बन्धित स्वभावोक्ति तथा रसवत् आदि अलंकारों की कल्पना केवल इस बात का सूचक है कि कभी-कभी काव्य में सहज अकृत्रिम भाव या संवेदना भी किसी मनोज्ञ बिम्ब की सृष्टि करने में समर्थ हो जाती है। पर ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठ सकता है कि जब 'भाव' स्वयं अलंकार बन कर उपस्थित होता है तो फिर शोभावृद्धि किस की होती है ? इस दृष्टि से रसवत् आदि अलंकार आलंकारिकों के सिद्धान्त में एक प्रकार का अन्तर्विरोध उपस्थित करते हैं। अतः आलंकारिकों को भावकोटि से अलग, अप्रस्तुत के अन्तर्गत मानना ही न्यायसंगत जान पड़ता है।

अलंकार के दो प्रमुख भेद माने गये हैं: शब्दालंकार तथा अर्थालंकार। जहाँ एक साथ दोनों की सिद्धि हो वहाँ उभयालंकार की कल्पना की गयी है। शब्दालंकार स्थूल होने के कारण सौन्दर्य का गौण प्रसाधन माना गया है। काव्य के सूक्ष्म सौन्दर्य और अर्थ से सम्बन्ध रखने के कारण अर्थालंकार को प्रमुखता दी गयी है। अर्थालंकार के भी पाँच भेद किये हैं :[1]

१. सादृश्यगर्भ .... उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि।
२. विरोधगर्भ .... विरोधाभास, विभावना, असंगति आदि।
३. शृंखलाबन्ध .... एकावली, मालादीपक, सार आदि।
४. न्यायमूल .... काव्यलिंग, अनुमान आदि।
५. गूढ़ार्थप्रतीतिमूल .... व्याजोक्ति, वक्रोक्ति आदि।

इन के अतिरिक्त स्वभावोक्ति, भाविक, उदात्त, संसृष्टि और संकर, तथा रस एवं भाव से सम्बन्धित रसवत्, प्रेयस्, ऊर्जस्वित्, समाहित, भावोदय, भाव-सन्धि, और भाव-शबलता आदि अलंकारों को रुय्यक ने किसी वर्ग में नहीं रखा है। वस्तुतः यह वर्गीकरण विचार की सुविधा के लिए ही किया गया है। क्योंकि कथन की प्रणालियों और वैचित्र्य की कोई सीमा नहीं है। अतः अलंकारों के स्वरूप और प्रकार की भी कोई सीमा नहीं बाँधी जा सकती। देश-काल के परिवर्तन और भावों के विकास के

---

१. वर्गीकरण के प्रश्न पर आचार्यों में बड़ा मतभेद है। रुय्यक ने 'आश्रयाश्रयी भाव' को ही विभाजन का आधार माना है, जब कि मम्मट जैसे समन्वयवादी विचारक ने 'अन्वयव्यतिरेक' को आधार मानकर एक नया तर्क उपस्थित किया है। यहाँ हमें स्पष्टता और लोकमान्यता की दृष्टि से रुय्यक के वर्गीकरण को देना ही अधिक उचित जान पड़ा है।

बिम्ब की परिभाषा

अनुसार नये-नये अलंकारों की सम्भावना भी बढ़ती जाती है। इसलिए आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट अलंकारों को ही सीमा नहीं मान लेना चाहिए।[1]

बिम्ब शब्द अलंकारकी अपेक्षा अधिक व्यापक है। उस का सम्बन्ध कविता की विपयवस्तु और रूपविधान दोनों से है। उस में काव्यगत 'अर्थ' और 'रूप' का ऐसा मिश्रण होता है कि वह एक ही साथ हमारी संवेदना और बोधवृत्ति दोनों को प्रभावित करता है। अर्थालंकारके दो वर्ग—सादृश्यगर्भ तथा विरोधगर्भ—सरलतासे बिम्बविधान के अन्तर्गत आ जाते हैं, क्योंकि बिम्बनिर्माण के ये ही दो प्रमुख क्षेत्र हैं। शब्दालंकार में बिम्ब-स्थापन की दृष्टि से अनुप्रास का कुछ महत्त्व स्वीकार किया जा सकता है। नाद-बिम्बों के निर्माणमें उस का योग असन्दिग्ध है। परन्तु सर्वोत्तम नाद-बिम्ब वह होता है जो स्वर-संगीत पर आधारित होता है। अनुप्रास केवल व्यंजन-संगीत की सृष्टि करने में समर्थ होता है। अतः अनुप्रास-प्रेरित बिम्ब सज्जात्मक (डेकोरेटिव) अधिक होता है, क्रियाविधायक (फ़ंक्शनल) कम। सभी प्रकार के बिम्बों के चयन में ज्ञात या अज्ञात रूप से, औपम्य का आधार अवश्य रहता है। वैषम्य अथवा विरोधगर्भ चित्र-योजना में भी अन्ततः औपम्य ही आधार-भूत होता है। अतः अप्पय दीक्षित का यह कथन बहुत अंशोंमें ठीक है कि 'एकान्त नर्तकी उपमा' ही नाना चित्र-भूमिकाओं में साहित्य के रंगमंच पर उपस्थित होकर सहृदयों का मनोरंजन करती है।[2] इतना अवश्य है कि प्रत्येक युग में साम्यका आधार एक ही नहीं होता। युग-प्रवृत्ति तथा बोधवृत्ति के परिवर्त्तन के कारण साम्य के आधार तथा आकलन की पद्धति में भी अन्तर आ जाता है। मध्ययुगीन और आधुनिक काव्यात्मक बिम्बों की तुलना द्वारा यह अन्तर स्पष्ट हो सकता है। आचार्य शुक्ल ने छायावादी कविता की मूर्तिमत्ता की व्याख्या करते हुए इस अन्तर का बहुत स्पष्ट विवेचन किया है। उन के अनुसार छायावादी काव्य में पहले-पहल, बाह्य सादृश्य को त्यागकर, "आभ्यन्तर प्रवाह-साम्य के आधार पर लाक्षणिक और व्यंजनात्मक पद्धति का प्रगल्भ विकास हुआ।"[3] बाह्य और आभ्यन्तर प्रवाह-साम्य का यह अन्तर अलंकार और बिम्ब के अन्तर को समझने में बहुत सहायक हो सकता है।

काव्य के क्षेत्र में बिम्ब का आगमन स्वच्छन्दतावादी (रॅमैण्टिक) कविता के साथ ही हुआ था—यह कहा जा चुका है। उस के पूर्व उस की सत्ता अलंकारों से

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने नये अलंकारों की सम्भावना पर बहुत बल दिया है। उन के अनुसार: "यह न समझना चाहिए कि काव्य-रचना में उतनी ही चमत्कारपूर्ण शैलियों का समावेश हो सकता है, जितनी नाम रख कर गिना दी गयी हैं। बहुत से स्थलों पर कवि ऐसी शैली का अवलम्बन कर जायेगा जिस के प्रभाव या चमत्कार की ओर लोगों का ध्यान न गया होगा और जिस का नाम न रखा गया होगा, यदि रखा भी गया होगा तो किसी दूसरे देश के रीतिग्रन्थ में।—रसमीमांसा; पृ० ३६०.

२. उपमैका शैलूषी सम्प्राप्ता चित्रभूमिका भेदान्,
रञ्जयन्ती काव्यरंगे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः॥
—चित्रमीमांसा; निर्णय सागर प्रेस, पृ० ५

३. हिन्दी साहित्य का इतिहास; पृ० ६७१.

बहुत भिन्न नहीं थी। अलंकार प्राचीन (क्लैसिक) काव्य का प्रसाधन है। उस का विकास मध्यकालीन संस्कृति के विकास के साथ जुड़ा हुआ है। प्राचीन काव्य अपने दृष्टिकोण में वस्तुवादी और कलात्मक गठन में चमत्कारवादी अधिक था। उस की कल्पना स्वच्छन्द कल्पना नहीं थी। उस पर विवेक और तर्क का कड़ा अनुशासन था। अतः व्यक्तिगत अनुभूतियों और उन्मुक्त कल्पना की अपेक्षा सामान्य तथा वस्तुपरक भाव-प्रतिमाएँ उस की प्रवृत्ति के अधिक अनुकूल थीं। फलतः औपम्य-विधान के क्षेत्र में भी उस की दृष्टि प्रायः बहिर्मुखी ही रही। इस बहिर्मुखी प्रवृत्ति के कारण उस काल की दृष्टि वस्तुओं के आभ्यन्तरप्रभावसाम्य की ओर न जा सकी। इस के विपरीत स्वच्छन्दतावादी कवियों की दृष्टि वस्तु के बाह्य आकार से मुड़कर प्रकृति और मानव के सूक्ष्म सम्बन्धों पर टिक गयी। परिणामतः अप्रस्तुतविधान के क्षेत्र में 'मानवीकरण' और अन्योक्ति पद्धति का विकास हुआ। इस विकास को हम मध्यकालीन अलंकार-विधान से आधुनिक बिम्ब-विधान का प्रथम ऐतिहासिक अन्तर मान सकते हैं।

कहा जा चुका है कि बिम्ब का सम्बन्ध मन के उपचेतन स्तर से है। उस का निर्माण एक नितान्त वैयक्तिक धरातल पर होता है। इस के विपरीत, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि कुछ सादृश्यगर्भ अलंकारों को छोड़कर, शेष की निर्माण-प्रक्रिया में मन के चेतन स्तर—तर्क, बुद्धि तथा विवेक—का सहयोग अनिवार्य होता है। श्लेष, यमक, समासोक्ति, एकावली, काव्यलिंग, परिकरांकुर, विभावना तथा मुद्रा आदि अलंकारों का आकलन स्वतः स्फूर्त कल्पना के द्वारा न होकर, एक प्रकार की सुनियोजित ऊहा (फ़ैन्सी) द्वारा होता है। इस लिए इन अलंकारों का स्वरूप रचनात्मक उतना नहीं होता जितना ऊहात्मक होता है। उपमा सब से अधिक स्वतः स्फूर्त अलंकार है जिस का प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्मृति और उपचेतन से होता है। कालिदास की उपमाओं में बिम्ब की वह विशेषता, जिसे आज की भाषा में 'नया अन्वेषण' अथवा 'नवीनता का आघात' कहा जाता है, प्रचुरता से पायी जाती है। वनवास की लम्बी अवधि के बाद अपनी राजधानी में लौटने पर, राम को अपने सुपरिचित, पलित केशवाले मन्त्रीगण लम्बी झूलती हुई बरोहों से आच्छादित वटवृक्ष की तरह लगते हैं :

श्मश्रुप्रवृद्धिजनिताननविक्रियांश्च।
प्लक्षान्प्ररोहजटिलानिव मन्त्रिवृद्धान् ॥

—रघुवंश : त्रयोदश सर्ग

वृद्ध मन्त्रियों को देखकर राम के उपचेतन में स्थित वनवासकालीन वटवृक्ष के उदात्त बिम्ब का उभर आना इतना स्वाभाविक है कि दोनों के आकस्मिक साम्य से पाठक को संवेदना के एक सर्वथा नये स्तर का साक्षात्कार होता है। कुछ पाश्चात्त्य आलोचकों ने उपमा और रूपक में मौलिक विरोध दिखलाने का प्रयास किया है। इन आलोचकों के अनुसार 'उपमा' की प्रकृति विश्लेषणात्मक होती है, क्योंकि वह दो वस्तुओं को 'इव' अथवा 'जैसे' वाचक पदों के द्वारा पृथक् सिद्ध करती है। उस की

तुलना में 'रूपक' अधिक संश्लेषणात्मक होता है, क्योंकि वह एक संश्लिष्ट योजना के द्वारा दो भिन्न वस्तुओं की तद्रूपता को प्रमाणित करता है। इस प्रकार 'उपमा' गद्य के अधिक निकट है और 'रूपक' कविता के।[1] इस कथन के उत्तर में इतना ही कहा जा सकता है कि 'रूपक' संश्लेषणात्मक अवश्य होता है, परन्तु उस का साम्य एक बहुत ही ऊपरी, और कभी-कभी भ्रामक तद्रूपता पर आधारित होता है। परन्तु उपमा के लिए यह आवश्यक नहीं है। वस्तुतः 'इव' इत्यादि वाचक पद केवल सम्बन्ध की सूचना-भर देते हैं, उन से साम्य के प्रत्यक्षीकरण में कोई बाधा नहीं पहुँचती।

अलंकार से बिम्ब का दूसरा अन्तर सन्दर्भगत है। बिम्ब कभी भी अकेला और स्वतःपूर्ण नहीं होता। उस के पीछे एक बृहत्तर आनुषंगिक (ऐसोसियेशनल) सन्दर्भ होता है। उस का अर्थ उस सन्दर्भ से अलग नहीं होता। अलंकारों के लिए यह सदा आवश्यक नहीं है। प्रत्येक अलंकार अपने में पूर्ण और अविभाज्य होता है। बिम्ब की तरह उस के साथ कोई सम्पूर्ण संघटन (पैटर्न) अथवा साँचा नहीं होता। एक अन्तःसम्पृक्त ढाँचे के भीतर प्रत्येक बिम्ब एक-दूसरे के स्वरूप और ध्वनि को बहुत दूर तक प्रभावित करता है। यही नहीं, एक सूक्ष्म भाव-विनिमय के स्तर पर एक बिम्ब दूसरे के अस्तित्व में हिस्सा लेता है और इस प्रकार उन के बीच एक जीवित आन्तरिक सम्बन्ध की स्थापना होती है। अलंकार किसी एक वस्तु (प्रस्तुत) से सम्बद्ध होता है। अतः वह सदैव उसी का अनुगमन करता है और उस से अलग उस की कोई सत्ता नहीं होती। चन्द्रमा की सत्ता या तो मुख की समता में है या उस के विरोध में—जैसा कि प्रतीप अलंकार में होता है। बिम्ब किसी एक भाव अथवा वस्तु का केवल प्रतिनिधित्व करता है, उस का अनुगमन नहीं। मन्दिर के शिखर के पीछे उगनेवाला एकान्त पीला चाँद भी अपने-आप में एक सार्थक बिम्ब हो सकता है। कभी-कभी तो यह जानना भी आवश्यक नहीं होता कि वह किस 'वस्तु' का प्रतिनिधित्व कर रहा है। उस की अनिश्चित-अस्पष्ट मोहकता भी एक विशेष स्तर पर हमें प्रभावित करती है। इस दृष्टि से बिम्ब अलंकार की अपेक्षा अधिक संश्लेषणात्मक है। वह अनुभूतियों और विचारों की बाह्य अव्यवस्था में एक आन्तरिक 'लय' खोजने का प्रयास करता है। अलंकार विशेषणधर्मा होता है। वह 'विशेष्य' (प्रस्तुत) के किसी गुण अथवा धर्म का प्रकाशक होता है। बिम्ब किसी 'विशेष्य' के प्रति समर्पित नहीं होता। वह स्वयं 'वस्तु' का एक नवीन और मूल्यपरक नाम होता है।

सभी अलंकारों का प्रत्यक्षीकरण नहीं होता। कुछ थोड़े से साम्य तथा विरोध-मूलक अलंकारों को छोड़कर, शेष का केवल चमत्कारपूर्ण अर्थ ग्रहण होता है। कुछ ऐसे

---

१. "Simile like prose is analytic, metaphor like poetry is synthetic; simile is extensive, metaphor intensive; simile is logical, metaphor illogical and dogmatic; simile reasons, metaphor apprehends by intuition...simile is to metaphor as prose is to poetry." *Greek Metaphor*—W. B. Stanford; *(Oxford 1936)* 28-29.

भी अलंकार हैं—जैसे यमक, श्लेष, मुद्रा, यथासंख्य आदि—जिन का निर्माण ऐन्द्रिय स्तर पर न होकर धारणा के स्तर पर होता है। उन में कला की जटिलता हो सकती है, पर मानवीय अनुभूति की जटिलता नहीं होती। इसीलिए बिम्ब केवल कथन की एक शैली मात्र नहीं है, वह अनुभव-चिन्तन का अनिवार्य अंग है। शैली तक सीमित होने के कारण अलंकारों की संख्या का तो अनुमान लगाया जा सकता है, परन्तु बिम्ब का क्षेत्र इतना व्यापक है कि केवल कुछ सामान्य लक्षणों में उस को नहीं बाँधा जा सकता। उस के अध्ययन के लिए तत्कालीन ऐतिहासिक, प्राकृतिक, और मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि की विवेचना आवश्यक है।

अलंकार का सम्बन्ध अप्रस्तुत विधान से है। वह प्रस्तुत को ग्राह्य और रोचक बनाता है। परन्तु बिम्ब का सम्बन्ध प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों से होता है। एक 'भाव' भी बिम्ब हो सकता है और उस को तीव्र करने के लिए लायी गयी उपमा अथवा उत्प्रेक्षा भी। आचार्य शुक्ल ने अलंकारों की अपर्याप्तता का उल्लेख करते हुए तुलसी-दास की निम्नलिखित पंक्तियाँ उद्धृत की हैं :

बीच बास करि जमुनहि आये।
निरखि नीर लोचन जल छाये॥

उन के अनुसार, "इस में उपमेय और उपमान (राम का शरीर और जमुना का जल) की ओर ध्यान देते हैं तो स्मरण अलंकार ठहरता है, और जब अश्रु सात्त्विक की ओर देखते हैं तो स्मरण संचारी भाव निश्चित होता है"।[1] शुक्लजी ने इस पद में 'भाव' की ही प्रधानता ठहरायी है और इसे विशुद्ध अलंकार नहीं माना है। बिम्ब के निकट कोई ऐसी शास्त्रीय सीमा नहीं है। जमुना के श्याम जल को देखकर किसी पूर्व-स्मृति के कारण लोचन भर आने में कोई बहुत स्पष्ट चित्र नहीं है। परन्तु एक धुँधले भाव-बोध के रूप में उस का प्रत्यक्षीकरण होता अवश्य है। अतः सहज ही हम यहाँ एक प्रकार के स्मृति-बिम्ब की सम्भावना कर सकते हैं। बिम्ब वह केन्द्रीय विन्दु है जहाँ अलंकार और अलंकार्य का भेद समाप्त होता जाता है अथवा यों कहें कि जहाँ दोनों समन्वित होकर कोई अधिक जटिल और प्रभावशाली रूप धारण कर लेते हैं। इसीलिए बिम्ब दोनों रूपों में पाया जाता है—वह सज्जात्मक भी हो सकता है और क्रिया-विधायक भी।

इस व्याख्या का यह तात्पर्य नहीं कि बिम्ब और अलंकार को सर्वथा विपरीत काव्य-पद्धतियों के रूप में मान लिया जाये। वस्तुतः वे एक ही मूल पद्धति के ऐतिहा-सिक विकास हैं। मध्ययुग की सामाजिक व्यवस्था में व्यक्ति की अपेक्षा समूह अधिक महत्त्वपूर्ण था। अतः उस काल की कविता में सार्वभौम अनुभूतियों के वाहक अलंकार अधिक पाये जाते हैं। मानवतावाद और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के जागरण के साथ-साथ

---

१. रस-मीमांसा; पृ० ३६३.

विज्ञान युग का आरम्भ और मध्य युग का अवसान हुआ। मनुष्य के विकास का इतिहास अपने सामूहिक ढाँचे से बिखरकर व्यक्ति की कोटिशः इकाइयों में बँट गया। समाज में व्यक्ति और काव्य में बिम्ब का महत्त्व भी लगभग साथ ही साथ स्थापित हुआ। आधुनिक युग में आकर मध्ययुगीन अलंकृति का स्थान केन्द्रीय प्रतीकों और आत्मनिष्ठ बिम्बों ने लिया। व्यापक दृष्टि से, अलंकार बिम्बविधान से भिन्न नहीं, उसी के अन्तर्गत है। यह प्राचीन औपम्य-विधान का ही विकास है जिस ने आज की कविता में बिम्ब के साँचे में एक अधिक जटिल और मनोवैज्ञानिक रूप ले लिया है।

बिम्ब की प्रेषणीयता

बिम्ब के स्वरूप-निर्धारण के बाद एक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न रह जाता है—उस की प्रेषणीयता का। वह किस प्रकार कवि की कल्पना से निकलकर भाषा के माध्यम से होता हुआ पाठक अथवा ग्राहक का रसस्रोत बन जाता है? अपने यहाँ रस के विवेचन में साधारणीकरण और रस-निष्पत्ति की बड़ी सूक्ष्म व्याख्याएँ हुई हैं। सामान्यतः साधारणीकरण का विचार दृश्यकाव्य के सन्दर्भ में ही होता रहा है। आचार्य शुक्ल ने पहले-पहल उसे काव्य के सम्पूर्ण विभावन व्यापार के सन्दर्भ में देखने का प्रयास किया। उन के विचार से साधारणीकरण 'आलम्बनत्व धर्म' का होता है।[१] अर्थात् वर्णित अथवा प्रदर्शित आलम्बन के भाव का, एक निर्वैयक्तिक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया के द्वारा सब का आलम्बन बन जाना ही साधारणीकरण है। बिम्ब कवि की रचनात्मक कल्पना की सृष्टि है। कल्पना का सम्बन्ध काव्य के बोधपक्ष से होता है।[२] अतः बिम्ब काव्य के विभाव पक्ष का ही एक अंग माना जायेगा।

विभाव-पक्ष के अन्तर्गत आलम्बन तथा उद्दीपन, ये दो कोटियाँ मानी गयी हैं। प्रसंगानुकूल राम-रावण आदि आलम्बन हो सकते हैं और उन से सम्बन्धि भावों को तीव्र करनेवाले साधन—चन्द्रमा, उद्यान, सुरभि आदि उद्दीपन। इस दृष्टि से बिम्ब की स्थिति दोनों ही के अन्तर्गत मानी जा सकती है। जहाँ तक अलंकारों का सम्बन्ध है उन का उपयोग सामान्यतः आश्रय की चेष्टाओं, आलम्बन के हाव-भाव तथा उद्दीपन के बाह्य वर्णन में ही होता रहा है। प्राचीन लक्षणग्रन्थों में इन की संख्या और स्वरूप भी बहुत कुछ निश्चित कर दिये गये हैं। यह श्रेय शुक्लजी को प्राप्त है कि उन्होंने विभाव-पक्ष के अर्थ (रूप-विधान) को अपनी व्याख्याओं के द्वारा विस्तार प्रदान किया। उन्होंने आलम्बन की नयी व्याख्या प्रस्तुत की—"आलम्बन से हमारा अभिप्राय केवल रस-ग्रन्थों में गिनाये आलम्बनों से नहीं है, उन सब वस्तुओं और व्यापारों से है जिन के प्रति हमारे मन में किसी भाव का उदय होता है। जैसे यदि कहीं कवि प्रकृति के किसी रमणीय खण्ड का वर्णन पूरी तन्मयता के साथ, पूरा ब्योरा देते हुए करता है तो वहाँ

---

१. रस-मीमांसा; पृ० ३१२.
२. वही; पृ० २०८.

वह दृश्य और प्रकृति ही आलम्बन होगी।[1] शुक्लजी की इस व्याख्या में आधुनिक कविता के बिम्बविधान की दिशा और क्षेत्र का बहुत सूक्ष्म संकेत है।

अलंकारों के प्रसंग में साधारणीकरण का प्रश्न सामान्यतः नहीं उठाया जाता। क्योंकि वह काव्य को प्रेषणीय (ग्राह्य) बनाने का साधन है।[2] उस के सम्बन्ध में केवल यही विचारणीय है कि वह भाव को तीव्र करने में कहाँ तक सहायक होता है। परन्तु बिम्ब के सम्बन्ध में यह प्रश्न प्रायः उठाया गया है, अपने यहाँ तथा युरॅप में भी। इस का एक कारण तो यह है कि बिम्ब अलंकार की तरह केवल भाव को तीव्र करने का साधन या उद्दीपन मात्र नहीं है। वह स्वतः भावपक्ष के अन्तरंग से भी सम्बद्ध होता है। यह इस बात का सूचक है कि संसार की प्रत्येक वस्तु की, चाहे वह जड़ हो अथवा चेतन, हमारी भावनाओं से अलग भी एक निज की सत्ता है। आज की कविता में अधिकांश बिम्बों का प्रयोग प्रत्यक्ष आलम्बन के रूप में होता है। "चंचल पग दीप-शिखा के धर गृह, भग, बन में आया वसन्त" में 'वसन्त' किसी अन्य भाव अथवा व्यक्ति का सूचक नहीं है, वह स्वयं कवि (आश्रय) की भावनाओं का आलम्बन है। आल-म्बनत्व धर्म की इसी गुरुता के कारण आज की समीक्षा में बिम्ब शब्द इतना जटिल और विवादास्पद हो गया है।

'चरित्र' का साधारणीकरण सहज होता है। एक विशेष परिस्थिति में एक विशेष पात्र कौन-सा आचरण करेगा, उस के सम्बन्ध में हमारी कुछ पूर्व निश्चित धारणाएँ होती हैं। वह उस धारणा के विपरीत आचरण करे तब भी हम एक मनो-वैज्ञानिक आधार पर उस के औचित्य को अंशतः स्वीकार कर लेते हैं। अतः वह प्राचीन रसात्मक दृश्यकाव्य (नाटक) हो अथवा आधुनिक शीलवैचित्र्य से मण्डित नाट्यकृति, दोनों को ग्रहण करने के लिए स्वयं हमारे मन के भीतर भी एक नाटकीय पृष्ठभूमि होती है। परन्तु बिम्ब 'चरित्र' से भी अधिक सूक्ष्म और अनिश्चित होता है। उस के सम्बन्ध में हमारे पास कोई पूर्वधारणा नहीं होती। वह एक आकस्मिक झटके की तरह हमारी कल्पना में आता है और एक गूँज-सी छोड़कर विलीन हो जाता है। बिम्बग्रहण की क्रिया घण्टे की उस चोट की तरह होती है जो एक बार ध्वनित होकर धीरे-धीरे वातावरण में बड़ी देर तक गूँजती रहती है। इस दृष्टि से वह ध्वनिवादियों के 'प्रतीयमान' अर्थ के अधिक निकट है[3] जो वर्णित वस्तुओं का अतिक्रम करके किसी 'अन्य' (अवर्णित) वस्तु की प्रतीति से उत्पन्न होता है।

भाषा के दो रूप होते हैं : एक प्रतीकात्मक (सिम्बॉलिक) तथा दूसरा बिम्बात्मक (रेप्रिज़ेण्टेटिव)। पहले प्रकार की भाषा सामान्य व्यवहार और अमूर्त

---

१. रस-मीमांसा; पृ० ३०२.

२. काव्यं ग्राह्यमलंकारात्—वा० वृ०, १।१, १-२.

३. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव, वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं, विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु।—ध्वन्यालोक १।४.

बिम्ब की परिभाषा

चिन्तन की भाषा होती है। गणित, तर्कशास्त्र तथा विज्ञान के क्षेत्र में जिस भाषा का प्रयोग होता है वह प्रतीकात्मक अधिक होती है, बिम्बात्मक प्रायः बहुत कम, लगभग नहीं के बराबर। काव्य के क्षेत्र में दूसरी प्रकार की भाषा का प्रयोग होता है। यह भाषा सांकेतिक नहीं होती, ऐन्द्रिय और चित्रात्मक होती है। कवि शब्दों के कोशगत अर्थ की अपेक्षा उन के लोक-प्रचलित सन्दर्भ और व्यापक ध्वनि को पकड़ने की कोशिश करता है। पहली प्रकार की भाषा का काम ठीक-ठीक अर्थ का बोध कराना होता है। दूसरी प्रकार की भाषा किसी तर्कपूर्ण निश्चित अर्थ की अपेक्षा, अनेकानेक अर्थों की सम्भावना से संयुक्त होती है। कविता में हम केवल अर्थ का ही ग्रहण नहीं करते। अर्थ-ग्रहण तो रसात्मक व्यापार का गौण लक्ष्य होता है। प्रधान होता है उस अर्थ तक पहुँचने का ऐन्द्रिय व्यापार जिस में रूप, स्पर्श, गन्ध और स्वाद सब का योग होता है। कवि अपने शब्द-विधान के द्वारा हमारे सम्मुख इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को उपस्थित करता है। एक काव्यगत 'वृक्ष' केवल किसी भी सामान्य वृक्ष का 'पदार्थ' नहीं होता। वह एक विशेष रूप, रंग, देश और काल से समन्वित 'वृक्ष' होता है। शुक्लजी का यह कथन विचारणीय है कि बिम्बग्रहण जब होगा तब विशेष और व्यक्ति का ही होगा, सामान्य या जाति का नहीं। वस्तुतः समूह अथवा 'जाति' के साथ हमारा सम्बन्ध अलग-अलग व्यक्तियों के माध्यम से ही हो सकता है। अतः हमारा निकटतम सत्य व्यक्ति अथवा 'विशेष' होता है, उस का भावात्मक समवाय नहीं। चूँकि काव्य का व्यापार रागाश्रित सत्य का व्यापार है, निर्जीव तथ्य का नहीं, अतः उस में व्यक्ति की ही प्रधानता होती है, समूह या जाति का विचार इतिहास करता है। आचार्य रामदहिन मिश्र ने शुक्लजी की इस मान्यता का खण्डन करते हुए एक विचारणीय तर्क उपस्थित किया है :

"अर्थ शब्द अर्थमात्र को—अभिधेय को—ही नहीं कहता, वस्तु को भी कहता है। अतः शुक्लजी वस्तु ग्रहण को ही अपना बिम्ब ग्रहण मानकर क्यों नहीं सन्तुष्ट हो जाते।"[1]

इस तर्क के अनुसार अर्थ ग्रहण से अलग बिम्ब ग्रहण की कल्पना व्यर्थ है। सामान्य व्याकरणिक दृष्टि से तो यह कथन सही लग सकता है; परन्तु भाषा के व्यावहारिक रूप और इस के कारण उस के भीतर होनेवाले सूक्ष्म परिवर्तनों को देखते हुए शुक्लजी का विभाजन पूर्णतः वैज्ञानिक जान पड़ता है। दैनिक व्यवहार और बार-बार की आवृत्ति कुछ शब्दों को उन की मूल ध्वनि से विच्छिन्न कर के प्रायः निर्जीव और अमूर्त बना देती है। शब्दों के इतिहास में यह क्रम बराबर चलता रहता है। उदाहरण के रूप में 'कमल' शब्द को ले सकते हैं। मध्ययुग की कविता में वह इतना घिस गया था कि आज उस को सुन कर मन में कोई मूर्त संवेदना नहीं जगती। साहित्य में

१. काव्यालोक; पृ० २४.

भाषा के सामने अर्थकृष्टता का यह संकट बराबर आता रहता है और उस को दूर करने के लिए नये काव्यात्मक वातावरण और नयी प्रतिभाओं की आवश्यकता होती है। नयी प्रतिभाएँ चूँकि नये ऐतिहासिक परिवेश की उपज होती हैं अतः वे अपने साथ यथार्थ की नयी संवेदनाएँ, भाषा के नये मुहाविरे और शब्दों के नये अनुषंग भी लाती हैं। फलस्वरूप पुराने शब्दों में नये अर्थों का प्रक्षेपण होता है और पुराने अमूर्त शब्द नयी वास्तविकता के सन्दर्भ में नया आकार ग्रहण कर लेते हैं। इस शक्ति और ताज़गी का स्रोत सतत प्रवाहशील लोकजीवन में होता है। भाषा के इस दोहरे रूप के कारण संकेत-ग्रह के दो रूपों की कल्पना भी, व्यावहारिक दृष्टि से ठीक जान पड़ती है। इन दो रूपों में कविता का सम्बन्ध दूसरे रूप अर्थात् बिम्ब ग्रहण से होता है, जो अमूर्तता का विरोधी है।

अब प्रश्न यह है कि रस-काल में बिम्ब की क्या स्थिति होती है और वह रसानुभूति की प्रक्रिया को किस रूप में प्रभावित करता है। पर पहले स्वयं रसानुभूति के स्वरूप को समझ लेना आवश्यक है। यह तो सभी विचारक मानते हैं कि कला अथवा काव्य की अनुभूति प्रत्यक्ष अनुभूति से भिन्न कोटि की होती है। परन्तु यह भिन्नता वस्तुगत होती है अथवा केवल मात्रागत, इस के सम्बन्ध में बड़ा विवाद है। इस सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत ध्यान देने योग्य है। उन के अनुसार "रसानुभूति प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति से सर्वथा पृथक् कोई अन्तर्वृत्ति नहीं है, बल्कि उसी का एक उदात्त और अवदात स्वरूप है।"[1] प्रत्यक्ष अनुभूति के भीतर मुख्यतः ऐन्द्रिय संवेदन और बौद्धिक धारणाएँ आती हैं। कुछ लोग आध्यात्मिक बोध को भी प्रत्यक्षानुभूति का ही अंग मानते हैं। व्यापक रूप से प्रत्यक्षानुभूति को इन सभी तत्त्वों का समवाय कहा जा सकता है। परन्तु मनोविज्ञान के अनुसार सभी प्रकार के ज्ञान अन्ततः ऐन्द्रिय संवेदन पर ही आधारित होते हैं। अतः अपने मौलिक रूप में अनुभूति वस्तुतः ऐन्द्रिय संवेदन ही है।[2] इस प्रकार का काव्यगत अनुभूति भी अन्ततः ऐन्द्रिय संवेदन ही ठहरती है। रस-काल में हमें इन संवेदनों का अनुभव अनेक सूक्ष्म-जटिल बिम्बों के रूप में होता है और चूँकि वे बिम्ब एक कलात्मक प्रक्रिया से होकर हम तक पहुँचते हैं, अतः उन का स्थूल-भौतिक अंश प्रायः नष्ट हो जाता है। जो अंश बच रहता है वह उन का सच्चा और मौलिक रूप होता है। वस्तुतः रसात्मक संवेदना की अनुभूति इन्हीं सूक्ष्म बिम्बों के रूप में होती है। पूरे रस-व्यापार में ये बिम्ब द्रवीभूत अनुभूति के ठोस जीविद कणों के रूप में बने रहते हैं। वस्तुतः उस आनन्द की मात्रा शक्ति और तीव्रता का निर्धारण बिम्बों के स्वरूप, क्षमता और ऊर्जस्विता के आधार पर ही किया जा सकता है।

---

१. चिन्तामणि; भाग १, पृ० २५६.
२. डॉ० नगेन्द्र के सर्वश्रेष्ठ निबन्ध : द्र० रस का स्वरूप; पृ० ३४.

बिम्ब की परिभाषा

[ख] बिम्ब की व्यापकता

आधुनिक विचारों के क्षेत्र में बिम्ब शब्द बहुत व्यापक अर्थ रखता है। इस का अध्ययन समान रूप से साहित्य और मनोविज्ञान दोनों ही क्षेत्रों में होता है। मनोविज्ञान में इस का अर्थ होता है: एक स्मृतिबोध, अतीत की एक संवेदनात्मक अनुभूति अथवा अवचेतन के भीतर से मानसिक धरातल पर कल्पना-शक्ति का एक विशिष्ट प्रकाशन।[1] काव्यगत बिम्ब का आधार भी वही मानसिक बिम्ब ही होता है। पर दोनों के दृष्टिकोण में एक अन्तर है। मनोविज्ञान उस बिम्ब का अध्ययन करता है जो मनोगत होता है, जब कि साहित्य में हम उस बिम्ब की चर्चा करते हैं जो कवि के मन से निकल कर भाषा के कलात्मक ढाँचे में एक निश्चित रूप ग्रहण कर चुका होता है। अतः कहा जा सकता है कि मनोविज्ञान केवल निष्क्रिय बिम्बविधान का अध्ययन करता है। उस के पीछे कोई सृजन की प्रेरणा नहीं होती। परन्तु साहित्य में हम बिम्ब के प्रत्यक्ष और रचनात्मक रूप की विवेचना करते हैं।

मनुष्य का सम्पूर्ण भाव-व्यापार और चिन्तन-क्रिया, किसी न किसी रूप में, बिम्ब से अनिवार्यतः सम्बद्ध होती है। हमारे पास यथार्थ को जानने का एकमात्र सुलभ साधन ऐन्द्रिय संवेदन है। मन के स्तर पर प्रत्येक बाह्य संवेदन दृश्य अथवा अनुभवगम्य बिम्ब के रूप में परिवर्तित हो जाता है। एक विचार से दूसरे विचार तक पहुँचने में बिम्ब सेतु का काम करता है। दर्शन के क्षेत्र में जिसे अमूर्त अथवा शुद्ध चिन्तन कहते हैं उस का आधार भी बिम्ब ही होता है। भाषा के आदि युग में प्रत्येक शब्द किसी एक सम्पूर्ण बिम्ब अथवा वस्तु का बोधक रहा होगा। आज वह अपने बिम्बात्मक रूप को खो कर एक सूचनात्मक चिह्न अथवा प्रतीक-भर रह गया है। फिर भी कुछ विशेष शब्दों को सुन कर, किसी पूर्व स्मृति या व्यक्तिगत अनुषंग के कारण, अनायास मन के भीतर कुछ बिम्ब कौंध जाते हैं।[2] काव्यात्मक बिम्बविधान इसी प्रकार के स्मृतिगर्भी शब्दों के द्वारा निर्मित होता है।

एक संवेदनशील शिशु के मन में उभरने वाले अचेतन-स्मृति-बिम्बों के पीछे कोई निर्माण की चेतना नहीं होती। वह एक प्रकार का स्वतःचालित स्नायविक व्यापार होता है। मनोविज्ञान के क्षेत्र में शिशु-सुलभ बिम्बविधान को लेकर बहुत से प्रयोग हुए

---

१. "The specific form of manifestation of energy in psyche is the image, brought up by the creative power of imagination, the creative fantasy, out of the material of unconscious, the objective—psychic" *The Psychology of C. G. Jung*—Jolande Jacobi, 75.

२. "In the history of language, in the growth of human understanding, the principle of metaphoxical expression plays a vastly greater role than most people realise. For it is the natural instrument of our greatest mental achievement—abstract thinking." *Problems of Art*—Susanne K. Langer, 104.

हैं। इन प्रयोगों के आधार पर यह पाया गया है कि तेरह से अठारह वर्ष के भीतर का किशोर-पन दृश्य और नाद-प्रधान बिम्बों के प्रति बहुत जागरूक होता है।[1] गति-बिम्ब और गन्धबिम्ब की मात्रा भी उन में पर्याप्त होती है। बिम्ब-बहुल कविताओं के सम्बन्ध में बच्चों की प्रतिक्रियाएँ तीन प्रकार की होती हैं। यदि बिम्ब काव्यगत अर्थ के साथ अभिन्न है तो उस का प्रभाव उन के मन पर बहुत गहरा होता है। कुछ बच्चों के लिए बिम्ब कविता के अर्थ से अलग भी अपना सौन्दर्य और महत्त्व रखता है, और कुछ के निकट वह अर्थ तक पहुँचने में कभी-कभी बाधक भी होता है। ऐसा तब होता है जब बिम्ब का स्वरूप जटिल और सन्दर्भगत होता है। पर इतना निश्चित है कि प्रत्येक शिशु के भीतर बिम्बनिर्माण करने की और उन के द्वारा प्रभावित होने की पूरी क्षमता होती है।

इसी प्रकार का प्रयोग कुछ अपेक्षाकृत विकसित युवकों के साथ भी किया गया है। श्री सी० डब्ल्यू० बैलेण्टाइन के आधार पर यहाँ कुछ निष्कर्ष दिये जा रहे हैं। उन्होंने वर्ड्सवर्थ और शैली की कुछ बिम्बबहुल कविताओं के प्रति अपने कुछ युवा शिष्यों की भावात्मक प्रतिक्रियाओं का अध्ययन करने के पश्चात् ये निष्कर्ष निकाले थे।[2]

१. प्राकृतिक बिम्ब प्रभाव और व्यापकता की दृष्टि से सब से अधिक बोधगम्य होते हैं। अधिकांश युवक उन से प्रभावित और परिचालित होते हैं। कुछ युवकों के निकट बिम्बविधान काव्यगत रस का मूल स्रोत होता है।

२. सब में बिम्बग्रहण की शक्ति समान नहीं होती। रुचि और क्षमता के अनुसार उस में वैयक्तिक स्तर-भेद होते हैं। उक्त प्रयोग के आधार पर पाया गया कि कुछ युवक बिना किसी मूर्तिग्रहण के भी प्रकृतिसम्बन्धी कविताओं में रस पाते हैं। यह तथ्य इस मत का खण्डन करता है कि काव्य के अध्ययन में दृश्य बिम्बविधान का होना आवश्यक है।

३. कुछ युवकों के मन पर अस्पष्ट और अनिश्चित बिम्बों का भी उतना ही तीव्र प्रभाव पड़ता है जितना स्पष्ट और निश्चित बिम्बों का। यद्यपि दोनों के प्रभाव की पद्धति में अन्तर होता है। अस्पष्ट बिम्बों के प्रति झुकाव उन में अधिक होता है जिन की अभिरुचि चिन्तन या दर्शन की ओर अधिक होती है।

४. कुछ लोगों के भीतर बिम्बग्रहण की प्रक्रिया स्वतः प्रेरित होती है। बिना किसी बाह्य संकेत के वे उस का प्रत्यक्षीकरण कर लेते हैं। कुछ के भीतर एक ही बिम्ब सम्पूर्ण कविता में प्रमुख हो उठता है और कुछ के निकट बहुत से

---

१. *Psychology and Its Bearing on Education*—C. W. Valentine, 494.
२. *Ibid.*, 193.

बिम्बों की एक गतिशील श्रृंखला-सी बन जाती है। कुछ ऐसे भी होते हैं जिन के भीतर काव्यगत बिम्ब ग्रहण होता ही नहीं।

५. बिम्बग्रहण की प्रक्रिया में एक प्रकार का क्षति-पूर्ति का नियम भी चलता रहता है। यह पाया गया है कि जो लोग दृश्य-बिम्बों से विमुख होते हैं उन के भीतर नाद-बिम्बों को पकड़ने की अद्‌भुत क्षमता होती है। इस प्रकार वे दृश्य-संवेदना की पूर्ति लय-बोध के द्वारा कर लेते हैं।

६. बिम्बग्रहण में दृश्यता का आग्रह कभी-कभी हानिकर भी होता है। जैसे वर्ड्सर्थ की इस पंक्ति—"और वह विशाल हृदय धीर-शान्त सो रहा है"—में यदि कोई 'विशाल हृदय' को ज्यों का त्यों अभिधात्मक रूप में ग्रहण करना चाहे तो उसे बड़ी कठिनाई होगी। यह पाया गया है कि अधिकांश व्यक्ति सम्भावना के आधार पर बिम्बों का ग्रहण करते हैं।

७. प्रयत्नपूर्वक बिम्ब ग्रहण कराने की पद्धति को भी बहुत अनुकूल नहीं पाया गया। अतः किसी व्यक्ति को बिम्ब के प्रति पर्युत्सुक बनाने का सर्वोत्तम मार्ग यह हो सकता है कि उस का ध्यान धीरे-धीरे दृश्य और श्रव्य बिम्बों की सम्भावना की ओर आकृष्ट किया जाये।

इन निष्कर्षों के आधार पर कुछ महत्त्वपूर्ण बातों का पता चलता है। पहली यह कि बिम्बग्रहणकी नैसर्गिक शक्ति अधिक या कम प्रत्येक व्यक्ति में होती है। दूसरी बात यह है कि दृश्यता बिम्ब के लिए आवश्यक नहीं है और तीसरी यह कि शिक्षा या प्रयत्न के द्वारा किसी के भीतर बिम्बग्रहण की क्षमता नहीं जगायी जा सकती। उस का स्वाभाविक विकास होना चाहिए। बिम्ब के स्वरूप के सम्बन्ध में बहुत-सा विवाद तो केवल इस कारण है कि उसे हम अनिवार्यतः दृश्य (चाक्षुष) मानकर चलते हैं। दृश्यता उस का केवल एक प्रकार है। उस का एक छोर स्थूल दृश्य है तो दूसरा सूक्ष्म और अनुभवगम्य संवेदना। अनुभूतियाँ अपने धुँधले आनुषंगिक (ऐसोसियेशनल) सम्बन्ध-सूत्रों के अतिरिक्त प्रायः अमूर्त होती हैं। यह उन का आदि एवं मौलिक रूप है। परन्तु काव्य का व्यापार भाव-विनिमय और प्रेषणीयता का व्यापार है। अतः इन अमूर्त भाव स्थितियों के द्वारा कवि का कलागत उद्देश्य सिद्ध नहीं होता है। अनुभूतियाँ एक व्यक्तिगत भावकोश से निकलकर दूसरे अधिक व्यापक और अपेक्षाकृत सर्वसुलभ माध्यम (भाषा) के भीतर आकार ग्रहण करती हैं। भाषा का सम्बन्ध प्रत्येक युग की घनीभूत संवेदना से होता है। अतः वह दर्पण की तरह निर्जीव बिम्बग्राहक माध्यम-भर नहीं होती। वह अपनी प्रकृति और संगठनात्मक नियमों के द्वारा अचेतन रूप से कथ्य के रूप और उस की अर्थगत दिशाओं को भी बदल देती है। अतः मन के धरातल पर उभरने वाला बिम्ब भाषा के ढाँचे में ढलकर कभी-कभी सर्वथा बदल जाता है। भाषा

का माध्यम ही कुछ ऐसा है कि उस के द्वारा वस्तु का हू-ब-हू अनुवाद हो ही नहीं सकता। पुनर्निर्माण उस की पहली और अन्तिम आवश्यकता है।

कवि जब मानव-मन के सहज, अकृत्रिम, गतिशील तथा जटिल संवेगों का भाषा के जीवन्त माध्यम के द्वारा शाब्दिक पुनर्निर्माण करता है तो उसे समीक्षा की आधुनिक पदावली में 'बिम्बविधान' कहते हैं। इस प्रक्रिया के पीछे ज्ञात या अज्ञात रूप से एक सतत अन्वेषणशील रचनातुर मानव-मन की गहरी पीड़ा और आत्मशोध की भावना होती है। इस रचनात्मक प्रक्रिया से छनकर आने के कारण कविता में चित्रित एक फूल या पक्षी केवल फूल या पक्षी न रह कर किसी अधिक जटिल और दुर्बोध मानवीय स्थिति के द्योतक बन जाते हैं। प्रकृति के परिवेश में एक फूल बृहत्तर ऐतिहासिक परिवेश से अलग, एक स्वतःपूर्ण, बाह्य-निरपेक्ष सत्ता होता है। परन्तु काव्य के बिम्बात्मक संघटन में आकर वह व्यापक इतिहास के सम्पूर्ण सुख-दुःख, आशा-आकांक्षा, वर्तमान और अतीत के साथ सम्बद्ध होता जाता है।

अध्याय : ३

बिम्बनिर्माण की प्रक्रिया

प्रत्यक्ष अनुभव और कलात्मक अभिव्यक्ति के मध्य में एक बहुत बड़ा अन्तराल होता है। उस के भीतर घटित होनेवाला सम्पूर्ण व्यापार नितान्त दुर्बोध और प्रायः अव्याख्येय होता है। प्राचीन भारतीय समीक्षा में काव्यालोचन का आधार स्वयं कृति होती थी। उस के निर्माण के पूर्व की सारी प्रक्रिया आलोचना के भीतर इसलिए गृहीत नहीं होती थी कि तत्कालीन विचारकों के निकट उस की जटिलता तक पहुँचने का कोई साधन ही नहीं था। परन्तु आज मनोविज्ञान और विशेषतः मनोविश्लेषणशास्त्र की नवीनतम खोजों के द्वारा मानव-मन के अन्तःप्रदेश का प्रायः प्रत्येक कोना उद्घाटित हो चुका है। उस की बनावट, सूक्ष्म कार्यप्रणाली, शक्ति तथा सीमा—इन सब के सम्बन्ध में नित नयी खोजें होती जा रही हैं। पर मानव-मन का वह रहस्यलोक आज भी पूर्णतः विजित नहीं हो सका है। काव्य तथा अन्य कलाओं में बिम्बविधान का सारा व्यापार व्यक्त और चेतन स्तर पर आने से पहले इसी रहस्यलोक के भीतर घटित होता है। आधुनिक समीक्षा ने मनोविश्लेषणशास्त्र तथा युंग-मनोविज्ञान की सहायता से मन की गहन अबौद्धिक शक्तियों तथा कवि-कर्म की जटिलता को खोलने का प्रयास किया है। इसीलिए आज की समीक्षा में रचना से अधिक रचना प्रक्रिया की चर्चा सुनने को मिलती है। यहाँ तक कि कुछ नये विचारकों के अनुसार साहित्यिक इतिहास की लेखन-प्रणाली भी रचना प्रक्रिया के विकास के आधार पर ही निर्धारित की जानी चाहिए। यह प्रश्न विचारणीय अवश्य है। पर चूँकि प्रस्तुत विषय से इस का सीधा सम्बन्ध नहीं है अतः इस विवाद को यहीं छोड़कर हम रचना प्रक्रिया के स्वरूप को सम्यक् रूप में समझ लें।

वस्तुतः किसी भी कृति के अन्तर्गत, अनुभूति-तत्त्व के अतिरिक्त, जितने भी अन्य तत्त्व होते हैं वे सब के सब रचना प्रक्रिया के अंग माने जाते हैं। बिम्ब इस सम्पूर्ण प्रक्रिया का केन्द्रविन्दु होता है, क्योंकि वह उस काल्पनिक व्यापार के भीतर यथार्थ का एकमात्र प्रतिनिधि होता है। अब प्रश्न यह है कि मन की उस जटिल कार्यप्रणाली को किस अंश तक जाना जा सकता है और उसे जानने के साधन क्या हैं? इस प्रश्न के उत्तर में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि बिम्बों के संकेत, भाषा की सूक्ष्म व्यंजना-

पद्धति तथा कृति की सम्पूर्ण आवयविक व्यवस्था—ये सब के सब जिस अंश तक अपने अतीत की ओर संकेत करते हैं, साहित्य का समीक्षक केवल उसी अंश तक उस रहस्य-लोक के भीतर पैठने का प्रयत्न कर सकता है। एक सीमा के बाद मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त भी काम नहीं देते और सम्पूर्ण प्रक्रिया को अन्तर्दृष्टि अथवा सहजज्ञान का व्यापार मान लिया जाता है। जहाँ तक साधन का प्रश्न है कवि के निजी अनुभव तथा कवि-कर्म-सम्बन्धी उस की व्याख्याएँ अध्ययन की इस दिशा में बहुत सहायक हो सकती हैं। परन्तु इस प्रकार का अध्ययन केवल आधुनिक कविता के क्षेत्र में ही हो सकता है। प्राचीन काव्य की रचना प्रक्रिया की गहनता को जानने के लिए हमारे पास अनुमान के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं है। कुछ विचारकों ने रचना प्रक्रिया का सम्बन्ध विशुद्ध रूप से अन्तर्दृष्टि अथवा 'विज़न' से जोड़ने का प्रयास किया है।[१] इन विचारकों का प्रेरणा-स्रोत युंग का 'सामूहिक मन' तथा 'आदिम बिम्ब' का सिद्धान्त है जिस की चर्चा पहले अध्याय में की जा चुकी है।

यह तो सहज स्वीकृत सत्य है कि प्रत्येक प्रकार की रचना का सम्बन्ध अनिवार्यतः तत्कालीन यथार्थ के साथ होता है। कवि प्राथमिक स्तर पर ऐन्द्रिय बोध के द्वारा यथार्थ से सम्पृक्त होता है। वस्तु तथा इन्द्रियों के इसी अपरोक्ष सम्बन्ध को प्रत्यक्षीकरण की संज्ञा दी जाती है। एक प्रकार से मानव द्वारा अर्जित सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान इसी प्रत्यक्षीकरण की क्रिया पर आधारित है। दर्शन तथा मनोविज्ञान दोनों ही क्षेत्रों में प्रत्यक्षीकरण के स्वरूप पर विस्तार से विचार किया गया है। वस्तुज्ञान का प्रथम सोपान होने के कारण सत्यासत्य का विवेचन करनेवाले दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत इस का बहुत महत्त्व है। प्रत्यक्षीकरण की सत्ता तो प्रायः सभी दर्शन स्वीकार करते हैं परन्तु उस के स्वरूप, कार्य एवं व्याप्ति के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है। मन के दोनों ही कार्यों—बिम्बनिर्माण तथा धारणानिर्माण—का आरम्भ-बिन्दु प्रत्यक्षीकरण ही है, जिस के पश्चात् दोनों की दिशाएँ अलग-अलग हो जाती हैं। अतः यहाँ प्रत्यक्षीकरण-सम्बन्धी विभिन्न मतों को विस्तार से समझ लेना आवश्यक होगा।

बिम्बनिर्माण की प्रक्रिया के सम्बन्ध में पहला प्रश्न यह उपस्थित होता है कि सृजन की उस अवस्था में कवि के मस्तिष्क के भीतर कौन-सा सूक्ष्म क्रिया-व्यापार चलता रहता है? इसी से जुड़ा हुआ एक दूसरा प्रश्न भी उठ खड़ा होता है कि एक पाठक जब किसी कविता को पढ़कर उस की मूर्त सत्ता (बिम्ब) को अनुभव करता है तो उस के मस्तिष्क के भीतर कौन-सी प्रतिक्रियाएँ होती हैं? इन दोनों ही प्रश्नों से अलग, रचना प्रक्रिया का एक तीसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न सामने आता है कि किस प्रकार एक शब्दातीत अनुभव-बिम्ब अभिव्यक्ति के स्तर पर शब्द की सत्ता से अभिन्न हो जाता

---

१. "Technique is the power of producing a version of the model, as concrete as real existence–a vision of existence, a realization of things in the world."
Problems of Art—Susanne K. Langer– 96.

है तथा किस अंश तक एक मानसिक बिम्ब, एक अमूर्त मानसिक धारणा से भिन्न अथवा समान होता है? ये सभी प्रश्न बिम्ब की उत्पत्ति तथा सत्ता के विभिन्न पक्षों से सम्बन्ध रखते हैं। आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की कई महत्त्वपूर्ण शाखाओं द्वारा बिम्ब के स्वरूप तथा सूक्ष्म विधान को समझने का प्रयास किया जा रहा है। साहित्यशास्त्र, मनोविज्ञान, सौन्दर्यशास्त्र तथा भाषाविज्ञान—बिम्ब से इन सब का सम्बन्ध किसी न किसी रूप में है। यह इस बात का प्रमाण है कि बिम्ब की सम्पूर्णता को किसी भी एक शास्त्र के द्वारा नहीं जाना जा सकता है। अतः यह आवश्यक है कि विभिन्न दिशाओं से एक साथ उस के मूल स्रोतों तक पहुँचने का प्रयास किया जाये। आज ज्ञान की अनेक शाखाएँ अलग-अलग बिम्ब के किसी विशिष्ट पहलू को खोलने तथा उस की कार्य-प्रणाली के अध्ययन में लगी हुई हैं। यह आशा की जा सकती है कि निकट भविष्य में सम्भव है, बिम्ब-सम्बन्धी सिद्धान्तों का एक अलग सौन्दर्यशास्त्र ही तैयार हो जाये!

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार बिम्ब यथार्थ का मानसिक प्रतिबिम्ब है। इस मानसिक प्रतिफलन के चार विभिन्न स्तर माने जाते है:

१. ऐन्द्रियबोध

२. प्रत्यक्षीकरण

३. अभिमत

४. धारणा

ऐन्द्रियबोध वस्तु से इन्द्रियों के स्नायविक सम्पर्क का नाम है जो चेतना के सब से ऊपरी स्तर पर घटित होता है। ऐन्द्रियानुभव के अवसर पर घटित होनेवाला प्रतिबिम्ब वस्तु से अपरोक्ष रूप से सम्बद्ध होता है और केवल उस की सतह को उद्घाटित करता है। वह वस्तुगत सत्ता की रहस्यात्मक गहराइयों में प्रवेश नहीं करता, इसीलिए ऐन्द्रियबोध को यथार्थ का स्थूल परिचय माना जाता है। प्रत्यक्षीकरण की विस्तृत विवेचना हम आगे करेंगे। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार वह वस्तुबोध का अगला चरण है—जब ज्ञाता वस्तु के ऐन्द्रिय-प्रतिबिम्ब को, पूर्ण मानसिक बिम्ब के रूप में उपलब्ध कर लेता है। यदि ऐन्द्रियबोध और प्रत्यक्षीकरण में अन्तर करना आवश्यक ही हो तो कहा जा सकता है कि पहले का सम्बन्ध अलग-अलग ज्ञानेन्द्रियों से है और दूसरे का सामूहिक मन से।

'अभिमत' में एक प्रकार की सामान्यीकरण की प्रवृत्ति होती है और यह किसी एक वस्तु के गुणों तक ही सीमित नहीं होता, बल्कि उसी प्रकार को विभिन्न वस्तुओं के गुणों का समाहार होता है। वह केवल वस्तु के 'आभास' को ही नहीं झलकाता बल्कि उस की मूल सत्ता को भी आंशिक अभिव्यक्ति करता है। अभिमत एक प्रकार से वस्तुगत अनुभव तथा सूक्ष्म अमूर्त धारणा के बीच की स्थिति है।

धारणा की स्थिति इस से सर्वथा भिन्न है। जहाँ ऐन्द्रिय अनुभव का स्तर समाप्त होता है और वस्तु का ज्ञान एक अमूर्त भाव अथवा विचार के रूप में रह जाता है वहाँ

'धारणा' की स्थिति मानी जाती है। संक्षेप में कहें तो धारणा मन की एक प्रकार की विश्लेषणात्मक स्थिति है—जब मन वास्तविक प्रतिबिम्ब से विच्छिन्न होता है। ऐन्द्रिय-बोध तथा प्रत्यक्षीकरण में एक प्रकार की संश्लेषण की प्रवृत्ति होती है और धारणा में विश्लेषण की। पहली प्रवृत्ति का पर्यवसान भाव अथवा अनुभूति के भीतर होता है और दूसरी का ज्ञान अथवा तर्क में। दर्शन, तर्कशास्त्र, विज्ञान तथा अन्य सैद्धान्तिक मतवाद मूलतः धारणात्मक होते हैं। इस के विपरीत काव्य तथा अन्य कलाएँ अपनी प्रकृति से ही बिम्बात्मक होती हैं। इसी आधार पर भाषा शैली तथा अभिव्यक्ति पद्धति के भी दो मौलिक भेद हो जाते हैं : भावात्मक (इमोशनल) तथा सांकेतिक (सिम्बॉलिक)। मानव जाति का सम्पूर्ण मानसिक व्यापार इन्हीं दो रूपों में व्यक्त होता है।

वस्तुतः धारणात्मक ज्ञान बिम्बात्मक संवेदना से उतनी दूर नहीं होता जितना सामान्यतः समझा जाता है। प्रत्यक्ष ऐन्द्रियबोध से प्राप्त वस्तु की मूर्त चेतना ही धीरे-धीरे भाववस्तु और फिर भाववस्तु से विचारवस्तु के रूप में परिवर्तित हो जाती है। 'विशेष' से 'सामान्य' की ओर जाने की यह स्वाभाविक प्रक्रिया है जो मनुष्य के सामान्य व्यवहार में भी पायी जाती है। सुप्रसिद्ध दार्शनिक ह्यूम का इन्द्रियानुभववाद इसी सिद्धान्त पर आधारित है। यदि मनुष्य के ज्ञान की व्यावहारिक परीक्षा की जाये तो ज्ञात होगा कि संवेदन से ज्ञान तक पहुँचने में विकास की सुस्पष्ट शृंखला है। प्रत्यक्ष-वादी दार्शनिकों ने विकास के इन क्रमिक सोपानों का नामकरण इस प्रकार किया है : संवेदन, प्रत्यय, स्मरण, भेद-प्रत्यय, तारतम्य-बोध और प्रत्याहरण। संवेदन के द्वारा वस्तु का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। इस अनुभव की प्रामाणिकता दृश्यवस्तु तथा द्रष्टा के तात्कालिक सम्बन्ध की यथार्थता पर निर्भर करती है। प्रत्यय के द्वारा बाह्य वस्तु से प्राप्त यह अनुभव कुछ समय तक मन में स्थित रहता है। स्मरण के द्वारा अतीत के उस अनुभव को पुनर्जीवित किया जा सकता है। भेद-प्रत्यय के द्वारा एक संवेदन को दूसरे से अलग करने की चेतना उत्पन्न होती है तथा वस्तुओं के आनुपातिक ज्ञान को तार-तम्य-बोध कहते हैं। लघु-महत् और सुन्दर-असुन्दर की चेतना इसी के द्वारा प्राप्त होती है। ये सभी शक्तियाँ मनुष्य तथा अन्य जीव-जन्तुओं में समान रूप से पायी जाती हैं। किन्तु अन्तिम अर्थात् प्रत्याहरण की शक्ति केवल मानवजाति की ही विशेषता है। इस शक्ति के द्वारा वस्तुओं के सामान्य लक्षण अर्थात् 'धारणा' का निर्माण होता है। 'संज्ञा' से 'जाति' तक पहुँचने की क्रिया इसी शक्ति के द्वारा सम्पन्न होती है। विकास की इस पूरी शृंखला को ध्यान से देखने पर पता चलेगा कि संवेदन के स्तर पर जो मन वस्तु के पूर्णतः अधीन रहता है वह आगे की दशाओं में क्रमशः स्वतन्त्र होता जाता है। इस से स्पष्ट है कि 'संवेदन' से 'विचार' तक पहुँचने में मन की एक स्वाभाविक विकास प्रक्रिया होती है जो क्रमशः मूर्त से अमूर्त की ओर जाती है।

सारी कठिनाई इस प्रश्न से उठ खड़ी होती है कि यदि धारणात्मक ज्ञान बिम्बात्मक संवेदना का ही मानसिक विकास है तो एक नितान्त मूर्त सत्ता विचार के

स्तर पर पहुँच कर सर्वथा अमूर्त कैसे हो जाती है ? इस प्रश्न की व्याख्या तरह-तरह से की गयी है और प्रायः सभी विचारक इस बात पर सहमत हैं कि संवेदना से ज्ञान तक पहुँचने की यह प्रक्रिया मानव मन की उस विशिष्ट कार्य-प्रणाली का परिणाम है जिसे 'अमूर्तन' कहते है ।

अमूर्तन

सामान्यतः आधुनिक कला, साहित्य और दर्शन के क्षेत्र में अमूर्तन का अर्थ होता है किसी अंश को उस के सम्पूर्ण सन्दर्भ से काट कर अलग करना ।[१] अमूर्तन का पहला स्तर होता है आत्म तथा पर, या आत्मगत तथा वस्तुगत, में भेद करना । मानव तथा मानवेतर का भेद भी एक प्रकार का अमूर्तन ही है । अमूर्तन शक्ति के सहयोग से प्रत्यक्षीकरण की क्रिया को भी तीव्रता मिली है । क्योंकि अमूर्तन वस्तु के विभिन्न तत्त्वों को विश्लिष्ट करके देखता है । इस के विपरीत बिम्बात्मक संवेदना का कार्य होता है वस्तु को उस के पूर्ण संश्लिष्ट रूप में ग्रहण करना । अमूर्तन की विधि से ही मानव-कल्पना ने व्यापक यथार्थ को कुछ थोड़े से सार्थक बिम्बों में देखने की शक्ति अर्जित की हैं । कदाचित् इसीलिए एक प्रसिद्ध विचारक ने अमूर्तन की स्थिति भाषा से पूर्व मानी है ।[२] तात्पर्य यह कि जिस प्रकार एक शिशु भाषा जानने से पहले ही एक वस्तु को दूसरे से अलग करके पहचानने में समर्थ हो जाता है, उसी प्रकार भाषा-शक्ति से रहित आदिमानव भी सहज अमूर्तन विधि के द्वारा वस्तुओं के तुलनात्मक ज्ञान से परिचित हो जाता होगा । जो भी हो, इतना तो मानना ही पड़ेगा कि 'अमूर्तन' एक ऐसा माध्यम है जिस के बिना सोचने-समझने की प्रक्रिया का विकास हो नहीं हो सकता । परन्तु यहाँ कलात्मक अमूर्तन तथा गणित अथवा तर्कशास्त्र के अमूर्तन में भी अन्तर कर लेना आवश्यक है । कला तथा तर्कशास्त्र दोनों ही में अमूर्तन का सामान्य अर्थ होता है : वस्तु की विशिष्ट सत्ता से अलग केवल उस के 'रूप' को ग्रहण करना । 'रूप' को वस्तु से अलग करने की पद्धति के आधार पर ही दोनों प्रकार के अमूर्तनों में भेद किया जा सकता है । अब प्रश्न हो सकता है कि 'रूप' क्या है ? वस्तु को उस की सम्पूर्ण जटिलता के बीच अनुभव करनेवाले कवि अथवा कलाकार का उत्तर होगा : दृश्य तथा संवेद्य आकार । परन्तु एक तर्कशास्त्री के निकट यह उत्तर निरर्थक होगा । क्योंकि वह वस्तु को एक तार्किक व्यवस्था (लॉजिकल सिस्टम) के रूप में देखता है । अतः उस की दृष्टि में 'रूप' का महत्त्व गणित के समीकरण तथा ज्यामितिशास्त्र के कल्पित रेखांकनों से अधिक न होगा । तात्पर्य यह कि उस की 'रूप-सम्बन्धी धारणा विशुद्ध बौद्धिक आधार पर निर्मित होगी, ऐन्द्रिय अथवा संवेदनात्मक आधार पर नहीं ।'

१. "To abstract is to raise something out of setting, to see it as separate, bounded by a separate outline." *Poetic Process*—George Whalley, 35.

२. "Abstraction is prior to speech". *The Open Court* (1899)—T. Ribot. Vol. XIII. 12-20.

इसीलिए कला के क्षेत्र में 'अमूर्तन' एक अनिवार्य माध्यम होता है जब कि गणित अ था तर्कशास्त्र के क्षेत्र में केवल एक सुविधाजनक पद्धति।

वस्तुतः अमूर्तन की क्रिया मन की वह शक्ति है जिस के द्वारा वह बाह्य वस्तु को अपने से अलग एक स्वतःपूर्ण इकाई के रूप में देख पाता है। यही नहीं, वस्तु को घटाकर बिम्ब, तथा बिम्ब को भी सीमित तथा निश्चित करके प्रतीक के रूप में परिवर्तित कर देना भी एक प्रकार की अमूर्तन प्रणाली ही है। परन्तु जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, कविता अमूर्तन नहीं है। वह एक प्रकार की संवेदनात्मक सत्ता है जो शब्दों के द्वारा रूपायित होती है। अतः उस का ग्रहण विशुद्ध संवेदनात्मक धरातल पर ही हो सकता है। कवि की समस्या यह होती है कि वह 'वस्तु' को वस्तु के रूप में नहीं उपस्थित कर सकता। अतः उस का पहला कार्य यह होता है कि वह अमूर्तन पद्धति से वस्तु के स्थान पर मन में केवल एक 'रूप' रह जाने दे—एक ऐसा 'रूप' जो उसी वर्ग की अन्य वस्तुओं से सर्वथा भिन्न और विशिष्ट हो। अर्थात् कलाकार के निकट वस्तु का 'वस्तुत्व' महत्त्वपूर्ण नहीं है, महत्त्वपूर्ण है उस का 'प्रतिभास'। उस प्रतिभास को पूर्णतः उपलब्ध करने के लिए यह आवश्यक है कि कुछ देर के लिए वस्तु को भुला दिया जाये। कल्पना तथा विभ्रम इस प्रयोजन की सिद्धि में सहायक होते हैं। इस पद्धति के द्वारा रचनात्मक वस्तु की धुँधली और अस्पष्ट संवेदना को कला के स्तर पर एक 'आवयविक सम्पूर्णता' प्रदान करता है। यदि उस प्रतिभास में शक्ति है अर्थात् यदि कवि की संवेदना अकृत्रिम और अचूक है तो कविता का सामूहिक प्रभाव प्रधान हो उठेगा और उस के बाह्य 'रूप' की दृश्यता आनुषंगिक। तात्पर्य यह कि अमूर्तन की विधि वह माध्यम है जिस के द्वारा कवि वस्तु की 'अनुपस्थिति' को भी एक 'रूप' देने में समर्थ हो जाता है। परन्तु कला के क्षेत्र में अमूर्तन की क्रिया बहुत अचेतन रूप से चलती रहती है। उस का साभिप्राय उपयोग विज्ञान के क्षेत्र में ही होता है। गणित तथा तर्कशास्त्र में इस प्रक्रिया का चरम रूप पाया जाता है। काव्य में उस की क्रिया केवल प्रतीक-योजना और विशुद्ध 'रूप'-परिकल्पना तक ही सीमित है, जब कि विज्ञान का सारा ढाँचा इसी के आधार पर टिका हुआ है।[१]

प्रत्यक्षीकरण

प्रत्यक्षीकरण का उल्लेख पहले किया जा चुका है। इस के स्वरूप तथा अर्थ के सम्बन्ध में दार्शनिकों में बड़ा मतभेद है। एक ओर चार्वाक मतवाले हैं जो प्रत्यक्ष को ही सब कुछ मानते हैं। दूसरी ओर शंकराचार्य जैसे विवर्तवादी हैं जिन के अनुसार यह सब कुछ, जो प्रत्यक्ष अथवा इन्द्रियग्राह्य है, मिथ्या और भ्रमात्मक है। उसी प्रकार पाश्चात्त्य दार्शनिकों में ह्यूम जैसा अनुभववादी है जो प्रत्यक्षीकरण से प्राप्त ऐन्द्रिय

---

१. "Genuine abstraction is a relatively late achievement, born of reflection on the works of art and science, and fully understood only by means of the latter." *Problems of Art*—Susanne K. Langer. 173.

प्रभाव को ही वस्तुज्ञान का आधार मानता है और उसी के समानान्तर काण्ट जैसा बुद्धिवादी है जो प्रत्यक्षीकरण की क्रिया को सहज और स्वतःप्रेरित न मानकर, बुद्धि अथवा विवेक द्वारा परिचालित मानता है। कुल मिला कर इस के सम्बन्ध में इतने मत-मतान्तर हैं कि किसी भी अन्तिम निष्कर्ष पर पहुँचने से पहले यह आवश्यक हो जाता है कि उन में से कुछ विशिष्ट मान्यताओं की परीक्षा कर ली जाये।

ऐतिहासिक क्रम में चार्वाक सब से पहले आते हैं। उन की प्रत्यक्ष-सम्बन्धी धारणा बहुत आरम्भिक और स्थूल है। उन का वैशिष्टच इस बात में है कि वे प्रत्यक्ष के अतिरिक्त किसी अन्य प्रमाण को नहीं मानते। पर उन की एक बहुत बड़ी सीमा यह है कि वे ऐन्द्रिय सन्निकर्ष को मनुष्य के भावों तथा विचारों से अलग करके देखते हैं। इन के पश्चात् प्रत्यक्ष-सम्बन्धी धारणा का विस्तृत विवेचन बौद्ध ग्रन्थों में मिलता है। ये मानसिक अनुभव तथा विभिन्न प्रवृत्तियों को सत्ता को स्वीकार करते हैं और आत्मा को भी इन प्रत्यक्षगोचर मानस-प्रवृत्तियों का संघात मानते हैं। बौद्धों में भी कई शाखाएँ-उपशाखाएँ हैं जिन मे से वैभाषिकों का सिद्धान्त मूलतः प्रत्यक्ष पर आधारित है। उन्हें बाह्यार्थ प्रत्यक्षवादी कहते भी हैं। उन के अनुसार वस्तुओं के दो विभाग हैं: विषयीगत तथा विषयगत। विषयीगत विभाजन की दृष्टि से सारे पदार्थ तीन प्रकार से बाँटे जा सकते हैं:

१. पंचस्कन्ध : रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान।
२. द्वादश आयतन : छह इन्द्रियाँ तथा उन के छह विषय।
३. अष्टादश धातु : ऊपर के बारह आयतन तथा चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय और मनोविज्ञान इत्यादि 'धातु' हैं।

विषयगत विभाजन की दृष्टि से सम्पूर्ण यथार्थ जगत् दो प्रकार के 'धर्मों' का समुच्चय है : सास्रव तथा अनास्रव। इन में से सास्रव ऐन्द्रिय सम्पर्क की अवस्था है जो विकारयुक्त होता है और अनास्रव विशुद्ध और विकार रहित। आज की भाषा में कहें तो सास्रव संवेदनात्मक बोध की अवस्था है और अनास्रव धारणात्मक ज्ञान की। वैभाषिकों ने ज्ञान के साधन दो प्रकार के माने हैं : संग्रह और अध्यवसाय। वस्तु की नामहीन अवस्था के बोध को 'संग्रह' और नाम-जाति संयुक्त अवस्था के ज्ञान को 'अध्यवसाय' कहते हैं। कवि-कर्म का सम्बन्ध इस दूसरी अवस्था से ही है। बिम्बात्मक अनुभव का सम्बन्ध भी इसी के साथ जोड़ा जा सकता है।

नैयायिकों के अनुसार इन्द्रिय तथा अर्थ (वस्तु) के सन्निकर्ष का नाम ही प्रत्यक्ष है। आत्मा तथा प्रत्यक्षज्ञान के बीच तीन स्तर माने गये हैं : आत्मा का मन के साथ, मन का इन्द्रियों के साथ, और इन्द्रियों का वस्तु के साथ पारस्परिक संयोग। प्रत्यक्ष के दो भेद माने गये हैं[1] : निर्विकल्पक और सविकल्पक। दूर से देखने पर किसी वस्तु

१. भारतीय दर्शन—पं० बलदेव उपाध्याय; पृ० २४३.

के सम्बन्ध में जो ज्ञान होता है वह नाम-जाति इत्यादि आरोपों से शून्य होता है। यही 'निर्विकल्पक' अवस्था है और इस के विपरीत ज्ञान को 'सविकल्पक' कहते हैं। एक प्रसिद्ध आधुनिक विचारक के अनुसार मनोविज्ञान के अन्तर्गत संवेदन (सेन्सेशन्) और प्रत्यक्षीकरण (पर्सेप्शन्) में जो अन्तर है वही नैयायिकों के निर्विकल्पक तथा सविकल्पक प्रत्यक्ष में भी विद्यमान है[1]। प्रत्यक्ष के दो और भेद भी माने गये हैं: लौकिक और अलौकिक। लौकिक प्रत्यक्ष के भी छह प्रकार माने गये हैं:

१. संयोग : इन्द्रिय तथा वस्तु का अपरोक्ष सम्बन्ध।

२. संयुक्त-समवाय : वस्तु के साथ उस के गुण तथा रूप का भी बोध।

३. संयुक्त समवेत समवाय : वस्तु की सत्ता अर्थात् वस्तुत्व का प्रत्यक्ष।

४. समवाय : गुण तथा गुणी सम्बन्ध, जैसे श्रोत्र का शब्द से।
यहाँ श्रोत्र तथा शब्द दोनों ही आकाश-रूप हैं।

५. समवेत-समवाय : शब्दत्व का प्रत्यक्ष।

६. विशेषण-विशेष्यभाव : अभाव का प्रत्यक्ष।

अलौकिक प्रत्यक्ष के भी तीन भेद हैं: सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति, ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति, तथा योगज। इन में से पहला तो सामान्य अनुभवजन्य ज्ञान है, दूसरा कुछ विशेष है, जैसे एक निश्चित दूरी पर खिले हुए फूल को देख कर उस की गन्ध का भी बोध होना। तीसरी अवस्था अर्थात् योगज एक ऐसी अन्तर्दृष्टि या 'विज़न' की अवस्था है जिस में सूक्ष्म और इन्द्रियातीत वस्तुओं का ज्ञान होता है। निस्सन्देह नैयायिकों ने वस्तु तथा ज्ञाता के सम्बन्ध को बहुत गहराई तक जाकर समझने का प्रयास किया है। पर उन की प्रमाण-कल्पना की एक और विशेषता है जिस की ओर कम लोगों का ध्यान गया है। उन के अनुसार 'उपमान' भी एक प्रमाण है जिस को मानने के लिए दूसरे दार्शनिक तैयार नहीं हैं। एक वस्तु को देख कर उस के सादृश्य से दूसरी वस्तु का ज्ञान होना—'उपमान' के आधार पर ही सिद्ध होता है।[2] वस्तुतः उपमान को प्रमाण मान कर नैयायिकों ने एक ऐसे मनोवैज्ञानिक सत्य की ओर संकेत किया है जिस से काव्य तथा कला का बहुत गहरा सम्बन्ध है। उपमान प्रमाण की मान्यता वस्तुतः कल्पना-व्यापार की मान्यता है।

सांख्य दर्शन में प्रत्यक्ष दो प्रकार का माना गया है: आलोचन ज्ञान तथा सविकल्पक ज्ञान। पहली अवस्था स्थूल ऐन्द्रिय अनुभव की है जिस में वस्तु का परिचय मात्र होता है। इन्द्रियाँ अपने अनुभव मन को समर्पित कर देती हैं और मन उस वस्तु की सत्ता के सम्बन्ध में निर्णय करता है। पर वह अन्तिम निर्णय नहीं होता। मन से भी ऊपर अहंकार है जो वस्तु के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है। इस के पश्चात् निश्चयात्मिका बुद्धि का कार्य आरम्भ होता है जो उस वस्तु के सम्बन्ध में

---

१. भारतीय दर्शन—पं० बलदेव उपाध्याय; पृ० २४३.

२. समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्तिः उपमानार्थः—न्यायवार्तिक १।१।६.

अन्तिम निर्णय करती है। यही वह ज्ञान दशा है जिस में बुद्धि के भीतर पुरुषगत चैतन्य का आरोप होता है।[1] यह अन्तिम स्तर पूर्ण प्रत्यक्षीकरण की दशा है जिस में तेजस् द्रवात्मक अन्तःकरण इन्द्रिय-सन्निकर्षरूपी नलिका से विषयदेश तक पहुँचता है और उसी का आकार धारण कर लेता है। बिम्ब की उत्पत्ति इसी अवस्था में मानी जा सकती है। पर सांख्यों की विभिन्नता इस बात में है कि वे अन्तःकरण की वृत्ति को मूलकारण मानते हैं, ज्ञानेन्द्रियों को नहीं और इस प्रकार प्रत्यक्षीकरण का आधार इन्द्रियाँ नहीं, बल्कि अन्तःकरण की वृत्ति ही मानी जायेगी।

वेदान्त के अनुसार प्रत्यक्ष दो रूपों में होता है: ज्ञानगत और विषयगत। योग्य वर्तमान विषय तथा वृत्ति, दोनों से अवच्छिन्न (घिरे हुए) चैतन्य का अभेद ही ज्ञानगत प्रत्यक्ष है।[2] विषय तथा प्रमाता का तादात्म्य विषयगत प्रत्यक्ष माना गया है। वेदान्त की दृष्टि से जगत् में दो प्रकार की सत्ताएँ अनुभव की जाती हैं : विषयी (अस्मत्प्रत्यय) और विषय (युष्मत्प्रत्यय)। पर विषयी स्वयं भी विषय बन सकता है। जैसे—विषयीरूप आत्मा स्वयं को भी अनुभव करती है। आचार्य शंकर ने इस क्रिया को 'अध्यास' की संज्ञा दी है। वेदान्तियों के अनुसार सारा जगत् ही 'अध्यास' है : सामने दृष्टिगोचर वस्तु में अन्य का आरोप है। इसी 'अध्यास' के कारण प्रातिभासिक तथा व्यावहारिक जगत् की सत्ता बनी हुई है। परन्तु ये सारे भेद सामान्य प्रतीतियों के आधार पर टिके हुए है। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर जो कुछ दिखाई देता है, आत्मा का ही विस्तार है। निष्कर्ष यह कि इन्द्रियों से प्राप्त होने वाला बाह्य अनुभव भी वस्तुतः आत्मज्ञान का ही 'अध्यास' है।[3] सम्पूर्ण बाह्य प्रत्यक्ष को आत्मगत मान लेने के कारण वेदान्त की दृष्टि से बिम्ब की सत्ता भी एक प्रकार का 'अध्यास' या प्रक्षेप ही मानी जायेगी। बल्कि उसे प्रक्षेप का भी प्रक्षेप कहना अधिक संगत होगा।

ऊपर भारतीय दृष्टि से प्रत्यक्षीकरण सम्बन्धी विभिन्न मान्यताओं की चर्चा की गयी है। इसी क्रम में कुछ पाश्चात्य विचारकों की दृष्टि से भी इस समस्या पर विचार कर लेना उचित होगा। वस्तु तथा अनुभवकर्ता के सम्बन्ध के बारे में दार्शनिक चर्चा तो प्लेटो और अरस्तू के समय से होती आयी है। परन्तु युरेपीय दर्शन के क्षेत्र में सब से पहले ह्यूम ने ऐन्द्रिय अनुभव की प्रामाणिकता तथा महत्त्व को स्वतः सिद्ध घोषित किया। उस ने मानस-परीक्षा की एक नयी पद्धति निकाली और उस के आधार पर यह स्थापना की कि अनुभव के अतिरिक्त कोई ज्ञान नहीं होता। बुद्धि केवल जोड़ने-घटाने का काम करती है। बाह्य प्रत्यक्ष अथवा अनुभव की सत्ता पर अत्यधिक ज़ोर

---

१. सर्वो व्यवहर्ताऽऽलोच्य मत्वा 'अहमत्राधिकृतः' इत्यभिमत्य 'कर्त्तव्यमेतन्मया' इति अध्यवस्यति, ततश्च प्रवर्तते।—सांख्यतत्त्वकौमुदी; पृ० १२४; चौखम्भा १९३७.

२. तत्तदिन्द्रिययोग्यवर्तमानविषयावच्छिन्नचैतन्याभिन्नत्वं तत्तदाकारवृत्त्यवच्छिन्नज्ञानस्य तत्तदंशे प्रत्यक्षत्वम्। - वेदान्तपरिभाषा, लेखक—धर्मराजाध्वरीन्द्र, पृ० ३३; चौखम्भा १९३७.

३. विषयाकारेण परिणामिन्या बुद्धेर्ये शब्दाद्याकारावभासाः त आत्मविज्ञानस्य विषयभूता उत्पद्यमाना एव आत्मविज्ञानेन व्याप्ता उत्पद्यन्ते।—तैत्ति० भा० २।१.

देने के कारण ह्यूम के सिद्धान्तों को अनुभववाद के नाम से पुकारते है। उस के अनुसार इन्द्रिय तथा वस्तु के तात्कालिक सम्बन्ध को प्रत्यक्षीकरण कहते हैं। बुद्धि का उस अनुभव व्यापार में कोई सहयोग नहीं होता। ऐन्द्रिय स्रोतों से बाह्य अनुभव अनायास मन के भीतर संचरित होते रहते हैं। अतः मन एक निष्क्रिय सत्ता है जो प्रस्तुत वस्तु की सीमा को अतिक्रान्त कर के उस से परे नहीं जा सकता। इस प्रकार ह्यूम के सारे सिद्धान्तों का अन्त एक प्रकार के संशयवाद में होता है। पर इस संशय का मूल कारण उस के सिद्धान्त की मुख्य प्रतिज्ञा में ही है। वस्तुतः बाह्य अनुभव को सब कुछ मान लेने के बाद सब से पहला सवाल उन ऐन्द्रिय बोधों की कारण-क्षमता के बारे में उठता है। यहाँ स्वयं ह्यूम के शब्दों को उद्‌धृत करना अधिक उचित होगा। "मैं उन दार्शनिकों से पूछना चाहूँगा जो तत्त्व और घटना के विभाजन को अपने तर्क का आधार बनाते है और कल्पना करते हैं कि वे दोनों के सम्बन्ध में स्पष्ट विचार रखते हैं, पर यह नहीं सोचते कि वे तत्त्व-सम्बन्धी विचार ऐन्द्रिय-बोध के प्रभाव से प्राप्त हुए हैं अथवा चिन्तन के द्वारा? यदि वे ऐन्द्रिय संवेदन के द्वारा हमें प्राप्त हुए हैं तो प्रश्न उठता है कि किस प्रकार और किस विशेष संवेदन के द्वारा? यदि वह चक्षु-प्रत्यक्ष है तो निश्चित रूप से कोई विशेष रंग होगा, कर्ण-प्रत्यक्ष है तो शब्द, रसना-प्रत्यक्ष है तो स्वाद और इसी प्रकार अन्य संवेदनों के बारे में भी कहा जा सकता है। परन्तु मेरा विश्वास है कि इस बात के लिए कोई आग्रह नहीं करेगा कि रंग, शब्द अथवा स्वाद इन में से कोई भी 'तत्त्व' है। फिर तत्त्व-सम्बन्धी धारणा निश्चित रूप से वस्तुगत प्रतिबिम्ब के प्रभाव से उत्पन्न होगी—यदि उस का कोई ठोस आधार है तो। परन्तु वस्तुगत प्रतिबिम्ब के प्रभाव हमारे भाव और वासना में अन्तर्भुक्त होते है और सम्भवतः इन दोनों में से कोई भी तत्त्व का प्रतिनिधित्व नहीं करता। अतः किन्हीं विशेष गुणों के संग्रह के अतिरिक्त तत्त्व के सम्बन्ध में हमारे पास कोई धारणा नहीं होती। न ही हमारे पास कोई दूसरा अर्थ होता है—जब कभी हम उस के बारे में वार्तालाप अथवा तर्क करते हैं।[१]

तात्पर्य यह कि यथार्थ के सम्बन्ध में हमारी सम्पूर्ण जानकारी ऐन्द्रिय प्रभावों की क्षमता पर आधारित होती है। प्रत्येक दशा में हम वस्तु के किसी विशेष गुण का प्रत्यक्षीकरण करते है—जैसे यदि रंग है तो वह निश्चित रूप से लाल, नीला अथवा पीला होगा; गन्ध है तो मृदु, तीव्र अथवा मन्द होगी; स्पर्श है तो शीत, उष्ण, रुक्ष या स्निग्ध होगा। निष्कर्ष यह कि प्रत्यक्षीकरण जब भी होगा, 'विशेष' का होगा; 'सामान्य' का केवल ज्ञान हो सकता है। यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है कि कभी-कभी काव्य में ऐन्द्रिय संवेदनों के मिश्र अथवा जटिल बिम्ब भी मिल जाते हैं—जैसे 'गन्ध-गुंजित कुंज'। इस को प्रत्यक्षीकरण की किस कोटि में रखा जायेगा? वस्तुतः इस प्रकार के बिम्ब एक विशेष प्रकार के काव्यात्मक उद्देश्य की पूर्ति के लिए लाये जाते हैं। इन में,

---

१. *Treatise,*—Part I, Section VI.

ऐन्द्रिय वस्तुओं का प्रत्यक्षीकरण तो अलग-अलग ही होता है, परन्तु रचना प्रक्रिया के अन्तर्गत विपर्यय अथवा स्थानान्तरण के द्वारा केवल एक वस्तु का धर्म दूसरी पर आरोपित कर दिया जाता है और इस कल्पनात्मक विधि से प्रत्यक्षानुभूतियाँ भी परस्पर मिश्रित हो कर एक नया कलात्मक रूप धारण कर लेती हैं।

काण्ट के कल्पना-सम्बन्धी विचारों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। यहाँ प्रत्यक्षीकरण के सम्बन्ध में भी उस के सिद्धान्तों की चर्चा कर लेना संगत होगा। वस्तुतः काण्ट का बुद्धिवाद ह्यूम के अनुभववाद के साथ अनिवार्यतः जुड़ा हुआ है। ऐन्द्रिय-बोध-सम्बन्धी ह्यूम की मुख्य प्रतिज्ञा में काण्ट ने बहुत थोड़ा-सा परिवर्तन किया। उस ने भी ऐन्द्रिय-प्रभाव को ही ज्ञान का आधार माना है। उस के अनुसार ज्ञान तभी सम्भव है जब उद्देश्य और विधेय ऐन्द्रिय-बोध के विषय हों, पर उन का सम्बन्ध बुद्धि स्वयं निर्धारित करे—जैसे ठोस वस्तु उष्णता के कारण फैलती है। यहाँ 'ठोस वस्तु' तथा उष्णता के कारण फैलने की क्रिया—दोनों ही इन्द्रियग्राह्य हैं। परन्तु उन दोनों में कार्यकारण-भाव देखना शुद्ध बुद्धि का कार्य है। इस प्रकार काण्ट ने ह्यूम के अनुभववाद और टॉमस रीड इत्यादि विचारकों के बुद्धिवाद में समन्वय कर के अपने नवीन दार्शनिक सिद्धान्त की स्थापना की। साथ ही साथ उस ने दोनों की सीमाओं की ओर भी संकेत कर दिया। ह्यूम के अनुभववाद की सीमा यह थी कि वह बाह्य ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष को ही सब कुछ मानता था। काण्ट का तर्क यह था कि यदि प्रत्यक्षानुभूति को ही ज्ञान का एकमात्र आधार मान लिया जाये तो फिर उन्मत्त या विक्षिप्त व्यक्तियों के प्रत्यक्षीकरण को भी ज्ञानमूलक मानना पड़ेगा, जो कि निश्चित रूप से वह नहीं है। इसलिए ऐन्द्रिय-व्यापार में बुद्धि का भी योग अनिवार्यतः मानना पड़ता है।

यह मान लेने के बाद काण्ट ने एक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया जिस की ओर किसी का ध्यान नहीं गया था। इन्द्रियों से जो प्रभाव हमें प्राप्त होते हैं वे पूर्णतः वैसे नहीं होते जैसी बाह्य वस्तु स्वयं होती है। ऐसा क्यों होता है? क्या इन्द्रिय सम्बन्ध से ही वस्तु का रूप बदल जाता है? काण्ट के अनुसार इन्द्रिय-संवेदन के भीतर ही कोई ऐसा अंश है जिस का वस्तु के अधीन परिवर्तन हुआ करता है। यहाँ तक कि एक ही वस्तु का कई बार प्रत्यक्षीकरण होने पर हर बार अपने ही भीतर कुछ न कुछ बदल जाया करता है। परन्तु कुछ अंश ऐसे भी हैं जो सभी प्रकार के इन्द्रिय-संवेदनों के लिए समान रूप से काम में आते हैं। काण्ट के अनुसार वे अंश वस्तु के अधीन न हो कर चित्त के अधीन होते हैं। परिवर्तनशील अंश को 'देश' और अपरिवर्तित अंश को 'काल' कहते हैं। यदि सभी वस्तुओं को मन से निकाल दिया तब भी उस में 'देश' और 'काल' रह जायेंगे। वस्तुतः ये दो रंगीन चश्मे हैं जिन के द्वारा बाहर का सब कुछ इन्हीं के रंगों में रँगा हुआ दिखाई देता है। तात्पर्य यह कि प्रत्येक ऐन्द्रिय-बोध 'देश' और 'काल' से अनिवार्यतः बँधा हुआ है। काण्ट का दृढ़ मत था कि वस्तु के चित्तनिरपेक्ष स्वरूप (नाउमिनॅन) को हम कभी नहीं जान सकते। वह हमें जैसी दिखाई देती है,

केवल उसी दृश्यरूप (फ़िनॉमिनॅन) को हम अनुभव में ला सकते हैं।

इस प्रकार काण्ट ने अनुभव को दो भागों में बाँट दिया। उस का एक भाग द्रष्टा के बाहर रहनेवाले बाह्य-जगत् से जुड़ा हुआ है और दूसरा उस के भीतर रहनेवाली बुद्धि अथवा प्रज्ञा से। पहला केवल वर्तमान में सीमित रहता है और कभी भी प्रस्तुत तात्कालिकता ([illegible]नल इम्मिडियेसी) को अतिक्रान्त नहीं करता। दूसरा प्रस्तुत क्षण के अतिरिक्त अतीत के अन्य बहुत से अनुभवों के साथ सम्बद्ध होता है। मनुष्य के भीतर जो बहुत से आदिम भाव और संवेग होते है वे भी जाने-अनजाने प्रत्यक्षीकरण की क्रिया को प्रभावित करते हैं। सच तो यह है कि सभी प्रकार की प्रत्यक्षानुभूतियों में एक प्रकार का आदिम आवेग होता है। पर जैसा कि ऐल्फ़्रेड नॉर्थ ह्वाइटहेड ने कहा है : प्रत्यक्षीकरण की अवस्था में पहले प्रज्ञा-पक्ष प्रबल होता है, उस के पश्चात् ऐन्द्रिय-बोध में तीव्रता आती है।[1] ह्यूम केवल पहली अवस्था को मानता था। काण्ट ने उस को मानते हुए अपने मौलिक तर्कों के आधार पर यह दूसरी प्रतिज्ञा भी जोड़ दी।

काण्ट की मान्यताओं से संवेदना तथा बुद्धि, और बिम्ब तथा विचार का सम्बन्ध तो निश्चित हो गया। परन्तु बाद की मनोवैज्ञानिक और विशेषतः मनोविश्लेषणात्मक खोजों के आधार पर कुछ ऐसे तथ्य सामने आये जिन के कारण प्रत्यक्षीकरण के स्वरूप पर नये सिरे से विचार करना आवश्यक हो गया। मानव-मन की नवीन व्याख्या तथा उपचेतन की खोज आधुनिक युग की सब से बड़ी घटना है। यहाँ हम व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिकों को जानबूझ कर नहीं ले रहे हैं। क्योंकि उन की एक बिलकुल अलग मान्यता है जिस के अनुसार मन की सत्ता ही सन्दिग्ध ठहरती है। वे केवल ज्ञानेन्द्रियों की सत्ता स्वीकार करते हैं और मन के अस्तित्व को ऐन्द्रिय क्रियाओं से अलग नहीं मानते। अतः बिम्बनिर्माण की प्रक्रिया भी उन के अनुसार मानसिक सृष्टि न होकर विशुद्ध स्नायविक व्यापार है। पर जो लोग मन की देश-काल-निरपेक्ष अवस्था में विश्वास रखते हैं—जैसे स्वप्न, सहज ज्ञान, अन्तर्दृष्टि इत्यादि—वे बिम्ब को मनःसृष्टि मानने के ही पक्षपाती हैं। फ़्रॉएड और युंग मन की सत्ता को तर्कातीत मानते हैं और मानव-जीवन की हर छोटी-बड़ी क्रिया को उसी के सन्दर्भ में देखने पर बल देते हैं। फ़्रॉएड के अनुसार मन का उपचेतन स्तर मनुष्य की समस्त सृष्टियों का रहस्य है। बिम्ब भी उसी उपचेतन कोश से निकल कर बाहर आता है जो अनिवार्यतः किसी विशेष प्रवृत्ति, इच्छा अथवा परिवेशगत अन्तर्विरोध का सूचक होता है। उपचेतन की सृष्टि होने के

---

१. "The world given in sense-presentation, is not the aboriginal experience of the lower organisms, later to be sophisticated by the inference to casual efficacy. The contrary is the case. First the casual side of experience is dominating, then the sense-presentation gains subtlety." *Symbolism : Its Meaning And Effect*. P. 49.

कारण आवश्यक नहीं कि दो बिम्बों के बीच कोई तार्किक संगति हो ही। प्रायः वे स्वप्न-बिम्बों की तरह अस्पष्ट और दुर्बोध होते हैं। फ़ॉएड की इस मान्यता के अनुसार उन्मत्त तथा विक्षिप्त व्यक्ति का प्रत्यक्षीकरण व्यावहारिक दृष्टि से असंगत होते हुए भी, एक विशेष मनोदशा तथा उपचेतन की किसी दमित वासना का द्योतक होगा। अतः उसे निरर्थक नहीं माना जा सकता। ऐसी अवस्था में प्रत्येक बिम्ब एक निश्चित प्रतीकात्मक संकेत से संयुक्त होता है। फ़ॉएड की इस मान्यता का आधुनिक कविता के रूप-विधान पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। इस प्रकार फ़ॉएड ने काण्ट की 'कार्य-कारणबद्ध प्रत्यक्षानुभूति' (कैज्युअल एफ़िकेसी) के सिद्धान्त को अंशतः अमान्य ठहरा दिया है।

यहीं प्रत्यक्षीकरण के सम्बन्ध में मनोविज्ञान की मान्यता को भी समझ लेना उचित होगा। मनोविज्ञान के अनुसार ऐन्द्रिय-बोध का जब अर्थ (मीनिंग) के साथ सम्बन्ध हो जाता है तो उसे प्रत्यक्षीकरण कहते हैं। अर्थात् ऐन्द्रिय-बोध अथवा संवेदना अर्थबोध के पूर्व की स्थिति है और प्रत्यक्षीकरण अर्थबोध के बाद की। तात्पर्य यह हुआ कि प्रत्यक्षीकरण की क्रिया का भाषा के विकास के साथ बहुत गहरा सम्बन्ध है। जब कोई पदार्थ हमारी इन्द्रियों के सम्मुख होता है तो हमारे भीतर उस की अनेक प्रकार की संवेदनाएँ होती हैं। सब से पहला सम्पर्क दृष्टि के माध्यम से होता है और एक प्रकार से यह सभी संवेदनाओं का मूल है। यदि हमारे सामने गुलाब है तो हम एक ही साथ उस के वर्ण, आकार तथा गन्ध का प्रत्यक्षीकरण कर लेंगे। किसी भी वस्तु के विभिन्न गुणों का एक साथ अनुभव होना ही उस का अर्थ कहलाता है। वस्तुतः प्रत्येक प्रत्यक्ष-ज्ञान के पीछे उस वस्तु से सम्बन्धित हमारी स्मृतियाँ भी काम करती हैं। उन्हीं के सहारे हम अन्य वस्तुओं से उस की विभिन्नता और विशिष्टता को पहचानते हैं।

अर्थ लगाने की यह प्रवृत्ति बहुत स्वाभाविक है और पूरे मानव-जीवन में अचेतन रूप से चलती रहती है। प्रत्यक्षीकरण के समय भी हमें उस के लिए प्रयास नहीं करना पड़ता। एक सहज क्रिया की तरह हम वस्तु और उस के नाम में अनायास सम्पर्क स्थापित कर लेते हैं। पर कभी-कभी इस प्रक्रिया में हम से भूल भी हो जाती है। कभी-कभी हम मिट्टी की तदाकार अनुकृति को ही आम अथवा नारंगी समझ लेते हैं। जब किसी संवेदना का ग़लत अर्थ लगाया जाता है तो प्रत्यक्षीकरण ठीक न होकर भ्रमपूर्ण हो जाता है। भ्रम वस्तुतः ऐन्द्रिय संवेदनाओं के ग़लत अर्थ लगाने का ही परिणाम है। अब प्रश्न यह है कि संवेदनाओं का अर्थ लगाना किस बात पर निर्भर करता है और उस की प्रक्रिया क्या है? व्यावहारिक दृष्टि से संवेदना का अर्थ हमारे पुराने संस्कारों पर निर्भर करता है। हमारे संस्कारों मे स्मृति, कल्पना, अनुभव और भाषाज्ञान सभी कुछ आते हैं। इस के आधार पर कहा जा सकता है कि जिस व्यक्ति का बाह्य पदार्थों का अनुभव जितना विशाल और जितना सच्चा होगा, उस में संवेदनाओं का अर्थ लगाने की शक्ति उतनी ही अधिक और उतनी ही निर्भ्रान्त होगी। भाषा के साथ सम्पर्क होने के

कारण प्रत्यक्षीकरण के साथ मूल्य-भावना भी जुड़ी हुई है। हम सभी वस्तुओं को नहीं देखते, अथवा नहीं देखना चाहते, और जिसे देखते भी हैं उस के केवल उन्हीं पक्षों तक हमारा प्रत्यक्षीकरण सीमित रहता है जो हमारी रुचि और मानसिक ढाँचे के अनुरूप होते है। अतः प्रत्यक्षीकरण के साथ-साथ हम इन्द्रिय-प्रत्यक्ष वस्तु को अनजाने ही मूल्य भी दे देते हैं। प्रत्यक्षीकरण के भीतर जो एक आकलन की प्रवृत्ति होती है वह इसी मूल्य-भावना का परिणाम है।

प्रत्येक व्यक्ति में प्रत्यक्षीकरण की समान क्षमता नहीं होती। उस का प्रमुख आधार है संवेदना और संवेदना का सम्बन्ध है ज्ञानेन्द्रियों से। शरीर विज्ञान के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति में इन्द्रियों की बनावट एक-सी नहीं होती। उन के स्नायविक संगठन और ग्रहणशीलता में अन्तर होता है। इसीलिए प्रत्यक्षीकरण की शक्ति धीरे-धीरे अनुभव-विस्तार के साथ अर्जित की जाती है। मनोवैज्ञानिकों ने उस को विकसित तथा तीव्र करने के लिए दो बातें आवश्यक बतायी हैं: सतत जागरूक संवेदनशीलता, तथा शब्द-भण्डार की वृद्धि। पहला तो प्रत्यक्ष ज्ञान क मुख्य आधार ही है। इस बात के लिए सतर्क रहना आवश्यक है कि जीवन के कठोर कर्मों और आघातों के बीच उस शक्ति का मूल स्रोत ही कहीं सूख न जाये। दूसरी आवश्यकता का सम्बन्ध हमारे उन गुणों से है जिन्हें हम प्रयत्नपूर्वक अर्जित करते है। भाषा उन में पहली और सब से महत्त्वपूर्ण है। भाषा का सम्बन्ध स्मरणशक्ति से है। वस्तु के गुणों को याद करने तथा उनके सूक्ष्म भेदों को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हमें अधिक से अधिक शब्दों का ज्ञान हो। शब्द के बिना हम केवल स्थूल वस्तु तक पहुँच सकते हैं। उस की सूक्ष्मता में जाने के लिए उपयुक्त शब्द की सहायता अनिवार्य है।

यह तो हुई प्रत्यक्षीकरण की सामान्य मनोवैज्ञानिक व्याख्या। यदि सूक्ष्म दृष्टि से उस की प्रवृत्ति और कार्यप्रणाली पर विचार किया जाये तो ज्ञात होगा कि उस के पीछे कुछ प्राकृतिक नियम काम करते हैं। एक प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक के शब्दों में कहें तो "प्रत्यक्षीकरण का झुकाव सन्तुलन और सुसंघटन की ओर होता है। अथवा दूसरे शब्दों में कहें तो सन्तुलन और सुसंघटन दृश्यजगत् के प्रत्यक्षात्मक गुण हैं। पर इन गुणों का बोध तभी होता है जब बाह्य परिस्थितियाँ बाधा नहीं देतीं, और जब कभी वे बाधा देती हैं तब असन्तुलन तथा सुसंघटन का अभाव ही वस्तुओं की विशिष्टता के रूप में अनुभूत होता है। साथ ही एक दबी हुई आकांक्षा भी होती है—सन्तुलन को उपलब्ध करने की।"[१] तात्पर्य यह कि प्रत्यक्षीकरण की क्रिया स्वतः एक प्रकार की सौन्दर्य-बोधात्मक प्रकृति है जो अस्पष्ट और अव्यवस्थित संवेदनाओं के भीतर अर्थ और व्यवस्था की खोज करती है। कला के भीतर जो संगठन और संगति होती है वह कहीं बाहर से नहीं आती। वस्तुतः वह प्रत्यक्षीकरण की मूल प्रवृत्ति और स्वाभाविक क्रिया का ही परिणाम है।

१. *Problems in the Psychology of Art in Art : A Bryn Mawr Symposium*–K. Koffka.

कलात्मक बोध और प्रत्यक्षीकरण

सामान्य प्रत्यक्षज्ञान और कलात्मक बोध में थोड़ा अन्तर होता है। एक कवि अथवा कलाकार का 'देखना' एक व्यावहारिक व्यक्ति के 'देखने' से भिन्न होता है। हम सामने एक हरे-भरे उन्नत आकार को देखते है और मान लेते हैं कि वहाँ एक पेड़ है। पर वस्तुतः जो दृष्टिगोचर होता है वह उस का हरा आकार मात्र होता है। पेड़ की संज्ञा हम उसे अपने अनुभव और पूर्वज्ञान के आधार पर प्रदान करते हैं। परन्तु एक कलाकार की ऐन्द्रिय प्रतिक्रिया इस से सर्वथा भिन्न होगी। उस के लिए पेड़ नामक वस्तु का ज्ञान आवश्यक नहीं है। जिस उन्नत हरे आकार को देख कर हम पेड़ के होने का अनुमान लगाते हैं, एक कलाकार के निकट केवल उसी का प्रत्यक्षीकरण महत्त्वपूर्ण होता है। कला का प्रयोजन उतने से ही सिद्ध हो जाता है। परन्तु पेड़ के रूढ़ और व्यावहारिक अर्थ से अलग, उस के विशिष्ट वर्ण और आकार को आत्मसात् करने के लिए एक विशेष प्रकार की मानसिक बनावट की आवश्यकता होती है जो कल्पनाशक्ति के विकास और निरन्तर अभ्यास से प्राप्त होती है। 'शुष्को वृक्षः तिष्ठति अग्रे' तथा 'नीरसतरुरिह विलसति पुरतः' का अन्तर केवल कथन की नीरस तथा सरस पद्धति का अन्तर नहीं है, जैसा कि परम्परागत किंवदन्ती के अनुसार सामान्यतः समझा जाता है। वस्तुतः यह सामान्य वस्तुज्ञान तथा कलात्मक प्रत्यक्षीकरण की मौलिक प्रवृत्तियों का अन्तर है। कलाकार के 'देखने' में उद्घाटन और अन्वेषण की वृत्ति होती है। वह प्रायः अनुभूति की अतिशय तीव्रता के साथ देखता है और वस्तु के साथ उस का सम्पर्क दो रूपों में होता है : द्रष्टा के रूप में तथा निर्माता के रूप में। ये दोनों ही रूप अभिन्न हैं। अतः प्रत्यक्षीकरण की अवस्था में उस का मन वस्तुरूप धारण कर लेता है और वस्तु मनोमय हो उठती है।[1] संक्षेप में यह कि उस की संवेदना सौन्दर्यशास्त्रीय नियमों से परिचालित होती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार :

> "किसी वस्तु के प्रत्यक्षज्ञान या भावना से हमारी अपनी सत्ता के बोध का जितना ही अधिक तिरोभाव और हमारे मन की उस वस्तु के साथ जितनी ही पूर्ण परिणति होगी उतनी ही बढ़ी हुई हमारी सौन्दर्य की अनुभूति कही जायेगी। जिस प्रकार की रूपरेखा या वर्णविन्यास से किसी की तदाकार-परिणति होती है, उसी प्रकार की रूपरेखा या वर्णविन्यास उस के लिए सुन्दर है।"[2]

आचार्य शुक्ल यहाँ कवि के प्रत्यक्षज्ञान की बात कर रहे हैं जो सामान्य प्रत्यक्षीकरण से कुछ विशेष होता है। उपर्युक्त कथन के अनुसार उस की दो विशेषताएँ हैं :

---

१. मातुर्मानाभिनिष्पत्तिनिष्पन्नममेयमेति तत्।
मेया-मि-संगमं तच्च मेयाभत्वं प्रपद्यते ॥—पंचदशी, परिच्छेद ४, श्लोक ३०,

२. चिन्तामणि (प्रथम भाग); पृ० १६५.

कवि की निजी सत्ता का पूर्ण निर्वैयक्तीकरण और इन्द्रिय-प्रत्यक्ष-वस्तु के साथ तदाकार-परिणति । यह तदाकार-परिणति की अवस्था ही वस्तु का कलात्मक, या और निश्चित अर्थ में कहें तो रूपात्मकबोध है । आचार्य शुक्ल का यह मत जाने-अनजाने सांख्यों के उस मत से मिलता-जुलता है जिस के अनुसार प्रत्यक्षज्ञान की अवस्था में तेजस द्रवात्मक अन्तःकरण इन्द्रियों के माध्यम से विषयदेश तक पहुँचकर उसी का आकार धारण कर लेता है । परन्तु सांख्य के अनुसार उस अवस्था में मन, बुद्धि तथा अहंकार भी जागरूक रहते हैं, जब कि आचार्य शुक्ल द्रष्टा की सत्ता के पूर्ण तिरोभाव या विसर्जन को आवश्यक मानते हैं । मनोवैज्ञानिक दृष्टि से शुक्लजी का मत अधिक व्यावहारिक तथा बोधगम्य जान पड़ता है । क्योंकि जब तक द्रष्टा की संवेदना पूर्णतः निर्वैयक्तिक नहीं हो जाती तब तक वस्तु के साथ तदाकार-परिणति हो ही नहीं सकती ।

ऊपर की व्याख्या से यह निष्कर्ष निकलता है कि कवि का प्रत्यक्षबोध कलागत आवश्यकताओं और उद्देश्यों से निर्दिष्ट और निर्धारित होता है । वह वस्तु के रूप तथा मूल्य दोनों को एक ही समय, एक ही विन्दु पर, ग्रहण करता है । उस का कार्य दोहरा होता है । वह एक ही साथ बाह्य यथार्थ को आन्तरिक और आन्तरिक यथार्थ को बाह्य वस्तुओं में रूपान्तरित करता है । उस की प्रत्येक संवेदना के पीछे, ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से, सृजन की उत्कट प्रेरणा होती है । परन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि प्रत्येक संवेदना एक प्रकार की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया का परिणाम है जो वस्तु तथा द्रष्टा के बीच घटित होती है । इसलिए प्रत्येक अनुभव का मूल्य वस्तु की 'योग्यता' (वेदान्त ने विषस्य योग्यतत्त्वं अर्थात् विषय की योग्यता को पूर्ण प्रत्यक्षज्ञान के लिए आवश्यक माना है) और द्रष्टा की अभिरुचि, मानसिक गठन, बौद्धिक क्षमता तथा ग्रहणशीलता की पारस्परिक स्थिति पर निर्भर करता है । काव्य का प्रयोजन उस प्रत्यक्षात्मक पर्युत्सुकता (पर्सेप्च्युअल रिस्पॉन्स) से होता है जो प्रत्यक्षीकरण के तत्काल बाद कवि के मन में उत्पन्न होती है । पहली अवस्था में वह बहुत अस्पष्ट होती है, फिर धीरे-धीरे उस की जटिलता अमूर्त स्थितियों से मूर्त बिम्बों के रूप में परिवर्तित होने लगती है और सब से अन्त में मानसिक रूपान्तरण की वह सम्पूर्ण प्रक्रिया एक निश्चित रूपात्मक साँचे में ढल जाती है । प्रत्यक्षीकरण के समय अत्यन्त अस्पष्ट रूप में अनुभूत वस्तु की भावना, इस तीसरी अवस्था में पहुँच कर ही, अभिव्यक्ति के योग्य बन पाती है । परन्तु इस अवस्था तक पहुँचने में कभी-कभी समय का एक लम्बा अन्तराल बीच में आ जाता है । प्रत्यक्षबोध तथा अभिव्यक्ति-क्षण के बीच के इस अन्तराल की कोई सीमा नहीं बाँधी जा सकती । वह कुछ थोड़े से घण्टों और दिनों तक भी सीमित हो सकता है तथा महीनों और वर्षों तक भी ।

प्रसिद्ध दार्शनिक वाइटहेड ने कलात्मक प्रत्यक्षीकरण के तीन क्रमिक स्तर बताये हैं जो क्रमशः संवेदना से मूर्त अभिव्यक्ति की ओर ले जाते हैं ।[१]

---

१. Symbolism : It's Meaning And Effect; 78.

(क) विशुद्ध नैसर्गिक क्रिया (प्युअर इन्स्टिन्क्टिव ऐक्शन)—यह प्रत्यक्षीकरण की प्रथम अवस्था है जिस में बाह्य परिवेश के प्रति व्यक्त होनेवाली प्रत्यक्षात्मक पर्युत्सुकता अपने अत्यन्त आदिम रूप में होती है। यह अवस्था पूर्णतः प्राकृतिक नियमों से निर्धारित होती है। मन अथवा मस्तिष्क की शक्तियाँ इस से सर्वथा निरपेक्ष होती हैं।

(ख) मानसिक प्रतिफलन क्रिया (रीफ़्लेक्स ऐक्शन)—यह वह संवेदनात्मक अवस्था है जो पूर्णतः इन्द्रिय-प्रत्यक्ष-वस्तु की सत्ता पर निर्भर करती है और इस में कार्य-कारण-भावना का कोई ज्ञान नहीं होता। यह एक ऐसी अनायास क्रिया है जिस का सम्बन्ध हमारी एक विशेष प्रकार की मानसिक आदत या अभ्यास से होता है। धीरे-धीरे हम प्रत्येक संवेदना के प्रति कुछ विशेष प्रकार की मानसिक प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करने के अभ्यस्त हो जाते हैं। बाद में यह एक स्वाभाविक पद्धति बन जाती है और अनायास रूप से चलती रहती है। वाइटहेड के अनुसार यह क्रिया इतनी सच्ची होती है कि वह कभी अयथार्थ हो ही नहीं सकती।

(ग) प्रतीक-निर्धारित क्रिया (सिम्बॉलिकैली कण्डीशण्ड ऐक्शन)—यह एक ऐसी क्रिया हैं जो प्रत्यक्षीकरण के प्रतीकात्मक अर्थों को जान लेने के बाद आरम्भ होती है। यदि उस का विश्लेषण ठीक हुआ तो उस के द्वारा तत्कालीन परिवेश और व्यापक परिस्थितियों की भी व्याख्या की जा सकती है। बुद्धि अप्रत्यक्ष रूप से इस क्रिया को शक्ति तथा दिशा प्रदान करती है। परन्तु यदि प्रत्यक्षीकरण के कार्य-कारण सम्बन्ध का विश्लेषण ग़लत हुआ तो बृहत्तर अर्थों की ओर बढ़नेवाली यह सम्पूर्ण क्रिया ही ग़लत हो जा सकती है।

सामान्य व्यक्ति तथा एक कलाकार के प्रत्यक्षीकरण में अन्तर यह है कि पहला या तो प्रथम स्तर तक ही सीमित रहेगा या अधिक से अधिक दूसरे स्तर तक। परन्तु एक कवि अथवा कलाकार तीनों ही स्तरों को एक साथ, एक ही क्रम में, पार करता है। पहला स्तर इस पूरी प्रक्रिया का मूल स्रोत है जिस के अभाव में प्रत्यक्ष-ज्ञान हो ही नहीं सकता। दूसरा उस का अगला चरण है जिस में प्रतीकात्मकता नहीं होती परन्तु जो एक विशेष प्रकार के अनायास मानसिक प्रतिफलन के द्वारा प्रतीकात्मक अर्थों की ओर संकेत करता है। तीसरे स्तर पर पहुँच कर सम्पूर्ण अस्पष्टता सार्थक संकेतों के रूप में मूर्त हो उठती है। इसी स्तर पर काव्य का सारा भावात्मक व्यापार भाषा की अधीनता स्वीकार करता है तथा बिम्ब और शब्द के बीच अविच्छेद्य सम्बन्ध स्थापित होता है।

बिम्ब और शब्द

बिम्ब और शब्द के सम्बन्ध पर विचार करने में कठिनाई यह है कि हम जिस काव्यात्मक बिम्ब से परिचित हैं वह अनिवार्यतः शब्दबद्ध होता है। दोनों को भिन्न-भिन्न स्थितियों में रख कर देखना हमारे लिए असम्भव है। परन्तु बिम्ब अलंकार नहीं है। उस की स्थिति भाषा के बाहर भी होती है—जैसे संगीत, चित्रकला, मूर्तिकला आदि में—अतः इतना निश्चित है कि बिम्ब की सत्ता शब्द से पहले है। यद्यपि इस विषय पर आलोचकों में बड़ा मतभेद है। अभी कुछ दिनों पहले रूसी विचारकों ने इस प्रश्न पर बहुत गहराई से विचार किया है।[१] ऐलेक्ज़ेण्डर येफ़िमोव नामक आलोचक के अनुसार शब्द बिम्ब का पूर्ववर्ती है और उस से अलग उस का कोई अस्तित्व ही नहीं। शब्द को बिम्ब से पहले मानने वाले विचारकों ने एक रूपक के द्वारा अपनी मान्यता को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। उन के अनुसार जिस प्रकार एक राजगीर क्रमशः ईंट रख कर सम्पूर्ण भवन का निर्माण करता है उसी प्रकार कवि एक शब्द को दूसरे शब्द के समानान्तर अथवा विरुद्ध रख कर एक पूरे बिम्ब का ढाँचा खड़ा करता है। जिस प्रकार ईंटों के बिना भवन की कल्पना नहीं हो सकती, उसी प्रकार शब्द से अलग कर देने पर बिम्ब कहीं होता ही नहीं। परन्तु इस मत के विरोधी विचारकों के अनुसार यह विशुद्ध कलावादी व्याख्या है। वस्तुतः यह एक प्रकार से छत से ही भवन-निर्माण करने जैसी कल्पना है। निर्मित होने से पहले भी भवन का एक रेखाचित्र होता अवश्य है, चाहे वह काग़ज़ पर उल्लिखित न हो कर एक मानसिक बिम्ब अथवा कल्पना के रूप में ही हो। वस्तुतः उस मानसिक बिम्ब को ही ईंटों के द्वारा बाह्य-जगत् में रूपायित किया जाता है। इसी प्रकार बिम्ब की स्थिति भी शब्द से पहले अनिवार्यतः होती है। शब्द के द्वारा उसे केवल एक बाह्य रूप प्रदान किया जाता है। पर चूँकि काव्य में इस बाह्य रूप का ही महत्त्व होता है अतः शब्द एक अनिवार्य उपादान है जिस की सहायता के बिना एक सूक्ष्म मानसिक बिम्ब, प्रत्यक्ष काव्यात्मक बिम्ब नहीं बन सकता।

बिम्ब और शब्द के जटिल सम्बन्ध को विद्युत् और तार के रूपक द्वारा अधिक अच्छी तरह समझा जा सकता है। शब्द उस तार की तरह है जो बिम्बरूपी विद्युत् धारा को एक सीमा से दूसरी सीमा तक (कवि से पाठक तक) प्रवाहित करता है। इस क्रिया में जिस प्रकार तार नितान्त निष्क्रिय नहीं होता, बल्कि वह विद्युद्धारा को अनेक दिशाओं में प्रवाहित होने से रोकता है, उसी प्रकार शब्द भी बिम्बों के प्रवाह को संयमित और लक्ष्यबद्ध करता है। इस से यह निष्कर्ष निकलता है कि बिम्ब की शक्ति, केवल उस की तात्त्विक शक्ति नहीं है, बल्कि उस में उस उपादान (शब्द) का भी योग है जिस से वह निर्मित हुआ है। अतः बिम्ब शब्द से पहले हो सकता है, परन्तु काव्य-व्यापार में दोनों का द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध होता है। दोनों एक-दूसरे की शक्ति को

---

१. Soviet Literature—6 (1960); 127.

प्रभावित और निर्धारित करते हैं, यद्यपि इस सम्पूर्ण क्रिया में निर्णायक सत्ता बिम्ब की ही होती है।

रचना-प्रक्रिया में कभी-कभी ऐसा भी होता है कि मन में बिम्ब तो सहसा प्रकट हो गया, पर उस को बाह्य अभिव्यक्ति देनेवाला शब्द अनुपस्थित है। फिर उस उपयुक्ततम शब्द की खोज शुरू होती है जो उस बिम्ब की ध्वनि के सब से निकट पड़ता हो। यह खोज सदैव सफल ही नहीं होती। इस प्रकार कई शब्द सम्मुख आते हैं, कुछ देर तक की शक्तिमत्ता की मानसिक परीक्षा होती है और उन में से कोई एक अकस्मात् चुन लिया जाता है और शेष अस्वीकृत कर दिये जाते हैं। पर यह रूप-निर्माण की एक पद्धति है। दूसरी पद्धति अधिक सहज और स्वतःप्रेरित है। प्रायः बिम्ब शब्द के साथ ही जन्म ग्रहण करता है—सर्वथा अभिन्न तथा अविच्छेद्य रूप में। छायावादी कविता में पाये जानेवाले बिम्ब अधिकतर इसी रूप में मिलते हैं। इस के विपरीत प्रयोगवादी कविता में पहली पद्धति के आधार पर निर्मित बिम्बों की संख्या अधिक है। इन दोनों पद्धतियों में अन्तर करना वैसे तो बहुत कठिन है। पर वाक्य-विन्यास तथा शब्दों की पारस्परिक स्थिति के आधार पर दोनों में अन्तर करना सम्भव हो सकता है। इन पद्धतियों में कौन-सी उपयुक्त और कौन-सी अनुपयुक्त है, इस के बारे मे अन्तिम रूप से कुछ भी कहना अवैज्ञानिक होगा। क्योंकि सफल अथवा असफल होने की सम्भावना दोनों ही में है। एक कवि एक ही कविता में दोनों ही पद्धतियों से काम ले सकता है और यह भी सम्भव है कि अन्ततः वह एक ही परिणाम पर पहुँचे। बिम्ब की जटिल स्थिति तथा तत्कालीन कलापरक आवश्यकता ही अपने उपयुक्त पद्धति का चुनाव करती है।

शब्द अकेला नहीं होता, वह एक नियमबद्ध और लोकप्रचलित भाषा का अंग होता है। अतः काव्य के बाहर उस की एक अलग सामाजिक सत्ता भी होती है। वह जब भी काव्य में लाया जाता है तो अनिवार्यतः भाषा के संगठनात्मक नियमों और अपनी सामाजिक स्थिति से अनुशासित होकर आता है। साथ ही वह उस भाववस्तु से भी जुड़ा हुआ रहता है जिस के भीतर से बिम्ब प्रस्फुटित होता है। कवि शब्द का निर्माण नहीं करता, वह उसे 'पाता' है। निर्माण केवल बिम्ब का होता है। भाषा-शास्त्र मूर्तविधान की पद्धति का अध्ययन नहीं करता। उस की दृष्टि में प्रत्येक शब्द एक बोलचाल की भाषा और एक व्याकरणिक वाक्य का खण्ड है। चूँकि अध्ययन की यह पद्धति भाषाशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्तों पर आधारित है, इस लिए उस के अन्तर्गत शब्द कल्पना-व्यापार से अलग कर के, ठोस व्यावहारिक स्तर पर देखा जाता है। निस्सन्देह, एक शब्द जब काव्य में कल्पना-व्यापार का अंग बन कर आता है तो वह भाषाशास्त्रीय नियमों से सर्वथा असम्पृक्त नहीं होता। वहाँ पहुँच कर वह एक दूसरी ही श्रेणी में सम्मिलित हो जाता है जिस के अपने अलग कलागत और सौन्दर्यशास्त्रीय नियम हैं। ऐसी स्थिति में शब्द के स्वरूप तथा शक्ति का अध्ययन सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि

से ही सम्भव हो सकता है। भारत में ध्वनिवादियों ने और विशेषतः आनन्दवर्द्धन तथा अभिनवगुप्त ने शब्द को इसी दृष्टि से देखने का प्रयास किया है। आचार्य मम्मट ने भी व्याकरणिक शब्द तथा काव्यात्मक शब्द की ध्वनि में अन्तर किया है।[1] 'जो कल्पना-व्यापार के अन्तर्गत आती है' में समर्थ शब्द तथा अर्थ, दोनों से तात्पर्य यह कि काव्यगत शब्द को कला की श्रेणी के अन्तर्गत मान लेने के बाद ही, उस के स्वरूप की ठीक-ठीक व्याख्या की जा सकती है।

बिम्ब की एक बहुत बड़ी सीमा यह है कि वह भाषाशास्त्रीय नियमों से सर्वथा स्वतन्त्र नहीं हो सकता। उस को उन्हीं शब्दों के अन्तर्गत रूप ग्रहण करना पड़ता है जो किसी भी भाषा में प्रचलित होते हैं। वह उन ऐतिहासिक स्थितियों से भी बाधित होता है जो किसी भाषा की विकास-दिशा को निश्चित करती है। इस बात को एक उदाहरण से समझें। हिन्दी की खड़ीबोली कविता का आरम्भ भारतेन्दुयुग से माना जाता है। तब से लेकर द्विवेदीयुग की समाप्ति अर्थात् छायावाद के आगमन के पूर्व तक सम्पूर्ण हिन्दी कविता में सूक्ष्म कलात्मक बिम्बों का अभाव पाया जाता है। निस्सन्देह इस का कारण उस काल की ऐतिहासिक परिस्थितियों में ढूँढ़ा जा सकता है। इस विषय पर हम अगले अध्याय में विचार करेंगे। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि भारतेन्दुयुग की अर्द्धविकसित खड़ीबोली तथा द्विवेदीयुग की इतिवृत्तात्मक दृष्टि, दोनों ही स्थितियाँ बिम्ब के लिए अनुपयुक्त थीं। यह ठीक है कि कवि भाषा की व्यंजनाशक्ति का अपने साहसिक प्रयोगों के द्वारा विस्तार करता है। परन्तु वे सारे प्रयोग वह उस काल विशेष में प्रचलित उन नियमों के आधार पर करता है जो ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से भाषा के सम्पूर्ण ढाँचे को प्रभावित करते हैं। फिर प्रत्येक भाषा की अपनी कुछ सीमाएँ तथा विलक्षणताएँ भी होती हैं जो कल्पना-व्यापार को अलग से प्रभावित करती है। इसी लिए बिम्ब का स्वरूप भिन्न-भिन्न भाषाओं में अपनी कुछ अलग विशेषताएँ लिये होता है। फ्रान्सीसी भाषा, विशेषज्ञों के अनुसार, बिम्बनिर्माण की दृष्टि से सब से संवेदनशील और लचीली भाषा है। जर्मन भाषा, अमूर्त विचारों की अभिव्यक्ति में अपनी सहज वरिष्ठता के कारण, स्वभावतः चिन्तनप्रधान बिम्बों के लिए अधिक उपयुक्त है। अँगरेज़ी भाषा का शब्द-भाण्डार अपनी सम्पन्नता के कारण व्यंग्य तथा विरोधमूलक बिम्बों की सृष्टि करने में अधिक समर्थ है। इसी प्रकार हिन्दी भाषा की भी अपनी कुछ सीमाएँ तथा विशेषताएँ हैं जो अनिवार्यतः उस के बिम्बविधान को प्रभावित करती हैं। आधुनिक हिन्दी भाषा की सारी शक्ति उस की संयुक्त क्रियाओं की विविधता में निहित है। ध्यान से देखा जाये तो हिन्दी कविता के अधिकांश सफल बिम्बों की स्थिति संयुक्त क्रियाओं के आधार पर ही टिकी हुई दिखाई देगी। उर्दू भाषा

---

१. बुधैः वैयाकरणैः प्रधानभूतव्यङ्ग्यव्यंजकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः।

के काव्य में बिम्बग्रहण तथा चमत्कार-सृष्टि के लिए संयुक्त क्रियाओं की सूक्ष्म अर्थ-च्छायाओं का उपयोग व्यापक रूप से किया जाता है। पर इन दोनों की सीमा यह है कि आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की शब्दावली उन के पास अपेक्षाकृत कम है। इस अभाव के फलस्वरूप नवीन वैज्ञानिक सत्यों तथा युग के आन्तरिक विचार-संघर्षों को व्यक्त करने वाले बिम्ब यहाँ कम मिलते हैं। फिर कवि का अपना शब्द-ज्ञान भी बिम्ब की खोज में सहायक होता है। एक कवि का शब्द-भाण्डार जितना ही विशाल होगा उस के प्रत्यक्षीकरण का विस्तार तथा कल्पना-व्यापार की व्याप्ति उतनी ही अधिक होगी। जैसे-जैसे भाषा का विकास और काव्यदृष्टि में परिवर्तन होता जाता है वैसे-वैसे बिम्ब तथा शब्द का सम्बन्ध भी बदलता जाता है। प्रत्येक युग के बिम्बविधान की अपनी कुछ अलग रूपगत विशेषताएँ होती हैं। किसी भी स्थिति में बिम्ब और शब्द के सम्बन्ध को केवल भाषाशैली के आधार पर नहीं समझा जा सकता। दोनों के द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध को समझने के लिए काव्य के सम्पूर्ण बोधपक्ष का विवेचन आवश्यक है।

बिम्ब और विचार

बिम्ब के स्वरूप की व्याख्या पहले की जा चुकी है। यहाँ इतना और बताना आवश्यक है कि बिम्ब जब भी आता है, किसी गहरे विचार या जीवन-दृष्टि का संवाहक बन कर आता है। एक श्रेष्ठ बिम्ब जीवन के प्रत्यक्षात्मक तथा धारणात्मक दोनों ही गुणों से संयुक्त होता है। वह मन तथा बुद्धि दोनों को एक ही साथ तृप्त तथा समृद्ध करता है। विचारशून्य बिम्ब केवल यथार्थ के स्थूल पक्षों का उद्घाटन करता है, जिन की व्याप्ति प्रत्यक्ष इन्द्रिय-ग्राह्य वस्तुओं तक ही सीमित होती है। पर इन्द्रियों की शक्ति की भी अपनी सीमा होती है। हम बाह्य यथार्थ को एक सीमा तक ही देख सकते हैं और उस के बाद या उस के परे देखने के लिए कल्पना अथवा विचारशक्ति ही शेष रह जाती है। पर यथार्थ जीवन केवल उतना ही नहीं होता जितनी दूर तक इन्द्रियाँ पहुँचती हैं। वह उस के बाहर अनेक दिशाओं में दूर-दूर तक फैला रहता है। ऐन्द्रिय संवेदना की सीमा को अतिक्रान्त करते ही हम विचार-क्षेत्र में पहुँच जाते हैं।

पर काव्यगत विचार और दार्शनिक विचार में अन्तर होता है। दार्शनिक विचार वस्तुपरक, अमूर्त और तर्क पर आधारित होता है। उसका उद्देश्य होता है किसी विशेष दार्शनिक मत की व्याख्या प्रस्तुत करना। उस की अभिव्यक्ति के लिए एक विशेष प्रकार की पारिभाषिक पदावली की आवश्यकता पड़ती है। काव्यगत विचार अनुभूति-प्रेरित, मूर्त तथा स्वतःस्फूर्त होता है। उस का उद्देश्य होता है जीवन के किसी गहरे सत्य अथवा मूल्य का मूर्त प्रस्तुतीकरण। उनको सम्प्रेषित करने के लिए वह शब्दों को, उन के सम्पूर्ण जटिल अनुषंगों के साथ, प्रयुक्त करता है। काव्यगत विचारों की अभिव्यक्ति के लिए पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग को, पुराने आचार्यों ने 'अप्रतीत्व' दोष माना है। इससे स्पष्ट है कि दोनों प्रकार के विचारों में केवल माध्यम का ही नहीं, बल्कि मौलिक

उद्देश्य का अन्तर है।[1] दोनों अलग-अलग दो मनःस्थितियों के सूचक होते हैं और उन के प्रभाव तथा प्रक्रिया में भी अन्तर होता है। एक प्रकार से कवि तथा दार्शनिक दोनों का झुकाव दो विपरीत दिशाओं में होता है। जो वस्तु दार्शनिक के लिए अमूर्त तथा स्वतःपूर्ण होती है वह कवि के कार्यक्षेत्र में पहुँच कर सहसा रूपान्तरित हो जाती है और एक नये बिम्बात्मक साँचे में ढल कर सामने आती है। महत्त्वपूर्ण यह है कि काव्यगत विचार एक ऐसी जीवित ठोस वस्तु के रूप में उपस्थित किया जाये कि वह न केवल बुद्धि अथवा मन का विषय रहे, बल्कि ऐन्द्रिय-बोध के स्तर पर भी अनुभव किया जा सके। संवेदना तथा विचार के इस चिरन्तन द्वन्द्व को केवल बिम्ब के द्वारा हल किया जा सकता है। वस्तुतः बिम्ब का जन्म ही स्थूल यथार्थ तथा सूक्ष्म विचारों के तनाव के मध्य होता है। इसलिए उस पर दोनों की छाप होती है। वैचारिक संकेतों से शून्य बिम्ब केवल अव्यवस्थित ऐन्द्रिय प्रभावों को उपस्थित भर करते हैं। वे किसी गहरे अर्थ की ओर संकेत नहीं करते। विचार ही वह सूत्र है जो अलग-अलग ऐन्द्रिय चित्रों को व्यापक एकता के सूत्र में संग्रथित करता है। आचार्य शुक्ल जैसा रसवादी समीक्षक भी विचार अथवा, उन्हीं के शब्द में कहें तो, ज्ञान का कलागत महत्त्व स्वीकार करता है :

> "नाना भावों के आलम्बन आरम्भ में ज्ञानेन्द्रियाँ उपस्थित करती हैं, फिर ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त सामग्री से प्रतिमा या कल्पना उन का भिन्न-भिन्न रूपों में समन्वय करती है। अतः यह कहा जा सकता है कि ज्ञान ही भावों के संचार के लिए मार्ग खोलता है। ज्ञान-प्रसार के भीतर से ही भाव-प्रसार होता है।"[2]

आचार्य शुक्ल का यह मत ध्यान देने योग्य है कि ज्ञान तथा भाव, दोनों परस्पर सापेक्ष हैं। मानव की बौद्धिक शक्ति के विकास के साथ ही उस की भावात्मक शक्ति का भी विकास हुआ है। एक के अविकसित रह जाने पर दूसरे का स्वाभाविक विकास असम्भव है। इसी प्रसंग में उन्होंने आगे आधुनिक काव्य में नये वैज्ञानिक विचारों के समावेश की भी बात उठायी है। पर साथ ही उन्होंने इस आवश्यकता पर भी बल दिया है कि काव्य में उन विचारों का 'मूर्त तथा सजीव चित्रण' हो और उन का इस प्रकार प्रत्यक्षीकरण कराया जाये कि वे 'हमारे किसी भाव का आलम्बन हो सकें।' तात्पर्य यह कि वे विचार अनुभूत हों और पाठक के भीतर भी वैसी ही अनुभूति जगा सकें। अँगरेज़ी के प्रसिद्ध आधुनिक कवि-समीक्षक श्री टी० एस० इलियट ने 'अनुभूत विचारों' की अभिव्यक्ति को कवि की संवेदना शक्ति का सब से बड़ा प्रमाण

---

१. The difference between philosophical and poetical thought consists precisely in this difference of purpose, whether ideas are used to create a poetical state of mind or to expound a philosophy. *Thought in Twentieth Century, English Poetry*—Raymond Tschumi; 14.

२. चिन्तामणि (दूसरा भाग); १९७.

बताया है। रॅमैण्टिक कविता के प्रति उन की सब से बड़ी आपत्ति यही है कि वह अनुभूति तथा विचार को अलग-अलग व्यक्त करती है।[1] इस 'विश्लिष्ट संवेदना-पद्धति' से मुक्ति पाने के लिए यह आवश्यक है कि कविता में विचारों के निष्कर्ष न लाये जायें, केवल उन के पीछे की चिन्तन-प्रक्रिया प्रतिबिम्बित हो। ऐसी स्थिति में जो विचार आयेगा वह क्रियात्मक अनुभव के रूप में होगा और बुद्धिगम्य न होकर 'दृश्य' अर्थात् बिम्ब होगा। इसी विशेषता के कारण काव्यगत विचार से सहमत-असहमत होने का प्रश्न ही नहीं उठता। हम उस से विरुद्ध मत रखते हुए भी उसे पढ़ सकते हैं और आनन्द पा सकते हैं।

अब एक ही मुख्य प्रश्न रह जाता है कि विचार से बिम्ब तक पहुँचने की प्रक्रिया क्या है? इस बात को समझने से पहले इस प्रश्न के दूसरे पहलू को भी समझ लेना उचित होगा। क्या बिम्ब से चल कर विचार तक पहुँचा जा सकता है? साहित्य में ये दोनों ही पद्धतियाँ पायी जाती हैं। कुछ कविताएँ ऐसी होती हैं जो शुरू तो होंगी किसी बिम्ब अथवा चित्र से, पर धीरे-धीरे एक सूक्ष्म विचारलोक में समाप्त हो जायेंगी। पर कुछ ऐसी कविताएँ भी हो सकती हैं जिन की प्रक्रिया इस के विपरीत हो। पंत की अधिकांश कविताओं में पहली पद्धति पायी जाती है और निराला की लम्बी कविताओं में दूसरी। निराला के रूप-विन्यास की यह खास विशेषता है कि उन की कविता का आरम्भ तो होगा किसी तथ्य-कथन अथवा सामान्य उक्ति से—दिवसावसान का समय, सखि, वसन्त आया, वह तोड़ती पत्थर—परन्तु पूरी कविता एक क्रमिक आरोह के साथ धीरे-धीरे यथार्थ स्थितियों (बिम्बों) से जुड़ती जायेगी। अमूर्त से मूर्त की ओर तथा मूर्त से अमूर्त की ओर जाने की यह प्रक्रिया, यथार्थ के प्रति कवि के निजी दृष्टिकोण तथा उस के उस विशेष संवेदन-यन्त्र से सम्बन्ध रखती है जिस के सहारे वह वस्तु का साक्षात्कार करता है।

कभी-कभी यह भी होता है कि एक लम्बे समय से मन में पड़ा हुआ कोई विचार अकस्मात् किसी विशेष सन्दर्भ में मूर्त हो उठता है और मस्तिष्क से उतर कर ऐन्द्रिय स्तर पर आ जाता है। श्री स० ही० वात्स्यायन 'अज्ञेय' ने अपनी एक कविता की रचना-प्रक्रिया की व्याख्या करते हुए विचार से बिम्ब तक पहुँचने की इस पद्धति का बहुत स्पष्ट ब्यौरा उपस्थित किया है। कविता का शीर्षक है 'हिरोशिमा' और उस का मुख्य बिम्ब है 'सूरज' जो क्षितिज से न उठकर नगर के चौक से ऊपर उठता है। स्पष्ट ही यहाँ अणु-विस्फोट की ओर संकेत है :

> एक दिन सहसा
> सूरज निकला
> अरे क्षितिज पर नहीं
> नगर के चौक।

१. *Selected Prose*; 117.

धूप बरसी
पर अन्तरिक्ष से नहीं,
फटी मिट्टी से ।
छायाएँ मानवजन की
दिशाहीन
सब ओर पड़ीं—वह सूरज
नहीं उगा था पूरब में, वह
बरसा सहसा बीचोबीच नगर के
कालसूर्य के रथ के
पहिये ही ज्यों अरे टूटकर
बिखर गये हों दसों दिशा में ।····

इस कविता की व्याख्या करते हुए कवि ने लिखा है कि वह विज्ञान का विद्यार्थी रहा है और रेडियमधर्मी तत्त्वों के प्रभाव से भी परिचित है। फिर उस ने जब हिरोशिमा में अणुबम गिरने का समाचार पढ़ा तो व्यापक मानवीय क्षति की आशंका से विक्षुब्ध भी हुआ। उस ने इस समस्या पर बहुत सोचा। पर उस समय उस ने इस विषय पर कोई कविता नहीं लिखी। कई वर्ष बाद जापान जाने का अवसर मिला और वहाँ जाकर उस ने वे अस्पताल देखे जहाँ रेडियम-पदार्थ से आहत लोग वर्षों से कष्ट पा रहे थे। पर वह कविता जो भविष्य में लिखी जानेवाली थी अब भी विचार के रूप में ही थी। इस के बाद जो कवि के साथ घटित हुआ वह इस प्रकार है :

> "फिर एक दिन वहीं सड़क पर घूमते हुए देखा कि एक जले हुए पत्थर पर एक लम्बी उजली छाया है—विस्फोट के समय कोई वहाँ खड़ा रहा होगा और विस्फोट के बिखरे हुए रेडियम-धर्मी पदार्थ की किरणें उस से रुद्ध हो गयी होंगी; जो आस-पास के आगे बढ़ गयीं उन्होंने पत्थर को झुलसा दिया, जो उस व्यक्ति पर अटकीं उन्होंने उसे भाप बना कर उड़ा दिया— इस प्रकार समूची ट्रैजिडी जैसे पत्थर पर लिख गयी।—उस छाया को देख कर जैसे एक थप्पड़-सा लगा। अवाक् इतिहास जैसे भीतर कहीं एक जलते हुए सूरज-सा उगा और डूब गया। मैं कहूँ कि उस क्षण में अणुविस्फोट मेरे अनुभूति-प्रत्यक्ष में आ गया—एक अर्थ में मैं ही स्वयं हिरोशिमा के विस्फोट का भोक्ता बन गया।"[1]

हिरोशिमा-काण्ड के प्रति कवि की सारी पीड़ा उस 'जले हुए पत्थर' के प्रत्यक्षीकरण के पूर्व तक एक बौद्धिक सहानुभूति के रूप में थी। ज्यों ही उस ने उस मूर्त स्मारक को देखा उस के भीतर का वह धुँधला-सा विचार आलोकित हो उठा—

१. आधुनिक कविताएँ (प्रथम संस्करण, १९५९); पृ० २४।

एक सूर्य-बिम्ब के रूप में। तात्पर्य यह कि उस ने पहली बार उस विचार को ऐन्द्रिय स्तर पर अनुभव किया और एक बार जब अपना ही अन्तर आँखों के आगे दृश्य बन गया तो कविता सहज-सम्भव हो गयी। ध्यान से देखा जाये तो जो विचार कविता लिखने से पूर्व एक मानसिक विक्षोभ के रूप में था, कविता में आने के बाद उस में एक मूलभूत परिवर्तन आ गया—वह एक बिम्बात्मक संघटन का अंग बन गया। इस प्रकार वह एक तटस्थ विचार न रह कर सक्रिय सह-अनुभव बन गया। कविता का यही विशेष गुण है जो उसे दर्शन अथवा विज्ञान से अलग करता है। पर विचार से बिम्ब तक पहुँचने की जिस प्रक्रिया का ऊपर उल्लेख किया गया है वह एक विशेष प्रकार की ऐतिहासिक परिस्थिति और मनःस्थिति से सम्बन्ध रखती है। सामान्यतः प्रत्येक विचार कवि के निकट एक बिम्ब होता है। वह उसे केवल अनुभव नहीं करता, 'देखता' है। इस प्रकार एक ही विचार के विभिन्न अनुषंगों को जोड़नेवाले अनेक बिम्ब एक बिन्दु पर आ मिलते हैं और उन के पारस्परिक संघात तथा तनाव से एक मूर्त तथा विचार-पूर्ण कविता का जन्म होता है। परन्तु विचार के भी कई स्तर होते हैं। उस के सभी स्तर काव्य के अन्तर्गत नहीं आ पाते। मनोविज्ञान ने सामान्यतः तीन स्तर माने हैं :

> **प्रत्यक्षात्मक विचार**—यह विचार-प्रक्रिया का पहला स्तर है और मानव तथा पशुओं में समान रूप से पाया जाता है। यह वस्तु के प्रत्यक्षज्ञान पर आधारित होता है और इस में कल्पना अथवा धारणात्मक शक्ति का योग नहीं होता। यह एक प्रकार की नामहीन ज्ञान की अवस्था है जिस में शब्दों का माध्यम आवश्यक नहीं होता।
>
> **कल्पनात्मक विचार**—विचार करने की यह शक्ति केवल मनुष्यों में होती है। पशु इस से वंचित होते हैं। विचार के इस स्तर में विशेषीकरण की प्रवृत्ति होती है और प्रत्येक विचार अविच्छिन्न रूप से नाम तथा रूप दोनों से सम्बद्ध होता है। वह मानस-बिम्ब के रूप में हमारे सम्मुख आता है और अपनी उत्तेजक शक्ति से मन में अनेक दूसरे अनुभव-बिम्बों को जगाता है। चिन्तन-प्रक्रिया में इस प्रकार के बिम्बात्मक अनुभव बहुत सहायक होते हैं।
>
> **धारणात्मक विचार**– यह विचार का वह स्तर है जब उस का सम्बन्ध बाह्य वस्तु तथा उस की मानसिक प्रतिमूर्ति (बिम्ब) दोनों से टूट जाता है। एक प्रकार से इसे विशुद्ध शब्दज्ञान भी कह सकते हैं। दर्शन तथा विज्ञान धारणात्मक विचार-पद्धति से ही काम लेते हैं।

काव्य के क्षेत्र में विचार का केवल दूसरा स्तर ग्राह्य होता है। काव्यगत विचार का अर्थ ही होता है कल्पनात्मक विचार। अतः जब यह कहा जाता है कि कविता को विचारशून्य नहीं होना चाहिए तो उस का तात्पर्य यह होता है कि उसे अनिवार्यतः संवेदनाओं के साथ-साथ उन मानसिक विचारों को भी प्रतिबिम्बित करना

चाहिए जो लिखते समय कवि के भीतर क्रियाशील होते हैं। इस के लिए यह बिलकुल आवश्यक नहीं कि कवि दार्शनिक हो अथवा किसी पूर्व-निर्धारित विचारधारा से प्रेरणा ग्रहण करे। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कविता में परिपक्व विचार से अधिक विचार-प्रक्रिया का महत्त्व होता है। दार्शनिक विचारों में परस्पर-विनिमय हो सकता है। परन्तु चूँकि प्रत्येक व्यक्ति के सोचने का ढंग सर्वथा भिन्न तथा विलक्षण होता है, अतः एक विचार-प्रक्रिया की जगह दूसरी विचार-प्रक्रिया नहीं ले सकती। एक अँगरेज़ी आलोचक के शब्दों में कहें तो "काव्यगत विचार न तो दर्शन की एक अनावश्यक शोभा है, न ही काव्य का कोई अशुद्ध उपादान। वस्तुतः वह चिन्तन और बिम्ब, अर्थ और प्रतीक तथा अन्तःसंस्कार और बाह्य अभिव्यक्ति के मध्य एक सन्तुलन है।"[1]

बिम्बनिर्माण का पहला स्तर : निर्वैयक्तिक संवेदना

बिम्ब की उत्पत्ति दो स्तरों पर होती है। उस का पहला स्तर है मन जहाँ वह पहले-पहल बाह्य यथार्थ के प्रतिबिम्ब के रूप में भासित होता है। पर बिम्ब का यह रूप शुद्ध मनोमय होता है। अतः काव्य के अन्तर्गत उस पर विचार नहीं किया जाता। काव्यगत बिम्ब बाह्य यथार्थ का प्रतिबिम्ब मात्र नहीं होता। वह एक सृजन-प्रक्रिया से परिष्कृत होकर कला की श्रेणी में पहुँचता है और वहाँ से शब्द-बद्ध होकर साहित्य की सीमा में प्रवेश करता है। यहाँ पहुँचकर वह बाह्य यथार्थ की मानसिक प्रतिकृति नहीं रह जाता, स्वतः कृति हो जाता है। साहित्य का आलोचक बिम्ब के इस दूसरे रूप को महत्त्व देता है। पर काव्यगत बिम्ब के निर्माण की पद्धति भी सदा एक-सी नहीं होती, न ही उस के संघटन का नियम ही एक-सा होता है। बिम्ब कहाँ से आते हैं? कवि की सच्ची और गहरी अनुभूतियों से। अनुभूतियों के भी दो मुख्य क्षेत्र होते हैं : जीवन तथा परिवेश। और गहरे जाने पर इन दोनों के भी दो उपभेद किये जा सकते हैं। जीवन के अन्तर्गत कवि का एकान्त आन्तरिक जीवन और बाह्य सामाजिक सम्बन्ध, दोनों ही आते हैं। इसी प्रकार परिवेश भी दो भागों में विभक्त होता है : देश तथा काल। कवि की अनुभूतियों का सम्बन्ध इन सब के साथ होता है और उस की कल्पना-शक्ति इन सब के जटिल सम्बन्धों के भीतर से बिम्ब के बारीक सूत्रों को एकत्र करती है। पर इस के लिए कवि के पास उस गहरी अन्तर्दृष्टि का होना आवश्यक है जो प्रत्यक्ष दीखनेवाली वस्तुओं के आर-पार देख सकती है। बिम्ब के निर्माण-पक्ष पर अपने यहाँ बहुत कम विचार हुआ है। आचार्य शुक्ल ने केवल संश्लिष्ट बिम्बयोजना की आवश्यकता पर बल दिया था। वे उस की सूक्ष्म निर्माण-प्रक्रिया की व्याख्या करने से विरत ही रहे। हिन्दी में श्रेष्ठ कलात्मक बिम्बों का निर्माण सर्वप्रथम छायावादी काव्य में हुआ। पर उस के कवियों ने भी उस की आन्तरिक विधि पर प्रकाश डालने का प्रयत्न नहीं किया। अतः बिम्बनिर्माण की प्रक्रिया के सम्बन्ध में हमारे पास जो प्रमाण

---

१. *Thought in Twentieth Century English Poetry*—Raymond Tschumi ; 18.

हैं वे अधिकतर पाश्चात्य कवियों अथवा मनोवैज्ञानिकों के ही हैं। बाद के नये कवियों ने भी जब कभी रचना-प्रक्रिया की समस्या पर विचार किया, बिम्ब के प्रश्न को प्रायः अछूता ही छोड़ दिया। पश्चिम के जिन विचारकों तथा कवियों ने भी इस समस्या पर विचार किया है वे भी विम्बनिर्माण की अभेद्य रहस्यमयता को स्वीकार करते हैं। क्योंकि तीव्र भावावेश के जिस विशिष्ट क्षण में यह क्रिया-व्यापार होता है वह लगभग अर्द्धचेतन जैसी अवस्था होती है और एक बार प्रतिबिम्बित हो जाने के बाद वह क्षण जीवन में फिर कभी नहीं जाता। इस सम्बन्ध में टी० एस० इलियट की निम्नलिखित पंक्तियाँ महत्त्वपूर्ण हैं :

> "बिम्बनिर्माण का एक बहुत छोटा-सा भाग कवि के अध्ययन से आता है। उस की उत्पत्ति उस के बचपन से लेकर प्रौढ़ वय तक के सम्पूर्ण संवेदनशील जीवन के भीतर से होती है। क्योंकि श्रुत, इष्ट और अनुभूत वस्तुओं के भीतर से कुछ विशेष बिम्ब ही एक तीव्र भावावेग के साथ हमारे मन में उभरते हैं। एक चिड़िया का गीत, एक मछली की उछाल, एक खास स्थान और एक खास समय, किसी एक फूल की गन्ध, जर्मनी के पहाड़ी पथ से उतरती हुई एक बूढ़ी स्त्री, फ्रांस के एक छोटे-से रेलवे स्टेशन पर देखे गये ताश खेलते हुए छह आवारे और एक पनचक्की—इन स्मृतियों का प्रतीकात्मक मूल्य हो सकता है। पर उस के बारे में हम कुछ भी नहीं कह सकते। क्योंकि ये बिम्ब जिन गहरी अनुभूतियों के प्रतिनिधि बन कर आते हैं, उन के भीतर झाँक सकने की सामर्थ्य हम में नहीं है।"[१]

उपर्युक्त उद्धरण में आये हुए सारे बिम्ब कवि इलियट की एक प्रसिद्ध कविता में प्रयुक्त हुए हैं।[२] इलियट कवि होने के साथ एक श्रेष्ठ तलस्पर्शी समालोचक भी हैं। परन्तु उस की पैनी दृष्टि भी बिम्बनिर्माण की रहस्यमयता का भेदन एक सीमा तक ही कर पाती है और उस के बाद वह मानव बुद्धि की सीमा स्वीकार कर लेता है। तात्पर्य यह कि बिम्बविधान की समस्त क्रिया मन के उपचेत-नस्तर पर घटित होती है। उस समय मन की सारी शक्तियाँ उस सूक्ष्म क्रिया को संचालित करने में लगी रहती हैं। अतः अलग से उस का कोई स्पष्ट बोध नहीं हो पाता। यह सारा व्यापार बहुत कुछ स्वप्न की तरह होता है, जिसमें मन का चेतन स्तर प्रायः निष्क्रिय रहता है। स्वप्नबिम्बों के आधार पर आधुनिक काव्य में बिम्बविधान की एक अलग पद्धति ही चल पड़ी है जिस पर हम आगे विचार करेंगे। पर यह सिद्धान्त केवल आधुनिक काव्य, और उस में भी विशेषतः स्वच्छन्दतावादी काव्य, पर लागू होता है। प्राचीन काव्य की रचना पद्धति इस से भिन्न हुआ करती थी। उस में तर्क तथा विवेक-बुद्धि का हाथ प्रमुख था। विषय-

---

१. *Selected Prose*; 95.

२. *Journey of the Magi*.

वस्तु के चयन से लेकर अन्तिम निर्माण तक कवि का चेतन विवेक और मर्यादाबोध दोनों ही जाग्रत् रहते थे। वह अपनी कविता का निर्माता तथा अनुशासक दोनों ही होता था। इसी लिए पुरानी कविता का रूपविधान इतना सीधा और सुस्पष्ट है कि उस के अलग-अलग तत्त्वों की व्याख्या सरलता से की जा सकती है। प्राचीन समीक्षा-प्रणाली में रस, छन्द, अलंकार, गुण तथा रीति इत्यादि का विभाजन भी इसी लिए आसानी से स्वीकृत हो गया था। पर आधुनिक समीक्षक कविता को एक सम्पूर्ण आवयविक व्यवस्था (ऑर्गैनिक होल) मानता है। यहाँ तक कि इधर कुछ नये समीक्षकों ने अलग-अलग बिम्बों की छानबीन की अपेक्षा सम्पूर्ण कविता को एक 'बिम्बात्मक इकाई' के रूप में देखने पर अधिक बल दिया है। मतलब यह कि किसी कविता में आये हुए समस्त बिम्ब किसी एक ही मूलभूत बिम्ब के प्रति समर्पित होते हैं जो उस सम्पूर्ण कविता का मुख्य संकेत होता है।

सभी प्रकार की कलात्मक सृष्टियों के पीछे कोई न कोई तीव्र मानवीय अनुभूति होती है। अनुभूति सदा किसी वस्तु के प्रति और किसी वस्तु के लिए होती है। उस का संकेत अनिवार्यतः बाह्य यथार्थ की ओर होता है। संवेग (इमोशन) और अनुभूति में यदि अन्तर करना आवश्यक हो तो कहा जा सकता है कि इन में से पहला व्यक्ति अपनी रुचि-अरुचि, प्रेम और घृणा आदि भावों से सम्पृक्त होता है और दूसरा इन सब से असम्पृक्त और यथार्थोन्मुख। एक आलोचक के अनुसार अनुभूति को केवल इसी अर्थ में 'व्यक्तिगत' कहा जा सकता है कि वह एक व्यक्ति के भीतर उत्पन्न होती है।[1] तात्पर्य यह कि संवेग आत्मपरक होता है और अनुभूति अपेक्षाकृत वस्तुपरक। कविता का जन्म प्रायः अनुभूति के तीव्रतम क्षणों में होता है, जो एक प्रकार की निर्वैयक्तिक अवस्था है। कीट्स के शब्दों में कहें तो वह एक प्रकार की भावात्मक अनिश्चयता की स्थिति होती है—एक ऐसी स्थिति जिस में कवि अपनी भाव-सत्ता को किसी बाह्य आकार के अनुरूप ढाल सकने की सामर्थ्य रखता है। कीट्स ने आत्म-रूपान्तरण की इस मौलिक शक्ति को 'नकारात्मक सामर्थ्य' (नेगेटिव केपेबिलिटी) की संज्ञा दी है। नकारात्मक इस अर्थ में कि कवि की निजी सत्ता उस अवस्था में शून्य होती है और वह अपने सम्मुख जो कुछ भी देखता है—पेड़, पक्षी, आकाश, नदी, निर्झर—उस अनिश्चयात्मक स्थिति में वही बन जाता है। अनजाने ही कीट्स का यह सिद्धान्त सांख्यों की प्रत्यक्ष-कल्पना से बहुत मिलता-जुलता है। सांख्य के अनुसार द्रष्टा का द्रवीभूत (जिस का अपना कोई आकार न हो अर्थात् नकारात्मक) अन्तःकरण इन्द्रियरूपी नालिकाओं से हो कर जिस वस्तु तक पहुँचता है उसी का आकार धारण कर लेता है। पर यह 'नकारात्मक सामर्थ्य' सहज ही नहीं आ जाती। इस के लिए बाह्य यथार्थ के प्रति अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व को अत्यधिक संवेदनशील बनाने की आवश्यकता होती है, ताकि कवि

---

१. "Feeling is personal only in the sense that it is generated in a person". *Poetic Process*—George Whalley; 67.

का मानसिक धरातल इतना पर्युत्सुक और पारदर्शी हो जाये कि वह प्रत्येक वस्तु को देश और काल, दोनों ही आयामों में प्रतिबिम्बित कर सके।

परन्तु विशुद्ध अनुभूति की ऐसी निर्वैयक्तिक मनोदशा कभी-कभी ही उपलब्ध होती है। एक तरह से कवि का सारा जीवन अनुभूति की उस चरम अवस्था को उपलब्ध करने के लिए एक अनवरत प्रयास होता है। जब कभी वह अवस्था आती है तो एक क्षणिक विद्युत् प्रकाश की तरह दूर-पास की सारी वस्तुओं के आकार सहसा स्पष्ट हो जाते हैं। पर सम्पूर्ण काव्यसृष्टि उसी आलोक क्षण में नहीं हो जाती। वह कविता का केवल प्रथम बिन्दु होता है जिस के विकास की दिशा कवि के निकट अभी स्पष्ट नहीं होती। अन्धकार पहले से भी अधिक घना हो जाता है, जिस में एक अनवरत खोज चलती रहती है—उस क्षणिक आलोक केन्द्र को पुनः पा लेने की। शब्द इस अन्धकार में सुदूर ध्वनिसंकेत की तरह कवि की सहायता करते हैं। वह कुछ पाता है और बहुत कुछ खो देता है। खोने और पाने की यह प्रक्रिया देर तक चलती रहती है। इस पूरी प्रक्रिया के पीछे एक सूक्ष्म आलोचनात्मक शक्ति भी काम करती रहती है जो प्रत्येक खोज के खरे-खोटेपन की तत्काल परीक्षा करती है। जो वस्तु तत्कालीन आवश्यकता के अनुकूल ठहरती है वह रख ली जाती है। जिस की संगति विषय की रूप-गति के साथ नहीं बैठती वह निर्ममतापूर्वक छोड़ दी जाती है, फिर चाहे वह वस्तु कितनी ही मूल्यवान् क्यों न हो। पर वह सूक्ष्म आलोचनात्मक शक्ति कभी भी रचना की स्वाभाविक क्रिया में बाधा नहीं डालती। वह सारे व्यापार से तटस्थ रहती है और केवल उस निर्मित वस्तु की पड़ताल करती है जिसे कल्पना काट-छाँट कर उस के सामने रख देती है। धीरे-धीरे सम्पूर्ण क्रिया एक स्पष्टतर दिशा की ओर बढ़ती है जो बिलकुल आकस्मिक होती है। बहुत से अनुभवों, स्मृतियों और रूपाकारों के भीतर से एक अधिक सार्थक और जटिल आकार उभरता हुआ दिखाई देता है। यद्यपि वह उन सब के सामूहिक प्रभाव से उत्पन्न होता है, पर उन में से किसी 'एक' का भी अपना आकार नहीं होता। फिर वे अनुभव और स्मृतियाँ भी विच्छिन्न हो जाती हैं और केवल वह आकार रह जाता है जिसे अचानक एक 'स्थानीय आवास' (लोकल हैबिटेशन) और एक नाम दे दिया जाता है।[१] स्थानीयता और नाम से सम्पृक्त होते ही वह धुँधला-सा अनिश्चित आकार एक जीवन्त और अर्थपूर्ण बिम्ब बन जाता है।

---

१. The pcet's eye in a fine frenzy rolling
Both glance from to earth,
From earth to heaven;
And as Imagination bodies forth
The forms of things unknown the poet's pen
Turns them to shapes
And gives to airy nothing
A local habitation and a name.
Shakespeare in
A Mid-summer Night's Dream

बिम्बनिर्माण की प्रक्रिया का यह एक धुँधला-सा मानसिक चित्र है। स्पष्ट और सुनिश्चित समीक्षा की शब्दावली में इस प्रक्रिया का विश्लेषण प्रायः असम्भव है। कदाचित् इसी लिए आई० ए० रिचर्ड्स जैसे मर्मग्राही आलोचक भी इस बिम्बनिर्माण की प्रक्रिया को एक प्रकार की 'अर्द्ध-अन्धविश्वासमयी पद्धति' मानते हैं। तात्पर्य यह कि साहित्यिक आलोचक केवल शब्दबद्ध बिम्ब के स्वरूप की ही व्याख्या कर सकता है, वह उस के अतीत की व्याख्या नहीं कर सकता। अधिक से अधिक उस से सम्बन्धित ऐतिहासिक तथ्यों की ओर संकेत किया जा सकता है। कुछ विशेष स्थितियों में कवि के अपने स्पष्टीकरण भी सहायक हो सकते हैं। पर कठिनाई यह है कि एक संवेदनशील कवि जब भी उस अवस्था की व्याख्या करने बैठेगा तो वह केवल उस की स्मृतियों की चर्चा करेगा अथवा दो-एक तथ्यपरक सूचनाएँ दे देगा। पर उस गतिशील क्रिया-व्यापार को उस की सम्पूर्ण जटिलता के साथ केवल स्मृति के आधार पर नहीं उद्घाटित किया जा सकता। अतः साहित्य का आलोचक अधिक से अधिक बिम्बों के पारस्परिक सम्बन्ध की विवेचना कर सकता है। या थोड़ा और गहरे उतर कर उन के आन्तरिक संघटन के नियमों की परीक्षा कर सकता है।

बिम्बनिर्माण का दूसरा स्तर : स्मृति

स्मृति सभी प्रकार के बिम्बों का उद्‌गम स्रोत है। जॉन लिविंगस्टॅन लॉवेस के शब्दों में वह एक कूप के समान होती है जिस में बाह्य यथार्थ के सारे अनुभव और ऐन्द्रिय प्रभाव परस्पर असम्बद्ध रूप में पड़े रहते हैं। कवि की अन्तर्दृष्टि उस कूप में पड़े हुए बिम्बों और नामहीन रूपों को ऐक्यविधायिनी कल्पनाशक्ति के द्वारा संकलित और संयोजित करती है।[1] वस्तुतः यह स्मृतिकूप समस्त कल्पनात्मक सृष्टियों का मूल स्रोत है जिस के अभाव में अमूर्त भावों और विचारों का रूप विधान हो ही नहीं सकता। पर स्मृति में वह सब कुछ संचित नहीं होता जिसे हम देखते-सुनते अथवा अनुभव करते हैं। वह केवल विशिष्ट और सार्थक अनुभवों को पकड़े रहती है और शेष बहुत-सी सहज और सामान्य संवेदनाएँ व्यक्तिगत अवचेतन के भीतर समाहित हो जाती हैं। पर वे सर्वथा विलीन हो जाती हों, ऐसा नहीं। कभी-कभी अकस्मात् ऐसा होता है कि हम यदि किसी विशेष प्रसंग को प्रकट करना चाहते हैं और उस से सर्वथा भिन्न तथा विपरीत दिशा से कोई एकदम सामान्य-सी भूली हुई स्मृति सहसा चेतना में कौंध जाती है, तब उस समय उस के महत्त्व का ज्ञान नहीं होता, पर एक समर्थ कवि जब उस सामान्य और हलकी-फुलकी स्मृति को एक बिम्बात्मक संगठन के भीतर काव्यगत

---

१. "...There enter into imaginative creation three, which reciprocally interplay: the Well, the Vision and the Will. Without the Vision the chaos of elements remains a chaos, and the Form sleeps for ever in the vast chambers of unborn designs." *The Road to Xanadu*—John Livingston Lowes; 432.

साँचे में ढाल देता है तो उस में एक अतिरिक्त तीव्रता आ जाती है। वैसी स्थिति में उन स्मृतियों का प्रतीकात्मक मूल्य होता है और पाठक उन के बीच की दूरियों को व्यक्तिगत अनुषंगों से भर देता है। 'राम की शक्ति-पूजा' की निम्नलिखित पंक्तियों में आये हुए स्मृति-बिम्बों में अनुभूति का वैसा ही आकस्मिक वेग है :

> याद आया उपवन
> विदेह का,–प्रथम स्नेह का लतान्तराल मिलन
> नयनों का नयनों से प्रिय गोपन सम्भाषण,
> पलकों पर नव पलकों का प्रथमोत्थान-पतन
> काँपते हुए किसलय,–झरते पराग-समुदय
> गाते खग नवजीवन-परिचय, तरु-मलय-वलय
> ज्योतिः प्रभात स्वर्गीय-ज्ञात छवि प्रथम स्वीय
> जानकी-नयन-कमनीय प्रथम कम्पन तुरीय।

युद्धस्थल की पृष्ठभूमि में रख कर देखने पर ये सारे बिम्ब राम की तत्कालीन मनःस्थिति के विरुद्ध दिखाई देंगे। पर वस्तुतः कवि ने इन मुक्त बिम्बों की योजना इसी विरोध-मूलक सौन्दर्यसृष्टि के उद्देश्य से की है। विस्तृत युद्ध का मैदान और उस में पराजय की आशंका से उद्विग्न राम के मन में उमड़नेवाले ये असम्बद्ध स्मृतिबिम्ब—यह सम्पूर्ण संघटन उस विशेष क्षण की द्वन्द्वात्मक मनःस्थिति के सर्वथा अनुकूल है।

परन्तु सभी प्रकार की स्मृतियाँ काव्य नहीं बन पातीं। उन्हें एक लम्बी मानसिक प्रक्रिया से छन कर आना पड़ता है। प्रसिद्ध जर्मन कवि रेनर मारिया रिल्के ने संचयन, संरक्षण, विस्मरण तथा पुनः आवाहन—काव्य में आने से पूर्व स्मृति के ये चार स्तर माने हैं। संचयन तथा संरक्षण तो स्मृति के सामान्य गुण हैं और इन के लिए कवि का संवेदनशील होना काफ़ी है। पर विस्मरण तथा पुनः आवाहन के लिए एक विशेष प्रकार की शक्ति अपेक्षित होती है। रिल्के ने उसे धैर्य और प्रतीक्षा की शक्ति कहा है, जो सहजलब्ध नहीं होती। विशुद्ध स्मृति की अवस्था तक पहुँचना सरल नहीं होता। कला के स्तर पर यह एक बहुत बड़ी समस्या है—अपने ही अतीत में एक प्रकार के मानसिक प्रत्यावर्तन की समस्या। स्वयं रिल्के के शब्दों में :

> "मात्र एक कविता लिखने के लिए यह आवश्यक है कि कवि बहुत से नगरों और बहुत-सी वस्तुओं से परिचित हो, बहुत से पशुओं और पक्षियों की उड़ान तथा उन सूक्ष्म भंगिमाओं से परिचित हो जिन्हें एक छोटा-सा फूल खिलने से पूर्व सूर्योदय के प्रति व्यक्त करता है। उस में यह शक्ति होनी चाहिए कि वह विचार के स्तर पर अज्ञात देश की सड़कों, अप्रत्याशित साक्षात्कारों, अलगाव के विस्मृत क्षणों, और शैशव के धुँधले दिनों तक लौट सके। पर स्मृतियाँ ही काफ़ी नहीं होतीं। यह भी आवश्यक होता है कि व्यक्ति उन तमाम स्मृतियों

को विस्मृत कर सकने की क्षमता भी रखता हो और साथ ही यह धैर्य भी कि उन के पुनः लौटकर आने तक उन की प्रतीक्षा कर सके। क्योंकि मूलतः स्मृतियाँ ही काम आती हैं—लेकिन तब जब वे हमारे रक्त में घुल-मिल जायें, हमारी दृष्टि और क्रियाओं से एकाकार हो जायें, और एक ऐसी नाम-हीन अवस्था में पहुँच जायें जब उन्हें हम से विच्छिन्न नहीं किया जा सकता। केवल उसी दुर्लभ क्षण में किसी कविता के प्रथम शब्द का जन्म होता है।"[1]

रिल्के के कथन को यदि संक्षेप में रखना हो तो कहा जा सकता है कि स्मृतियाँ तब तक काव्य के साँचे में नहीं ढल पातीं जब तक उन का स्वरूप निर्वैयक्तिक नहीं हो जाता। मनुष्य में स्मृतियों के प्रति एक सहज मोह होता है। अतः वह केवल किसी प्रिय वस्तु की स्मृति से ही सन्तुष्ट नहीं होता। वह प्रत्यक्ष और यथार्थ स्मृतियों पर बहुत-से स्मृत्याभासों का आरोप करता है। फिर स्मृति की भी स्मृति होती है और इस प्रकार धीरे-धीरे मूल स्मृति की ताज़गी जाती रहती है। कविता में आकर इस कोटि की स्मृतियाँ अधिक से अधिक एक मोहक वातावरण की सृष्टि-भर कर पाती हैं। वे पाठक के मन में यथार्थ स्थितियों के प्रति सहज पर्युत्सुकता नहीं जगा पातीं। 'प्रसाद' की कुछ आरम्भिक कविताओं में इस प्रकार के मोहजन्य स्मृतिबिम्ब अधिक हैं। पर यह स्मृति का सब से ऊपरी स्तर है। अपने सीधे, सच्चे और अकृत्रिम रूप में प्रत्येक स्मृति यथार्थ के जीवित सूत्रों से संग्रथित होती हैं। रिल्के ने प्रत्यक्ष स्मृतियों को विस्मृत करने की जो बात कही है उस का तात्पर्य केवल इतना है कि उन्हें व्यक्तिगत सम्बन्धों से अलग एक ऐसी वस्तुगत अवस्था में छोड़ दिया जाये जहाँ पहुँच कर उन की ऊपरी मोहकता समाप्त हो जाये। स्मृति इस रूप में जब कवि के सम्मुख आती है तो वह उस से बहुत कुछ निर्लिप्त होता है। उस के उठने और उभरने में एक आकस्मिकता होती है, जैसी कि ऊपर उद्धृत 'राम की शक्ति-पूजा' के स्मृतिबिम्बों में देखी गयी थी। परन्तु इस विस्मरण और पुनः आवाहन के बीच स्मृति के स्वरूप में जो सब से बड़ा परिवर्तन होता है वह यह कि धीरे-धीरे उन में एक विशेष प्रकार की प्रतीकात्मकता आ जाती है और विभिन्न सम-विषम स्मृतियों के भीतर एक बिम्बात्मक साँचा तैयार हो जाता है। वस्तुतः इस सम्पूर्ण प्रक्रिया का मूल उद्देश्य होता है इस काव्यात्मक साँचे की उपलब्धि।

इस काव्यात्मक साँचे की उपलब्धि सहज ही नहीं हो जाती। स्मृतिकूप में पड़े हुए बिम्बों का पुनः आवाहन तभी सम्भव हो सकता है जब कवि की अन्तर्दृष्टि निरन्तर जागरूक हो और कल्पनाशक्ति अनवरत क्रियाशील। धैर्य और प्रतीक्षा का यह अन्तराल नितान्त निष्क्रिय ही नहीं होता। इस के भीतर केन्द्रणशीलता की एक सूक्ष्म क्रिया भी चलती रहती है। इस प्रकार इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में निष्क्रिय प्रतीक्षा और सक्रिय कल्पना-

१. Quoted by C. Day Lewis from Rilke's Malte Laurids Briggein; *The Poetic Image*, 85-86.

शीलता का एक अद्भुत सन्तुलन होता है। कवि के भीतर कविता का कोई पूर्वकल्पित रूप नहीं होता। वह रचना को रचना-प्रक्रिया के भीतर से प्राप्त करता है। घनानन्द ने जब कहा था कि—

लोग हैं लागि कवित्त बनावत
मोहितो मेरो कवित्त बनावत।

तो उन का संकेत इसी स्थिति की ओर था। इस प्रक्रिया की पूरी सफलता उपर्युक्त सन्तुलन को बनाये रखने पर निर्भर करती है। शब्दबद्ध होने से पूर्व कविता का मूलभूत विषय बहुत अस्पष्ट होता है। उस का बोध एक प्रत्यक्षात्मक अनुभूति, एक दृश्य-संवेदना, एक अजानी गन्ध, एक हलकी-सी गूँज, अथवा एक सूक्ष्म-सी लय—इन में से किसी भी रूप में हो सकता है। काव्यवस्तु का योग इस प्रक्रिया में केवल इतना ही होता है कि वह कवि के मन में सोये हुए स्मृतिबिम्बों को—उस गहन अँधेरे कूप के तल को—थोड़ा विक्षुब्ध कर देती है। फिर यह पुनः सृष्टिविधायिनी कल्पना का काम होता है कि वह उस व्यतिक्रम और अव्यवस्था के बीच किसी मूलभूत केन्द्र की तलाश करे जहाँ उन बिखरे हुए बिम्बों को संश्लिष्ट और समाहृत किया जा सके। इसी खोज के द्वारा काव्यगत साँचे (पोएटिक पैटर्न) की उपलब्धि होती है।

बिम्बनिर्माण का तीसरा स्तर : पश्यन्ती कल्पना : आदिम-बिम्ब

यद्यपि बिम्बसिद्धान्त आधुनिक युग की देन है, पर बिम्ब प्रत्येक युग की कविता का स्वाभाविक धर्म है। ऐतिहासिक विकास तथा सामाजिक पृष्ठभूमि में होनेवाले परिवर्तनों के साथ बिम्बविधान की पद्धतियों में भी परिवर्तन होता गया है। इस परिवर्तन की प्रक्रिया का अध्ययन किया जाये तो पता चलेगा कि बिम्बविधान का प्रत्येक नया मोड़ युग और तत्कालीन साहित्य की किसी विशेष प्रवृत्ति और जीवन-दृष्टि से परिचालित होता है। पर कुछ ऐसे स्थायी बिम्ब भी होते हैं जो प्रत्येक युग की कविता में अचेतन रूप से, सहज ही अपने लिए स्थान बना लेते हैं। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक कार्ल युंग ने ऐसे बिम्बों को 'आदिम बिम्ब' (आर्किटाइप) की संज्ञा दी है। युंग के अनुसार मन का अवचेतन स्तर ही सभी प्रकार की कलात्मक सृष्टियों का मूल स्रोत है। इस अवचेतन स्तर को भी उस ने दो भागों में विभक्त किया है : वैयक्तिक अवचेतन तथा सामूहिक अवचेतन। वैयक्तिक अवचेतन तो व्यक्ति के अपने जीवन के असंख्य जाने-अनजाने प्रभावों, स्मृतियों तथा अनुभवों का कोश है। पर सामूहिक अवचेतन अब तक के मानवीय विकास की सम्पूर्ण परम्परा का सहजलब्ध अंश होता है। विकास-परम्परा से यहाँ तात्पर्य जैवी और ऐतिहासिक, दोनों ही परम्पराओं से है। आदिम बिम्बों का सम्बन्ध मन के इसी स्तर से होता है। वृक्ष, सूर्य, समुद्र, पर्वत, पवन, अग्नि, नक्षत्र, और आकाश आदि इसी प्रकार के बिम्ब हैं जो सामूहिक अवचेतन की परतों के नीचे दबे रहते हैं और जब भी हमारा मन चेतन स्तर की सीमाओं को अतिक्रान्त कर अन्तर्दृष्टि अथवा ध्यान की

अवस्था की ओर अग्रसर होता है तो ये बिम्ब अनायास उभर आते हैं। इस घोर औद्योगिक संस्कृति के युग में भी कविता का एक बहुत बड़ा भाग इन आदिम बिम्बों से भरा हुआ है। मानव मन जब सभी प्रकार के बाह्य प्रभावों से मुक्त होता है तब भी उस के भीतर कहीं न कहीं इन आदिम अनुषंगों की चेतना जगती रहती है। वृक्ष से मानव का कदाचित् सब से पुराना साहचर्य है। वह समस्त आदिम बिम्बों में भी सब से पहला है और आदिकवि की कविता से ले कर अधुनातन काव्य-प्रवृत्तियों तक अनेक सन्दर्भों में वृक्षसम्बन्धी अनुभूतियों का उपयोग हुआ है। निम्नलिखित पंक्तियों में एक आधुनिक कवि ने मानव मन के उसी आदिम अनुषंग की ओर संकेत किया है—

बिम्बहीन मन में
जब कुछ नहीं होता
तब एक पेड़ होता है।

जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता गया है ये आदिम अनुषंग (प्रिमिटिव ऐसोसियेशन्स) मन के सामूहिक अवचेन स्तर के नीचे दबते गये हैं। आज हमारे मन में उन प्रागैतिहासिक स्मृति-बिम्बों का एक अलग कोश ही तैयार हो गया है।[1] कविता में वे बिम्ब अन्तर्दृष्टि (विज़न) के स्तर पर प्रतिबिम्बित होते हैं और एक विशेष प्रकार के प्रज्ञामूलक सत्यों की अभिव्यक्ति करते हैं। उन के निर्माण की पद्धति भी सामान्य बिम्बों से भिन्न होती है। इस प्रकार अन्तर्दृष्टि के स्तर पर निर्मित होनेवाला प्रत्येक बिम्ब किसी निश्चित प्रतीकात्मक मूल्य से समन्वित होता है। यहाँ तक कि हमारी आधुनिक काव्य-पदावली भी उन्हीं आदिम शब्दबिम्बों की प्रतिध्वनि है। जैसा कि युंग ने कहा है :

> कविता हमारे शब्दों के आवरण में दूरस्थ आदिम शब्दों की अनुगूँजों को प्रतिध्वनित करती है।

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का निम्नलिखित कथन यंग के 'आदिम बिम्ब' वाले सिद्धान्त से आश्चर्यजनक समता रखता है : 'वन-पर्वत, नदी-नाले, पशु-पक्षी, वृक्ष-लता, मैदान-कछार' ये सब हमारे पुराने सहचर हैं और हमारे हृदय के प्रसार के लिए अभी तो बने हुए हैं, आगे की नहीं कह सकते। इन के प्रति युग-युगादि का संचित प्रेम जो मनुष्य की दीर्घ वंश-परम्परा के बीच वासना रूप में निहित चला आ रहा है, उस की अनुभूति के उद्बोधन में ही मनुष्य की रागात्मिका प्रकृति का पूर्ण परिष्कार और मनुष्य के कल्याण-मार्ग का अबाध प्रसार दिखाई पड़ता है।—चिन्तामणि-दूसरा भाग; पृ० ९८।

प्रस्तुत कथन से यदि युंग के सिद्धान्त की तुलना की जाये तो दो बातें स्पष्ट दिखाई देंगी। पहली यह की आचार्य शुक्ल के आदिम बिम्बों की कल्पना प्रकृति के क्षेत्र तक ही सीमित है, जब कि युंग के अनुसार प्रकृति के अतिरिक्त जादू-टोना, धार्मिक संस्कार, दन्तकथा तथा पुराणों के भीतर आदिम बिम्ब विभिन्न रूपों में फैला हुआ है। दूसरा अन्तर यह है कि शुक्लजी के अनुसार ये आदिम अनुषंग हमें अपनी 'दीर्घ वंश-परम्परा' से प्राप्त होते हैं, जब कि युंग ने इन की सत्ता को सम्पूर्ण मानवीय विकास-परम्परा का अवचेतन स्तर माना है। तात्पर्य यह कि इम बिम्बों का सम्बन्ध किसी रक्त-विशेष से नहीं है। बल्कि इन के साथ मानवमात्र के पूर्वजों के आदिम वन्य जीवन की अचेतन स्मृतियाँ जुड़ी हुई हैं।

बिम्बनिर्माण की प्रक्रिया

अवचेतन की भाषा में, जो कि युंग के अनुसार एक प्रकार की चित्रभाषा है, आदिम बिम्बों की अभिव्यक्ति अत्यन्त व्यक्तिगत सन्दर्भों में होती है। कोई भी बिम्ब स्वतन्त्र नहीं होता। वह अनिवार्यतः किसी द्वन्द्वमूलक स्थिति की ओर संकेत करता है। उदाहरण के लिए यदि किसी अन्तर्दृष्टिमूलक कविता में उगते हुए सूर्य की उपमा सद्यःजाग्रत् सिंह से, उस के फैलने की उपमा पिघलते हुए स्वर्णपर्वत से, और उस के अस्त होने की उपमा किसी विशाल पक्षी के डैनों की निस्पन्दता से दी जाती है तो वैसी स्थिति में कवि का मूल संकेत न तो पहले सादृश्य की ओर होता है न ही दूसरे की ओर। वह इन तमाम सादृश्यों के द्वारा किसी तीसरी अज्ञात वस्तु की ओर संकेत करना चाहता है, जिस की एक अस्पष्ट-सी आंशिक अभिव्यक्ति ही इन बिम्बों के द्वारा हो पाती है। युंग का दृढ़ मत है कि बुद्धि के स्तर पर उस तीसरे संकेत को कभी भी नहीं जाना जा सकता।[१] आदिम बिम्बों की संख्या अपेक्षाकृत सीमित होती है। संसार की प्रायः सभी संस्कृतियों में इन के स्वरूप तथा देशगत सन्दर्भों में अन्तर हो सकता है, पर इन के विषय प्रायः एक से हैं—पुनर्जन्म, मृत्यु, संघर्ष, प्रेम आदि। कुछ आदिम बिम्ब ऐसे हैं जो प्रायः प्रत्येक भाषा की कविता में समान रूप से पाये जाते हैं—जैसे वृक्ष, सूर्य, सिंह, मत्स्य, जलप्लावन आदि। सन्त तथा भक्त कवियों ने जीवन की कल्पना प्रायः आवागमन या एक अनन्त यात्रा के रूप में की है जो एक प्रकार का सार्वभौम आदिम बिम्ब ही है। इसी प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति तथा लय के बारे में भी सभी संस्कृतियों द्वारा कल्पित आदिम बिम्बों का मूल स्रोत भी एक ही है। वस्तुतः आदिम बिम्बों की यह व्यापक एकरूपता ही युंग के सामूहिक अवचेतन-सिद्धान्त का वस्तुगत आधार और उस की यथार्थता का जीवित प्रमाण है।

आदिम बिम्बों के निर्माण की प्रक्रिया प्रत्यक्ष अनुभव से चल कर प्रज्ञा के सूक्ष्मतम संकेतों तक पहुँचने की प्रक्रिया है। आधुनिक आलोचक रॉबिन स्केल्टन ने उन के विकास के तीन स्तर माने हैं:[२] ललित कल्पना (फैन्सी), कल्पना (इमैजीनेशन), और अन्तर्दृष्टि अथवा पश्यन्ती कल्पना (विज़न) पहला स्तर प्रत्यक्ष और भौतिक अनुभव का स्तर है जो कवि के मन में बाह्य यथार्थ के आभास के रूप में प्रतिबिम्बित होता है। इन मानसिक प्रतिबिम्बों की व्याख्या सामान्य अनुभव के धरातल पर की जा सकती है। ये प्राथमिक बिम्ब बौद्धिक धारणाओं से बहुत भिन्न नहीं होते। परन्तु जब कवि-प्रतिभा इन प्राथमिक बिम्बों का पुनर्निर्माण करती है तो अधिक परिष्कृत और व्यवस्थित होकर वे विकास-प्रक्रिया की दूसरी स्थिति में पहुँच जाते हैं जिसे विशुद्ध

---

१. "But the unknown third thing that finds more or less adequate expression in all the similes, yet—to the perpetual vexation of the intellect—remains unknown and not to be fitted in a formula."—*Essays on a Science of Mythology*; 105.

२. *The Poetic Pattern*; 106.

कल्पना का स्तर माना गया है। इन कल्पनात्मक बिम्बों की व्याख्या प्राथमिक बिम्बों के आधार पर ही की जा सकती है, यथार्थ स्थितियों के आधार पर नहीं। विकास की इस अवस्था में भी बिम्बों के भीतर कार्य-कारण सम्बन्ध की शृंखला सूक्ष्म रूप में बनी रहती है। परन्तु इस सम्पूर्ण विकास-प्रक्रिया का अन्तिम स्तर जिसे पश्यन्ती कल्पना कहा गया है, एक ऐसी अवस्था है जिस में बिम्बों की तार्किक कार्य-कारण शृंखला का पूर्णतः लोप हो जाता है और केवल उन का एक सूक्ष्म प्रतीकात्मक बोध-भर रह जाता है। यह स्थिति बहुत कुछ योगदर्शन की 'असम्प्रज्ञात समाधि' की-सी होती है जिस में ध्यान, ध्याता और ध्येय वस्तु की अलग-अलग प्रतीति नहीं होती, बल्कि तीनों में एकता स्थापित हो जाती है। ध्याता ध्यान में समाहित हो जाता है और ध्यान ध्येयवस्तु के आकार में। अन्तिम सत्ता केवल ध्येयवस्तु की रह जाती है जिसे आज की भाषा में प्रज्ञामूलक बिम्ब कह सकते हैं। इस अवस्था में जिस बिम्ब की सृष्टि होती है वह सामूहिक अवचेतन की उत्पत्ति होने के कारण स्वभावतः सामान्योन्मुख होता है। यदि किसी विशेष स्थिति से उस को प्रयत्नपूर्वक सम्बद्ध कर दिया जाये तो उस का अन्तर्निहित अर्थ एकदम समाप्त हो जायेगा। 'कामायनी' के इड़ा सर्ग में इस प्रकार के कई उदाहरण हैं। उस के प्रथम छन्द में ही पश्यन्ती कल्पना की बड़ी स्वाभाविक अभिव्यक्ति हुई है :

> किस गहन गुहा से अति-अधीर
> झंझा प्रवाह-सा निकल पड़ा जीवन विक्षुब्ध महासमीर
> ले साथ विकल परमाणु-पुंज- नभ, अनिल, अनल, क्षिति और नीर
> ....
>
> अस्तित्व चिरन्तन धनु से कब यह छूट पड़ा है चिषम तीर
> किस लक्ष्यभेद का शून्य चीर।
>
> अथवा
>
> इस दुखमय जीवन का प्रकाश
> नभ नील-लता की डालों में उलझा अपने सुख से हताश।

काव्यगत साँचा : बिम्ब-संघटन

कोई भी बिम्ब अकेला नहीं होता। अकेले बिम्ब का भी एक सम्पूर्ण परिवेश होता है। केवल सुन्दर और आकर्षक होने से ही कोई बिम्ब किसी कविता का अंग नहीं बन जाता। कविता में उस को लाने से पहले दो बातें आवश्यक हैं। पहली यह कि वह अनिवार्यतः कवि के वक्तव्य को प्रेषित करने में सहायता पहुँचाये और दूसरी यह कि वह अपने आस-पास के अन्य बिम्बों के साथ अपना सम्बन्ध प्रमाणित करे। इन दोनों शर्तों को पूरा करने के बाद ही कोई बिम्ब किसी कविता के व्यक्तित्व का अविच्छेद्य अंग बन सकता है। यदि वह केवल कविता का शोभावर्द्धक धर्म बन कर आता है तो

इस से विम्बों की अन्तर्निहित एकता खण्डित हो सकती है। एक सफल कविता का बिम्बविधान ऐसा होना चाहिए कि एक बिम्ब दूसरे के लिए, दूसरा तीसरे के लिए, तीसरा अपने बाद वाले बिम्ब के लिए मार्ग प्रशस्त करता-सा जान पड़े। इस प्रकार प्रत्येक बिम्ब का दोहरा कार्य होता है। वह अपने पहलेवाले बिम्ब की ध्वनि को तीव्रतर बनाता है और आगेवाले बिम्ब के लिए एक पर्युत्सुक वातावरण की सृष्टि करता है। इस पूरे संघटन में सब से महत्त्वपूर्ण और निर्णायक स्थिति उस बिम्ब की होती है जो कविता के आरम्भ में आता है। वह उस पत्थर के टुकड़े की तरह होता है जो अपने आघात से शान्त जल में असंख्य लहरों की सृष्टि का कारण बनता है। उस प्रथम बिम्ब की सत्ता के प्रति कवि पूर्णतः आश्वस्त नहीं होता और उस की काव्योचित उपयोगिता के सम्बन्ध में उस के मन में कई प्रकार के प्रश्न उठते हैं। इस प्रश्नात्मक स्थिति में ही उस आदि-बिम्ब के चारों ओर बहुत से दूसरे बिम्ब आकर एकत्र होने लगते हैं। यहाँ कवि-कर्म का एक दूसरा पक्ष सामने आता है जो सब से अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। एक ओर उसे उमड़ते हुए बिम्बों के प्रवाह पर दृष्टि रखनी पड़ती है और दूसरी ओर उस सूक्ष्म कलात्मक गतिविधि पर जो उसी के समानान्तर चलती रहती है। परिणाम यह होता है कि समग्र रूप-विधान के प्रति उस की दृष्टि धीरे-धीरे परिवर्तित होने लगती है। अब वह केवल स्रष्टा न हो कर स्वयं अपनी कृति का आलोचक भी हो जाता है। इसी स्थिति में उसे काव्यगत साँचे का बोध होता है और फिर उसी के अनुसार वह कल्पना में उभड़ते हुए बिम्बों को रखता या छोड़ता जाता है।

प्रश्न यह है कि इस सम्पूर्ण क्रिया के पीछे कला का कौन-सा सिद्धान्त काम करता है? उत्तर होगा—बिम्बों की परस्पर-सापेक्षता। कुछ बिम्ब ऐसे होते हैं जो कल्पना द्वारा उपलब्ध उस बिम्बात्मक साँचे में ठीक बैठते हैं और कुछ ऐसे भी हो सकते हैं जो सम्पूर्ण संघटन से बिलकुल अलग दीख पड़ें। इस बात को दो भिन्न उदाहरणों से समझें :

तरुवर की छायानुवाद-सी,
उपमा-सी, भावुकता-सी
अविदित भावाकुल भाषा-सी
कटी-छँटी नव कविता-सी।

—पंत (छाया)

उपर्युक्त कविता में आये हुए सभी अप्रस्तुत प्रायः एक ही क्षेत्र से लाये गये हैं। सभी का सम्बन्ध भाषा अथवा साहित्य से है। इस दृष्टि से ऊपरी स्तर पर उन में एक परस्पर-सम्बद्धता दीख सकती है। पर यह सम्बद्धता अर्थगत संगति को बनाये रखने में सहायक नहीं होती, अतः पूरी कविता का कोई सम्पूर्ण बिम्बात्मक साँचा नहीं बन पाता। वृक्ष की छाया के लिए 'छायानुवाद' की उपमा बहुत ही सटीक और सार्थक है। पर उस के ठीक बाद दूसरी उपमा—'उपमा-सी' 'भावुकता-सी'—पहले बिम्ब के अर्थ-

गत सन्दर्भ को आगे नहीं बढ़ाती। उपमा में एक प्रकार की ताज़गी और सहसम्बद्धता होती है जो 'छायानुवाद' से गृहीत संवेदना के सर्वथा विरुद्ध पड़ती है। वहाँ तक तो कुछ ठीक भी है। पर उस के आगे वाली उपमा—'अविदित भावाकुल भाषा-सी'—पहले अर्थ के बिलकुल दूसरे छोर पर जा पड़ती है। कहाँ 'छायानुवाद' और कहाँ अज्ञात भाव-तरंगों से आलोडित जीवित भाषा। फिर 'कटी-छँटी नव कविता' का बिम्ब भी पहली उपमा से मेल नहीं खाता। तात्पर्य यह कि इन बिम्बों में परस्पर-सापेक्षता का अभाव है। इस के विपरीत 'निराला' की 'सन्ध्या-सुन्दरी' शीर्षक कविता की निम्नलिखित पंक्तियाँ ली जा सकती हैं :

अलसता की-सी लता
किन्तु कोमलता की वह कली
सखी नीरवता के कन्धे पर डाले बाँह
छाँह-सी अम्बर-पथ से चली।
नहीं बजती उस के हाथों में कोई वीणा,
नहीं होता कोई अनुराग-राग-आलाप
नूपुरों में भी रुनझुन-रुनझुन नहीं,
सिर्फ़ एक अव्यक्त शब्द-सा 'चुप, चुप, चुप'
है गूँज रहा सब कहीं—
व्योम मण्डल में, जगती-तल में
....
क्षिति में, जल में, नभ में, अनिल-अनल में
सिर्फ़ एक अव्यक्त शब्द-सा 'चुप, चुप, चुप'
है गूँज रहा सब कहीं—
और क्या है ? कुछ नहीं।

पूरी कविता को पढ़ जाने पर लगता है कि कवि के भीतर एक निश्चित केन्द्रीभूत संवेदना है, जहाँ तक पाठक को ले जाने के लिए बिम्बों का एक सम्पूर्ण संघटन तैयार किया है। कविता समाप्त करने के बाद सारी उपमाएँ और चित्र खो जाते हैं और केवल वह मूलभूत संवेदना रह जाती है—"चुप, चुप, चुप"। पर यह चुप्पी भी ऐसी है जो सुनी जा सकती है—"है गूँज रही सब कहीं"। न केवल संसार की वस्तुओं में, बल्कि वस्तु के अलग-अलग तत्त्वों में भी—'क्षिति में, 'जल में, नभ में, अनिल-अनल में' वही गूँजती हुई चुप्पी भरी हुई है। कविता में आया हुआ प्रत्येक बिम्ब क्रमशः उसी गूँज की ओर बढ़ता हुआ जान पड़ता है। यही नहीं, प्रस्तुत अर्थ से भिन्न जो एक प्रतीकात्मक ध्वनि सारी कविता में भरी हुई है—जिसे कविता का दार्शनिक अर्थ भी कहा जा सकता है—उस के प्रति भी जैसे प्रत्येक बिम्ब अपने स्थान पर सजग है। "सखी नीरवता के कन्धे पर बाँहें डाल, छाँह-सी अम्बर-पथ से चली"—इस रूपक के बाद

सम्पूर्ण वस्तु-जगत् में गूँजती हुई शान्ति का चित्र सहज प्रत्याशित है और उस के बाद "और क्या है ? कुछ नहीं ।"—यह अमूर्त कथन ऐसा जान पड़ता है जैसे कवि की प्रास्ताविक उक्ति न हो कर समस्त बिम्बों की सम्मिलित ध्वनि हो । बाह्य बिम्ब संघटन और प्रेषणीय अर्थ की अन्तर्निहित एकता ही वह बिम्बात्मक साँचा है जो पूरी कविता को आवयविक पूर्णता प्रदान करती है ।

सन्दर्भ की अनुकूलता और प्रभाव की समग्रता में बिम्बविधान की अन्य दो विशेषताएँ हैं जो बिम्बात्मक साँचे के निर्माण में सहायक होती हैं । बिम्ब दो भिन्न सन्दर्भों से एक साथ जुडा रहता है । एक ओर वह उस यथार्थ परिवेश से सम्बद्ध रखता है जहाँ से स्थानान्तरित हो कर काव्य में आता है और दूसरी ओर वह उस कथ्य से भी अभिन्न होता है जिस की एक अलग मानसिक पृष्ठभूमि होती है । सन्दर्भ की अनुकूलता का तात्पर्य है कथ्य की मनोवैज्ञानिक स्थिति और बाह्य परिवेश की अधिकाधिक समीपता । अपूर्ण कविता अथवा एक अकेले बिम्ब का प्रभाव ही अपने-आप में पूर्ण तथा समन्वित हो सकता है । यहाँ पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के एक कथन पर विचार कर लेना उचित होगा । शुक्लजी ने 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' शीर्षक निबन्ध में बिम्बों की संश्लिष्ट योजना पर बल देते हुए एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न की ओर ध्यान आकृष्ट किया है । उन का कथन है :

> "वस्तुओं के रूप और आस-पास की परिस्थिति का ब्यौरा जितना स्पष्ट और स्फुट होगा, उतना ही पूर्ण बिम्बग्रहण होगा, और उतना ही अच्छा दृश्यचित्रण कहा जायेगा ।"[1]

मुझे ऐसा लगता है कि यहाँ आचार्य की दृष्टि संश्लिष्ट बिम्बयोजना के स्थूल पक्ष पर ही टिकी रह गयी है । उन के अनुसार पूर्ण बिम्बग्रहण कराने के लिए दो बातें आवश्यक हैं । पहली यह कि वस्तु के साथ उस के आस-पास की परिस्थिति का अधिक से अधिक ब्यौरा प्रस्तुत किया जाये और दूसरी यह कि यह सम्पूर्ण योजना स्पष्ट और स्फुट हो । सम्भवतः शुक्लजी का अभिप्राय यहाँ बाह्य प्रकृति के चित्रण से ही है । अन्यथा वे वस्तुओं के ब्योरे और स्पष्टता की बात न कहते । प्रभाव की समग्रता के कारण एक अकेला बिम्ब भी वस्तुगत सन्दर्भ की अनेक दिशाओं की ओर संकेत कर सकता है :

> फूल लाया हूँ कमल के
> क्या करूँ इन का ?
> पसारें आप आँचल
> छोड़ दूँ, हो जाय जी हल्का ।
>
> —भवानीप्रसाद मिश्र

१. चिन्तामणि (दूसरा भाग); पृ० २.

कमल के फूल का यहाँ कोई स्पष्ट ब्योरा नहीं उपस्थित किया गया है। कथन में स्पष्टता अवश्य है। पर साथ ही अनुभूति में एक ऐसी तीव्रता है जो पाठक के मन में कमल के फूल की सारी विशिष्टता अनायास जगा देती है। ऐसा इस लिए होता है कि कमल के फूल के पीछे एक धुँधली-सी मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि है जिस का बोध 'क्या करूँ इन का'—इस प्रश्नात्मक पंक्ति को पढ़ने के बाद होता है। इस प्रकार यह सहज और सीधा-सादा-सा दीखनेवाला बिम्ब अपने साथ एक सम्पूर्ण नाटकीय परिवेश लिये हुए है। ऊपर इसी को प्रभाव की समग्रता कहा गया है। पर यह प्रभाव की समग्रता वस्तुतः अनुभूति की समग्रता ही है। क्योंकि जो कल्पना शक्ति बिखरी हुई अनुभूतियों को एक आन्तरिक लय में समन्वित करती है वही बाह्य अभिव्यक्ति के प्रभाव को भी व्यवस्थित और केन्द्रीभूत करती है। इस प्रकार बिम्बों का संश्लेषण अनुभूति और संवेदना के बिखरे हुए तत्त्वों का ही संश्लेषण है। अनुभूति तो सदा एकदेशीय ही होती है। पर बिम्ब अनेक क्षेत्रों से लाये जा सकते हैं। होना यह चाहिए कि उस एकदेशी अनुभूति और अनेकदेशी बिम्बों के बीच एक सूक्ष्म आनुषंगिक सम्बन्ध हो। तभी शुक्लजी के शब्दों में दृश्यचित्रण के संश्लिष्ट साँचे की उपलब्धि हो सकती है। बिम्ब-सिद्धान्त के प्रसिद्ध व्याख्याता श्री सी० डे लिविस ने काव्यगत बिम्बों की तुलना विभिन्न कोणों पर रखे हुए दर्पणों से की है जो विषय को अनेक दिशाओं से प्रतिविम्बित करते हैं। ध्यान से देखने पर उन में परस्पर प्रतिबिम्ब के प्रतिबिम्ब को भी देखा जा सकता है। पर ये एक प्रकार के ऐन्द्रजालिक दर्पण होते हैं जो विषय को केवल प्रति-विम्बित ही नहीं करते, उसे जीवन और रूप भी प्रदान करते हैं[१]।

युग और बिम्बविधान

युग और साहित्यिक प्रवृत्तियों में होनेवाले परिवर्तनों के साथ-साथ बिम्बविधान की पद्धति में भी परिवर्तन होता जाता है। आदि-कवि वाल्मीकि के बिम्बों में एक सरलता और स्वाभाविकता है जो वस्तुतः आदिम संस्कृति की सहजता की ही छाप है। यदि उस के ठीक समानान्तर रख कर कालिदास के बिम्बों को देखा जाये तो उन में कल्पना की अधिक ऊँची उड़ान और रूप-विन्यास में अपेक्षाकृत अधिक जटिलता दिखाई देगी। वाल्मीकि को पाले से धुँधली पड़ी हुई चाँदनी ऐसी दिखाई पड़ी थी जैसे धूप से साँवली पड़ी हुई सीता[२]। पर कालिदास की कल्पना ने शारदीय चन्द्रमा की किरणों और कच्चे मृणाल-सूत्रों में एक उस से भी अधिक चामत्कारिक समता ढूँढ़ निकाली थी

---

१. The Images in a poem are like a series of mirrors set at different angles so that, as the theme mover on, it is reflected in a number of different aspects. But they are magic mirrors. They do not merely reflect the theme, they give it life and form, it is their power to make a spirit visible, *The Poetic Image*;—80.

२. ज्योत्स्ना तुषारमलिना पौर्णमास्यां न राजते ।
सीतेव चातपश्यामा लक्ष्यते न तु शोभते ॥

जो चित्रण की दृष्टि से अधिक बारीकी में जाने का प्रयास था। बाद के कवियों में यह बारीकी रह गयी और भावमय समता का आधार जाता रहा। हिन्दी की सम्पूर्ण मध्ययुगीन कविता में, कुछ अपवादों को छोड़ कर, यही प्रवृत्ति पायी जाती है।

बिम्बों की भावभूमि और निर्माण-प्रक्रिया में सब से महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आधुनिक युग में हुए। यह युग विचारों के संघर्ष और सामाजिक क्रान्तियों का युग है। जीवन और साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में प्रयोग और अन्वेषण का एक व्यापक क्रम चल रहा है। अतः बिम्बनिर्माण की प्रक्रिया में भी इस बीच बड़ी तीव्रता से परिवर्तन हुए हैं। साथ ही उस कला-दृष्टि में भी परिवर्तन होता गया है जो बहुत से बिम्बों के भीतर एक विशेष प्रकार की भावात्मक एकता को ढूँढ़ निकालती है। द्विवेदीयुगीन कवि का मार्ग बड़ा सरल था। उन की कल्पना तथ्यों की सीमा का अतिक्रमण बहुत कम करती थी। वे शब्दों की ठेठ अभिधा से काम लेते थे। उन की कल्पना पर स्थूल औचित्य-बुद्धि का अंकुश था। अतः उन के बिम्ब परिपाटी विहित अधिक थे। उन की दृष्टि बिम्ब से अधिक बाह्य रूपक तथा अन्योक्ति-पद्धति पर रहती थी। यदि कहीं बिम्बविधान का प्रयास था भी तो उस की प्रक्रिया बहुत सीधी और सरल थी। यह सरलता और सीधापन अनुभूति के खरेपन के कारण नहीं था। उस के मूल में वही शुद्धतावादी इतिवृत्तात्मक दृष्टि थी जो उस सम्पूर्ण युग का विशिष्ट-चरित्र-लक्षण मानी जाती है। उस काल की कविता में दृश्य के आस-पास की परिस्थितियों का ब्योरा तो मिलता है, परन्तु उन के जटिल सम्बन्धों की गहराई में जानेवाली दृष्टि नहीं मिलती। उन के बिम्बविधान और सम्पूर्ण रचना-प्रक्रिया में एक निश्चित क्रम और पूर्वापर सम्बन्ध की चेतना पायी जाती है। एक से दूसरे बिम्ब तक पहुँचने में पाठक को अपनी ओर से कुछ जोड़ना नहीं पड़ता। द्विवेदीयुगीन कवि दो पार्श्ववर्ती बिम्बों के बीच भरसक कोई दरार नहीं छोड़ता था। वह पाठक की कल्पना के लिए पहले से ही मार्ग निर्दिष्ट कर देता था। उस के बिम्ब-निर्माण की प्रक्रिया गणित के नियमों के समान स्थिर और एकोन्मुख है। नीचे उद्धृत 'हरिऔध' के सन्ध्यावर्णन की इन प्रसिद्ध पंक्तियों के द्वारा उस युग के बिम्बविधान की सीमाओं को अधिक अच्छी तरह समझा जा सकता है :

दिवस का अवसान समीप था
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरुशिखा पर थी अब राजती
कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा।

बिम्ब सीधा और स्पष्ट है। चयन में अत्यधिक सतर्कता से काम लिया गया है। प्रत्येक बिम्ब स्थिर है और एक निश्चित क्रम के अनुसार अपने आगेवाले बिम्ब से जुड़ा हुआ है। सारा रूप-विन्यास इकहरा है और दृष्टि के अतिरिक्त किसी अन्य ऐन्द्रिय-बोध को स्पर्श नहीं करता। पर यथार्थ इतना निश्चित, सरल और सीधा नहीं होता।

उस में एक अन्तर्निहित सहसम्बद्धता होती है। अतः एक वस्तु के स्मृति में आते ही उस से प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से सम्बद्ध दूसरी अनेक वस्तुओं का कल्पना में उभर आना प्रायः अनिवार्य है। निर्माण-प्रक्रिया के ये अवान्तर प्रसंग मुख्य विषय से कभी-कभी अधिक आकर्षक और महत्त्वपूर्ण सिद्ध होते हैं। इस दृष्टि से छायावादी बिम्बविधान की पद्धति को अत्यधिक विकसित और प्रौढ़ कहा जा सकता है :

नीरव सन्ध्या में प्रशान्त
डूबा है सारा ग्राम-प्रान्त।
पत्रों के आनत अधरों पर सो गया निखिल वन का मर्मर,
ज्यों वीणा के तारों पर स्वर।

लहरों पर स्वर्ण-रेख सुन्दर पड़ गयी नील, ज्यों अधरों पर
अरुणाई प्रखर शिशिर से डर।
—पंत (एकतारा)

बिम्बों के संघटन में एक क्रम और निरन्तरता यहाँ भी है। पर साथ ही प्रत्येक शब्द में एक ऐसी आवाहन शक्ति है जो पाठक को बिम्बों की दृश्यता तक ही सीमित नहीं रखती, बल्कि रागात्मक अनुषंग की अनेक दिशाओं में एक साथ ले जाती है। प्रत्येक बिम्ब बड़ी त्वरा के साथ जाता है और कविता की केन्द्रीय अनुभूति को तीव्रतर बनाता हुआ अपने बाद आनेवाले बिम्ब में पर्यवसित हो जाता है—"ज्यों वीणा के तारों पर स्वर।" ध्यान से देखने पर पूरी कविता में केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति दिखाई देगी जो सम्पूर्ण छायावादी बिम्बविधान की खास विशेषता है। अधिकांश छायावादी कविताओं के मूल में कोई केन्द्रीय बिम्ब होता है जिस के चारों ओर उस के समानधर्मा बिम्बों का एक पूरा वृत्त बना हुआ दिखाई देता है। फलतः सम्पूर्ण रचना में एक अनुस्यूत सघनता होती है। छायावादी कवि बिम्बों को द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया से काम नहीं लेता था। उस की दृष्टि उन की आन्तरिक संगति पर अधिक होती थी। महादेवीजी के बिम्बों में इस प्रवृत्ति का चरम रूप देखा जा सकता है। यह प्रवृत्ति इतनी प्रबल थी कि जटिल मनःस्थितियों के चित्रण में भी बिम्बों की अनुस्यूत सघनता में कभी व्यतिक्रम नहीं आने दिया जाता था। 'निराला' की कुछ लम्बी कविताओं में बिम्बों का विपर्यय, स्थानान्तरण और व्यतिक्रम अवश्य पाया जाता है।

●

अध्याय : ४

बिम्बविधान का विकास

[प्रथम उत्थान]

मध्ययुगीन काव्य-दृष्टि और उस की सीमाएँ

हिन्दी साहित्य के इतिहास में आधुनिकता का आरम्भ भारतेन्दु-युग से माना जाता है। उस से पूर्व हिन्दी-कविता के क्षेत्र में रीतिकालीन प्रवृत्तियों का प्राधान्य था। गद्य के अभाव में विचारों की कोई सुदृढ़ परम्परा नहीं थी। साहित्य का अर्थ था कविता, और कविता का उद्देश्य था शृंगारिक वर्णनों की प्रचलित परिपाटी का अनुसरण। न तो उस में कल्पना के प्रसार के लिए अवकाश था न ही वैयक्तिक विलक्षणता अथवा मौलिकता के लिए। वर्ण्य वस्तुओं की सीमा निश्चित कर दी गयी थी और उस से भी अधिक निश्चित थीं वर्णन की प्रणालियाँ। काव्य की सम्पूर्ण पदावली सिमट कर कुछ थोड़े-से मोहक शब्दों और घरेलू मुहाविरों तक सीमित हो गयी थी। कविगण कथ्य के अवान्तर प्रसंगों में बहुत कम जाते थे और यदि कभी जाते भी थे तो कुछ गिने-चुने अप्रस्तुतों तक। औपम्यविधान की पद्धति परिपाटी-विहित रूप में अधिक थी, स्वतन्त्र उद्भावना के रूप में कम। कृपाराम (सं० १५९८) के आरम्भिक रस-निरूपण से चल कर केशवदास के काव्यांग-निर्णयों तथा बिहारी, देव, भिखारीदास, घनानन्द, ठाकुर, बोधा इत्यादि की प्रौढ़तर कृतियों से होता हुआ रीति-युग का समापन पद्माकर की कविताओं के साथ हुआ। पद्माकर का काव्य उस युग की सम्पूर्ण शक्ति तथा सीमाओं का सर्वोत्तम उदाहरण प्रस्तुत करता है। उन की कविताओं के रूप-विन्यास तथा विषयवस्तु में एक प्रकार की स्थिरता पायी जाती है जिस में विकास की सम्भावनाएँ क्षीण हो चली हैं। अतः इस सम्पूर्ण काव्यप्रवृत्ति के विरुद्ध प्रतिक्रिया का होना सहज स्वाभाविक था। पद्माकर के आसन्न परवर्ती कवि द्विजदेव (महाराजा मानसिंह) के काव्य में इस प्रतिक्रिया का सूक्ष्म आभास पाया जाता है। यद्यपि वर्ण्य वस्तु उन की पुरानी ही थी, वस्तुओं को देखने का ढंग भी वैसा ही था, पर रूप-विन्यास की दिशा में थोड़ा-सा परिवर्तन आ गया। अप्रस्तुत विधान का स्थान प्रत्यक्ष वर्णन ने ले लिया और तुलनामूलक अलंकारों का स्थान संवेदनात्मक बिम्बविधान ने। एक उदाहरण पर्याप्त होगा :

सुरही के भार सूधे सबद सुकीरन के
मन्दिरन त्यागि करें अनत कहूँ न गौन ।
द्विजदेव त्योंही मधुभारन अपारन सों
नेकु झुकि झूमि रहे मोगरे मरुज दौन ।।
खोलि इन नैनन निहारों तो निहारों कहा ?
सुखमा अभूत छाय रही प्रति भौन-भौन ।
चाँदनी के भारन दिखात उनयो सो चन्द
गन्ध ही के भारन बहत मन्द-मन्द पौन ।।

पद्माकर के वसन्त-वर्णन से इस छन्द की तुलना की जाये तो अन्तर स्पष्ट हो जायेगा । द्विजदेव ने केवल एक नयी दिशा का आभासमात्र दिया । वे परम्परागत रूढ़ियों से अपने को सर्वथा मुक्त न कर सके । वस्तुतः नये काव्य के प्रसार के लिए जिस नयी काव्यभाषा की आवश्यकता थी वह द्विजदेव के पास नहीं थी । लोकप्रचलित भाषा (स्पेकिन लैंग्वेज) और काव्यभाषा (पोएटिक लैंग्वेज) के बीच की खाईं को पाटे बिना आधुनिक काव्य का निर्माण असम्भव था । अतः ब्रजभाषा, जो केवल कवि-समुदाय की और उन में भी केवल एकान्त भावाभिव्यक्ति की भाषा थी, के द्वारा यह ऐतिहासिक कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता था । इस ऐतिहासिक क्रान्ति का सूत्रपात पहले-पहल भारतेन्दु-युग में ही हुआ । पुराने ढंग की कविताओं के लिए तो ब्रजभाषा ही बनी रही; परन्तु नये विषयों के लिए खड़ीबोली के माध्यम की अनिवार्यता को सर्वप्रथम भारतेन्दु ने ही अनुभव किया ।

पूरे मध्ययुग का नियामक तत्त्व था धर्म । सामाजिक संगठन तथा साहित्यिक रचना—दोनों की पृष्ठभूमि में धर्म अवस्थित था । यहाँ तक कि रीतिकाल के शृंगारी कवियों को भी अपनी स्वच्छन्द प्रेमभावना को व्यक्त करने के लिए धर्म का आवरण स्वीकार करना पड़ा । धर्म की इस प्रमुखता के कारण मध्ययुगीन काव्यदृष्टि का विकास एक विशेष प्रकार के अनुशासित वातावरण में हुआ । सामाजिक आचरण में जो महत्त्व स्मृति और पुराण का था, साहित्यिक-निर्माण में वही स्थान पुराने आचार्यों द्वारा सुस्थापित काव्यशास्त्र का । रीतिकाल के बहुत-से कवियों ने तो शास्त्र-स्थिति-सम्पादन को ही कवि-कर्म का चरम उत्कर्ष मान लिया था । परन्तु मध्ययुगीन मानव की धर्म-दृष्टि वैदिक मानव की दैवी कल्पना से बहुत भिन्न थी । उस में एक प्रकार की स्थिरता आ गयी थी । स्मृतियों, पुराणों और महाकाव्यों ने उस की सीमाएँ निश्चित कर दी थीं । स्वच्छन्दतावादी कविता में जो महत्त्व आगे चल कर कल्पना को मिला, मध्ययुगीन साहित्य में वही महत्त्व विवेक को मिला था । प्रश्न हो सकता है कि रीतिकाल में यह विवेक कहाँ था ? वस्तुतः रीतिकालीन काव्य में विवेक की धारणा स्थानान्तरित हो गयी थी । पहले वह युग और जीवन का नियामक था, अब केवल काव्य का, और काव्य में भी अप्रस्तुतविधान, वक्रोक्ति, वाग्वैदग्ध्य और चमत्कार का साधक रह गया था ।

बिम्बविधान का विकास

विवेक की प्रधानता के मूल में उस युग के व्यक्ति की सामाजिक स्थिति थी। मध्ययुगीन मनुष्य परम्परा में दृढ़ विश्वास रखता था। दैव के विधान में उस की अटूट आस्था थी। मानवीय शक्ति उस की दृष्टि में बहुत नगण्य और सीमित थी। जीवन की स्थूल आवश्यकताओं से वह या तो ऊपर था—जैसे सन्त और भक्त कवि—या उसी की चिन्ता में डूबा हुआ था—जैसे रीतिकाल के दरबारी कवि। ऐसी स्थिति में उस काल की कविता में संवेदना के स्वतन्त्र प्रसार तथा स्वच्छन्द कल्पनात्मक (इमैजिनेटिव) कृतियों के निर्माण की बहुत कम सम्भावना थी।

पूर्व मध्ययुगीन काव्य अर्थात् भक्तिकाल में कहीं-कहीं सहज कुतूहल और जिज्ञासापरक भावनाओं की अभिव्यक्ति मिलती है। कबीर और जायसी के काव्य में इस प्रकार के उदाहरण ढूँढे जा सकते हैं। परन्तु उन की कल्पना पर भी एक विशेष प्रकार के साम्प्रदायिक (डॉग्मैटिक) विवेक का अंकुश था। वे अंकुश को ढीला कर सकते थे। परन्तु उसे सर्वथा छोड़ पाने में वे असमर्थ थे। जिस अतर्कित विश्वास की भित्ति पर उन का सम्पूर्ण काव्य और जीवन-दर्शन खड़ा था उस से अलग कर देने पर उन के काव्य की सम्पूर्ण अर्थवत्ता ही समाप्त हो जा सकती थी। सगुण भक्तों के निकट जिज्ञासा की आवश्यकता ही न थी। वे अवतारों में विश्वास रखते थे। अवतारों में भी उन्होंने कर्मप्रधान मानव-रूपधारी चरित्रों को अधिक महत्त्व दिया। मत्स्य, वाराह आदि अवतारों में उन्हें अपने आदर्शों का वह दिव्य रूप नहीं दिखाई दिया जो उन के उदात्त भावों का आलम्बन बन पाता। अतः उन की कल्पना पुराणों का आधार लेकर विकसित हुई। उन की काव्यात्मक कल्पना को हम 'अर्द्धपौराणिक' कल्पना कह सकते हैं। अँगरेज़ी में जिसे 'मिथ' कहते हैं उस का स्वतन्त्र विकास उन के काव्य में न हो सका। वाल्मीकि और कालिदास तथा युरॅप के होमर आदि कवियों में पौराणिक कल्पना का जैसा स्वाभाविक विकास हुआ है वैसा भक्तिकाव्य में नहीं पाया जाता। मेरी समझ में इस का कारण इतना ही है कि वाल्मीकि और कालिदास के युग तक पुराणों का निर्माण जारी था और पौराणिक परिकल्पनाएँ एक गतिशील अवस्था में थीं। वाल्मीकि के युग में तो पुराणों का स्वरूप प्रकृति से घुला-मिला था। कालिदास के युग तक आते-आते पौराणिक कल्पना में स्थिरता आने लगी। फिर भी उस में रचनात्मक सम्भावनाएँ पर्याप्त थीं।

उत्तर-मध्ययुग तक आते-आते पौराणिक कल्पना की रचनात्मक सम्भावनाए प्रायः समाप्त हो चुकी थीं। अतः वहाँ कल्पना का स्वरूप परिपाटी-विहित अधिक दिखाई देता है। स्वच्छन्द कल्पना के लिए शास्त्र की अनुमति नहीं थी और पौराणिक कल्पना की सीमाएँ निश्चित हो चुकी थीं। अतः रीतिकालीन कवियों को अपने उन्मुक्त शृंगारिक वर्णनों के लिए अप्रस्तुत विधान की सहायता लेनी पड़ी। अप्रस्तुओं की भी संख्या निश्चित-सी हो गयी थी और कवियों को नयी उपमाओं की तलाश में बहुत भटकना नहीं पड़ता था। उन की सहायता के लिए लक्षणग्रन्थ मौजूद थे। बहुत कम

कवियों ने तत्कालीन काव्य-रूढ़ियों के घेरे को तोड़ने में सफलता पायी। इस दृष्टि से देव, घनानन्द, ठाकुर, बोधा तथा द्विजदेव के काव्य-प्रयास अधिक महत्त्वपूर्ण कहे जा सकते हैं। बिहारी ने जहाँ परम्परागत रीति-पद्धति को छोड़कर स्वच्छन्द कल्पना का उपयोग किया है वहाँ वे अवश्य नवीन बिम्बनिर्माण की दिशा में अग्रसर हुए हैं। परन्तु उन के यहाँ भी 'जलचादर के दीपलों', 'बरस रहे की धाय', 'मनो नीलमणि शैल पर आतप परचो प्रभात' या 'सुरतरु की मनु सिन्धु में लसत सपल्लव डार' जैसे स्वतः-स्फूर्त बिम्ब कम ही मिलते हैं। अधिकांश रीतिकालीन कवियों के अप्रस्तुत बाह्य सौन्दर्य की स्थूल-सूक्ष्म रेखाओं को व्यक्त करने के लिए लाये गये थे। मानवीय प्रकृति की गहराई उन में बहुत कम पायी जाती है। बाह्य प्रकृति का महत्त्व भी उन के निकट एक परिपाटी-विहित अभिप्राय के रूप में ही था। प्रचलित काव्य-रूढ़ियों और कवि-समयों की सीमा से बाहर निकल कर यथार्थ प्रकृति का साक्षात्कार बहुत कम कवि कर पाते थे। रीतिकालीन कवि जिस सामन्ती वातावरण में जी रहा था उस का काव्यगत रूप-विन्यास भी उसी के अनुरूप था—बहिर्मुख, गतानुगतिक और ऐकान्तिक चित्रों तक सीमित। चाँद को देखकर कवि को याद आता था तो राधिका का मुखमण्डल या नायिका की कोई मोहक मुद्रा। न तो वह स्वच्छन्द स्मृतिचित्रों से किसी आन्तरिक अनुभूति को प्रेषित करने का प्रयास करता था न उसे आपात दृश्यमान सौन्दर्य के भीतर किसी अन्तर्निहित सौन्दर्य-सत्ता का ही आभास होता था। तात्पर्य यह कि उस की कल्पना वस्तु के आकार से बँधी हुई चलती थी। वह सहज चाँदनी के समानान्तर किसी नवीन काव्यात्मक चाँदनी की सृष्टि नहीं करता था। कल्पना वहाँ पुनर्निर्माण की ऐन्द्रजालिक क्रीड़ा नहीं करती थी। संक्षेप में, पूरे उत्तर-मध्ययुगीन काव्य की यही रूपगत सीमाएँ थीं।

भारतेन्दु-युगीन कवि को जो काव्य परम्परा दाय के रूप में मिली थी वह पद्माकर और पजनेस आदि कवियों की क्षयोन्मुख श्रृंगार-परम्परा ही थी। उस धारा में गतिमयता अब नहीं थी। केवल एक यान्त्रिक बहाव-भर रह गया था। गतिरोध की इस स्थिति को सर्वप्रथम भारतेन्दु ने ही अनुभव किया। उन्होंने इस समस्या को उचित ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में रख कर देखा और अपनी गतिकृतियों तथा खड़ीबोली की कविताओं में इस के समाधान की ओर सामयिक संकेत भी दिया। भारतेन्दु का व्यक्तित्व प्राचीन और नवीन के द्वन्द्वमूलक तत्त्वों से गठित हुआ था। फलतः उन का रचनात्मक व्यक्तित्व भी दो भागों में विभक्त हो गया। एक के द्वारा उन्होंने चली आती हुई परम्परा को स्वीकार कर अपने ढंग से उस का परिवर्द्धन और परिष्कार किया। दूसरे के द्वारा बृहत्तर समूह की बोलचाल की भाषा को अपनी मौलिक प्रतिभा के बल पर साहित्यिक भाषा की गरिमा प्रदान की। आगे चलकर उन का यह दूसरा रूप ही ऐतिहासिक विकास का अंग बन सका। यही उन का क्रान्तिकारी प्रयास था जिस के कारण उन्हें आधुनिक साहित्य का प्रवर्तक होने का सहज गौरव प्राप्त है।

विवेक की प्रधानता के मूल में उस युग के व्यक्ति की सामाजिक स्थिति थी। मध्ययुगीन मनुष्य परम्परा में दृढ़ विश्वास रखता था। दैव के विधान में उस की अटूट आस्था थी। मानवीय शक्ति उस की दृष्टि में बहुत नगण्य और सीमित थी। जीवन की स्थूल आवश्यकताओं से वह या तो ऊपर था—जैसे सन्त और भक्त कवि—या उसी की चिन्ता में डूबा हुआ था—जैसे रीतिकाल के दरबारी कवि। ऐसी स्थिति में उस काल की कविता में संवेदना के स्वतन्त्र प्रसार तथा स्वच्छन्द कल्पनात्मक (इमैजिनेटिव) कृतियों के निर्माण की बहुत कम सम्भावना थी।

पूर्व मध्ययुगीन काव्य अर्थात् भक्तिकाल में कहीं-कहीं सहज कुतूहल और जिज्ञासापरक भावनाओं की अभिव्यक्ति मिलती है। कबीर और जायसी के काव्य में इस प्रकार के उदाहरण ढूँढे जा सकते हैं। परन्तु उन की कल्पना पर भी एक विशेष प्रकार के साम्प्रदायिक (डॉग्मैटिक) विवेक का अंकुश था। वे अंकुश को ढीला कर सकते थे। परन्तु उसे सर्वथा छोड़ पाने में वे असमर्थ थे। जिस अतर्कित विश्वास की भित्ति पर उन का सम्पूर्ण काव्य और जीवन-दर्शन खड़ा था उस से अलग कर देने पर उन के काव्य की सम्पूर्ण अर्थवत्ता ही समाप्त हो जा सकती थी। सगुण भक्तों के निकट जिज्ञासा की आवश्यकता ही न थी। वे अवतारों में विश्वास रखते थे। अवतारों में भी उन्होंने कर्मप्रधान मानव-रूपधारी चरित्रों को अधिक महत्त्व दिया। मत्स्य, वाराह आदि अवतारों में उन्हें अपने आदर्शों का वह दिव्य रूप नहीं दिखाई दिया जो उन के उदात्त भावों का आलम्बन बन पाता। अतः उन की कल्पना पुराणों का आधार लेकर विकसित हुई। उन की काव्यात्मक कल्पना को हम 'अर्द्धपौराणिक' कल्पना कह सकते हैं। अँगरेज़ी में जिसे 'मिथ' कहते हैं उस का स्वतन्त्र विकास उन के काव्य में न हो सका। वाल्मीकि और कालिदास तथा युरॅप के होमर आदि कवियों में पौराणिक कल्पना का जैसा स्वाभाविक विकास हुआ है वैसा भक्तिकाव्य में नहीं पाया जाता। मेरी समझ में इस का कारण इतना ही है कि वाल्मीकि और कालिदास के युग तक पुराणों का निर्माण जारी था और पौराणिक परिकल्पनाएँ एक गतिशील अवस्था में थीं। वाल्मीकि के युग मे तो पुराणों का स्वरूप प्रकृति से घुला-मिला था। कालिदास के युग तक आते-आते पौराणिक कल्पना में स्थिरता आने लगी। फिर भी उस में रचनात्मक सम्भावनाएँ पर्याप्त थीं।

उत्तर-मध्ययुग तक आते-आते पौराणिक कल्पना की रचनात्मक सम्भावनाएँ प्रायः समाप्त हो चुकी थीं। अतः वहाँ कल्पना का स्वरूप परिपाटी-विहित अधिक दिखाई देता है। स्वच्छन्द कल्पना के लिए शास्त्र की अनुमति नहीं थी और पौराणिक कल्पना की सीमाएँ निश्चित हो चुकी थीं। अतः रीतिकालीन कवियों को अपने उन्मुक्त शृंगारिक वर्णनों के लिए अप्रस्तुत विधान की सहायता लेनी पड़ी। अप्रस्तुओं की भी संख्या निश्चित-सी हो गयी थी और कवियों को नयी उपमाओं की तलाश में बहुत भटकना नहीं पड़ता था। उन की सहायता के लिए लक्षणग्रन्थ मौजूद थे। बहुत कम

कवियों ने तत्कालीन काव्य-रूढ़ियों के घेरे को तोड़ने में सफलता पायी। इस दृष्टि से देव, घनानन्द, ठाकुर, बोधा तथा द्विजदेव के काव्य-प्रयास अधिक महत्त्वपूर्ण कहे जा सकते हैं। विहारो ने जहाँ परम्परागत रीति-पद्धति को छोड़कर स्वच्छन्द कल्पना का उपयोग किया है वहाँ वे अवश्य नवीन बिम्बनिर्माण की दिशा में अग्रसर हुए हैं। परन्तु उन के यहाँ भी 'जलचादर के दीपलों', 'बरस रहे की धाय', 'मनो नीलमणि शैल पर आतप परचो प्रभात' या 'सुरतरु की मनु सिन्धु में लसत सपल्लव डार' जैसे स्वतः-स्फूर्त बिम्ब कम ही मिलते हैं। अधिकांश रीतिकालीन कवियों के अप्रस्तुत बाह्य सौन्दर्य की स्थूल-सूक्ष्म रेखाओं को व्यक्त करने के लिए लाये गये थे। मानवीय प्रकृति की गहराई उन में बहुत कम पायी जाती है। बाह्य प्रकृति का महत्त्व भी उन के निकट एक परिपाटी-विहित अभिप्राय के रूप में ही था। प्रचलित काव्य-रूढ़ियों और कवि-समयों की सीमा से बाहर निकल कर यथार्थ प्रकृति का साक्षात्कार बहुत कम कवि कर पाते थे। रीतिकालीन कवि जिस सामन्ती वातावरण में जी रहा था उस का काव्यगत रूप-विन्यास भी उसी के अनुरूप था—वहिर्मुख, गतानुगतिक और ऐकान्तिक चित्रों तक सीमित। चाँद को देखकर कवि को याद आता था तो राधिका का मुखमण्डल या नायिका की कोई मोहक मुद्रा। न तो वह स्वच्छन्द स्मृतिचित्रों से किसी आन्तरिक अनुभूति को प्रेषित करने का प्रयास करता था न उसे आपात दृश्यमान सौन्दर्य के भीतर किसी अन्तर्निहित सौन्दर्य-सत्ता का ही आभास होता था। तात्पर्य यह कि उस की कल्पना वस्तु के आकार से बँधी हुई चलती थी। वह सहज चाँदनी के समानान्तर किसी नवीन काव्यात्मक चाँदनी की सृष्टि नहीं करता था। कल्पना वहाँ पुनर्निर्माण की ऐन्द्रजालिक क्रीड़ा नहीं करती थी। संक्षेप में, पूरे उत्तर-मध्ययुगीन काव्य की यही रूपगत सीमाएँ थीं।

भारतेन्दु-युगीन कवि को जो काव्य परम्परा दाय के रूप में मिली थी वह पद्माकर और पजनेस आदि कवियों की क्षयोन्मुख शृंगार-परम्परा ही थी। उस धारा में गतिमयता अब नहीं थी। केवल एक यान्त्रिक बहाव-भर रह गया था। गतिरोध की इस स्थिति को सर्वप्रथम भारतेन्दु ने ही अनुभव किया। उन्होंने इस समस्या को उचित ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में रख कर देखा और अपनी गतिकृतियों तथा खड़ीबोली की कविताओं में इस के समाधान की ओर सामयिक संकेत भी दिया। भारतेन्दु का व्यक्तित्व प्राचीन और नवीन के द्वन्द्वमूलक तत्त्वों से गठित हुआ था। फलतः उन का रचनात्मक व्यक्तित्व भी दो भागों में विभक्त हो गया। एक के द्वारा उन्होंने चली आती हुई परम्परा को स्वीकार कर अपने ढंग से उस का परिवर्द्धन और परिष्कार किया। दूसरे के द्वारा बृहत्तर समूह की बोलचाल की भाषा को अपनी मौलिक प्रतिभा के बल पर साहित्यिक भाषा की गरिमा प्रदान की। आगे चलकर उन का यह दूसरा रूप ही ऐतिहासिक विकास का अंग बन सका। यही उन का क्रान्तिकारी प्रयास था जिस के कारण उन्हें आधुनिक साहित्य का प्रवर्तक होने का सहज गौरव प्राप्त है।

ब्रजभाषा के साथ कठिनाई यह थी कि वह कविवर पंत के शब्दों में 'मन की वाणी' तो बन गयी थी, पर 'मुँह की वाणी' नहीं बन पायी थी। भारतेन्दु ने इस दूरी को मिटाने का प्रयास किया और रीतिकालीन 'उपमाओं के शापभ्रष्ट नहुष' (पंत : पल्लव की भूमिका) को पुनः उस के उच्च पद पर प्रतिष्ठित करने का साहस दिखाया। प्रश्न यह है कि सहसा यह परिवर्तन की लहर कहाँ से आ गयी ? तीन सौ वर्षों से चले आते हुए साहित्यिक मूल्य सहसा निरर्थक कैसे हो गये ? इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए हमें तत्कालीन सामाजिक परिवर्तनों की प्रक्रिया को समझना होगा और उन नवीन प्रेरणा स्रोतों का अध्ययन करना होगा जिन से आधुनिक विचारों की अनेकमुखी धाराएँ प्रवाहित हुई थीं। गद्य का आविर्भाव एक ऐसी घटना थी जिस ने सम्पूर्ण साहित्य की दिशा को बदल दिया। रूपक, उत्प्रेक्षा और उपमान बदल गये। रूढ़ियाँ टूटीं और उन के स्थान पर यथार्थ को प्रतिष्ठा मिली। अतीत से खिंचकर कवियों की दृष्टि वर्तमान के स्तर पर केन्द्रित हो गयी। साहित्य में 'साधारण' का महत्त्व स्थापित हुआ। हम आगे चलकर देखेंगे कि इन ऐतिहासिक परिवर्तनों के फलस्वरूप बिम्बविधान की दिशा और स्वरूप में भी परिवर्तन हुआ।

परिवर्तन की प्रक्रिया

कुछ विचारकों ने आधुनिक काल का आरम्भ भारतेन्दुयुग से भी पहले माना है। डॉ० श्रीकृष्णलाल के अनुसार आधुनिकता का आरम्भ सन् १८३७ के आस-पास मानना चाहिए, जब दिल्ली में सब से पहले एक लीथोग्रैफ़िक प्रेस की स्थापना हुई।[१] फल-स्वरूप पठन-पाठन की सारी प्रणाली ही बदल गयी। धार्मिक पुस्तकों का प्रकाशन हुआ और संस्कृत के पुराने नाटकों के नवीन मुद्रित संस्करण पाठकों तक पहुँचे। अँगरेज़ी शिक्षा और संस्कृति का प्रसार हुआ। छात्रों के लिए नये पाठ्यक्रम निर्धारित हुए और सरल-सुबोध हिन्दी में नयी स्कूली रीडरें प्रकाशित हुई। पत्रिकाओं के प्रकाशन का मार्ग प्रशस्त हुआ। साहित्यिक कृतियाँ पुरानी पाण्डुलिपियों से निकलकर व्यापक प्रकाश में आने लगीं। इन सारी स्थितियों ने हिन्दी पाठक की मनोवैज्ञानिक दशा को ही बदल दिया। परिणाम यह हुआ कि प्राचीन काव्य का 'सहृदय' नये काव्य का 'पाठक' बन गया। धीरे-धीरे उस की रसदृष्टि और आस्वादन की पृष्ठभूमि भी बदलती गयी। यह सब कुछ बड़ी तीव्र गति से एक व्यापक सामाजिक क्रान्ति के रूप में घटित हुआ। पुरानी अर्थ-व्यवस्था की जड़ें हिल गयीं। उत्पादन, उपयोग और वितरण के नये साधन सामने आये। समाज का केवल ऊपरी आकार ही नहीं बदला, उस के आन्तरिक संगठन में भी विक्षोभ उत्पन्न हुआ। धार्मिक मूल्य सन्दिग्ध हो उठे और उन की जगह नये वैज्ञानिक अन्वेषण प्रतिष्ठा पाने लगे। जिस जीवन-व्यवस्था का नियमन श्रद्धा और विश्वास से समन्वित धार्मिक प्रवृत्ति के द्वारा हो रहा था उस का संचालन सन्देह और

---

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास; पृ० १५.

बुद्धिमूलक विज्ञान के द्वारा होने लगा। रेल, जहाज़, डाक-तार, विद्युत्शक्ति आदि का प्रसार हुआ। देश और काल के अन्तर सिमट कर कम हुए। प्राकृतिक शक्तियाँ मानव के अधीन होकर कार्य करने लगीं। बड़े-बड़े औद्योगिक नगर बसे और गाँवों से आये हुए लोगों का एक नया वर्ग निर्मित हो गया। आगे चल कर यही वर्ग सम्पूर्ण सामाजिक आन्दोलनों का केन्द्र बना। कवि और लेखक भी अपने पुराने संरक्षण खो कर इसी वर्ग के सदस्य हुए। दरबारी संस्कृति और सामन्ती अभिरुचि को इस से बहुत बड़ा धक्का लगा।

आधुनिकता की यह लहर पश्चिम से आयी थी और तत्कालीन भारतीय जीवन-व्यवस्था के अनुरूप उस का प्रसार धीरे-धीरे सारे देश में हो गया। बंगाल चूँकि अँगरेज़ों के सम्पर्क में सब से पहले आया था इस लिए आधुनिक जीवन-दृष्टि का प्रमाण भी उसी ने सब से पहले दिया। सन् १८२८ में ही राजा राममोहन राय ने 'ब्रह्मसमाज' की स्थापना के द्वारा एक नये समन्वयवादी दृष्टिकोण का परिचय दिया था। साहित्य के क्षेत्र में माइकेल मधुसूदन दत्त और हेमचन्द्र इस नवीन सांस्कृतिक जागरण के अग्रदूत हुए। भावना के क्षेत्र में सब से बड़ी घटना यह हुई कि सारे के सारे पुराने विश्वास सहसा निरर्थक हो गये। चली आती हुई काव्यगत रूढ़ियाँ, अभिप्राय और कवि-समय—सब के सब सन्देहास्पद हो उठे। बहुत-से परम्परागत अलंकार अपनी मौलिक उपयोगिता खो कर अनावश्यक हो गये। मीन, हरिण, चन्द्र, कमल, कदलीस्तम्भ, मृणाल, पिक, शुक, खंजन, मधुमक्खी, रसाल, कल्पवृक्ष, तुरंग, गज और तीर-कमान जैसे उपमान नयी अनुभूतियों को प्रेषित करने में अक्षम सिद्ध होने लगे। प्रकृति और शेष वस्तुजगत् के प्रति मानव की दृष्टि अधिक गहरी और तलस्पर्शी हो गयी। साहित्य और विशेषतः कविता का काम कुछ सुपरिचित सामूहिक विश्वासों के बिना नहीं चल सकता। अतः भारतेन्दु-युगीन कवि के सामने सब से बड़ी समस्या नये काव्यात्मक विश्वासों की स्थापना की थी। भारतेन्दु तथा उन के अन्य कविमित्र इस दिशा में बहुत दूर तक नहीं गये। उन्होंने कुछ अर्थकृष्ट रूढ़ियों का परित्याग तो अवश्य किया, पर नये कलागत विश्वासों को आत्मसात् नहीं कर सके। बंगला-काव्य के क्षेत्र में माइकेल मधुसूदन दत्त ने 'मेघनाद बध' जैसे साहसिक काव्यात्मक प्रयोगों के द्वारा इन्हीं नये विश्वासों की ओर संकेत किया था। हिन्दी-कविता के अन्तर्गत यह ऐतिहासिक कार्य बहुत बाद में चल कर सम्पन्न हुआ—छायावादी कवियों के द्वारा। भारतेन्दु तथा उन के समकालीन कवियों ने नये सामाजिक विश्वासों (आदर्शों) के प्रति अधिक उत्साह दिखाया। कला के क्षेत्र में उन की क्रान्ति केवल भाषा परिवर्तन तक ही सीमित रही। व्रजभाषा के टूटते हुए आकर्षण ने उन्हें इस से आगे नहीं बढ़ने दिया।

भारतेन्दु-युग की सब से बड़ी घटना है राष्ट्रीय भावना का जागरण और फल-स्वरूप सन् १८८५ में बम्बई में काँग्रेस की स्थापना। भारतेन्दु के जन्म के सात वर्ष बाद लगभग सम्पूर्ण उत्तर भारत में १८५७ का प्रथम स्वाधीनता-संघर्ष घटित हो चुका

था। तत्कालीन साहित्यिक मोड़ के पीछे उस ऐतिहासिक संघर्ष की प्रेरणा अवश्य रही होगी। परन्तु आश्चर्यजनक रूप से उस काल के साहित्य में इस विद्रोह का उल्लेख बहुत कम मिलता है। इस का कारण चाहे जो भी हो, इस से इतना तो प्रमाणित होता ही है कि हिन्दी भाषा (खड़ीबोली) तब तक इतनी संवेदनशील नहीं बन पायी थी कि वह प्रत्येक सामाजिक स्पन्दन को तत्काल प्रतिबिम्बित कर सके। इस के विपरीत उर्दू भाषा में इस प्रकार की शक्ति आ चुकी थी। मिर्ज़ा ग़ालिब ने अपनी एक नज़्म में ग़दर-कालीन कष्टों और विपत्तियों का बड़ा मार्मिक चित्र खींचा है। यही नहीं, उस काल के खड़ीबोली प्रदेशों के लोकगीतों में भी ग़दर के सांकेतिक चित्र मिलते हैं। सहारनपुर के आस-पास के क्षेत्र में पाये जाने वाले एक पुराने लोकगीत की पंक्तियों में इस बात का उदाहरण देखा जा सकता है :

लोगों ने लूटे शाल-दुशाले, मेरे प्यारे ने लूटे रुमाल।
मेरठ का सदर बजार है, मेरे सैयाँ लूट न जानें।
लोगों ने लूटे प्याली-कटोरे, मेरे प्यारे ने लूटे गिलास। मेरठ का०
लोगों ने लूटे केले-छुहारे, मेरे प्यारे ने लूटे बदाम। मेरठ का०
लोगों न लूटे मुहर-अशर्फी, मेरे प्यारे ने लूटे छदाम।
मेरठ का सदर बजार है, मेरे सैयाँ लूट न जानें।

शाल-दुशाला, रुमाल, प्याली-कटोरे, गिलास, छुहारा-बादाम इत्यादि सर्वथा नये प्रतीक इस गीत में मिलेंगे। शाल और रुमाल के विरोध से ग्रामीण बालिका के हृदय की कितनी मार्मिक अनुभूति व्यक्त हुई है। हिन्दी कविता में इस प्रकार के नये प्रतीक भारतेन्दु और 'प्रेमघन' की परवर्ती कविताओं में देखे जा सकते हैं।

सन् १८७५ में स्वामी दयानन्द ने 'आर्यसमाज' की स्थापना की और हिन्दी-भाषाभाषी क्षेत्रों में वैदिक आर्यधर्म की एक नयी लहर दौड़ गयी। 'ब्रह्मसमाज' का प्रचार चूँकि बंगाल तक सीमित था अतः उस का प्रभाव हिन्दी के ऊपर नहीं के बराबर पड़ा। पर आर्यसमाज न केवल हिन्दी-क्षेत्र से आविर्भूत हुआ था बल्कि हिन्दी भाषा (खड़ीबोली) ही उस के व्यापक प्रचार-प्रसार का माध्यम बनी। स्वामी दयानन्द ने अपने सब से प्रसिद्ध सिद्धान्तग्रन्थ 'सत्यार्थ-प्रकाश' का हिन्दी में ही निर्माण किया। वस्तुतः 'आर्यसमाज' वैज्ञानिक भौतिकवाद के विरुद्ध, मध्यकालीन धार्मिक रूढ़ियों का खण्डन कर के, एक नयी आडम्बरहीन धर्मव्यवस्था को व्यापक स्वीकृति दिलाने का ऐतिहासिक प्रयास था। पुराणों के स्थान पर वेदों के महत्त्व को पुनः प्रतिष्ठित करना प्रकारान्तर से रॅमैण्टिक दार्शनिक रूसो का 'प्रकृति की ओर प्रत्यावर्तन' (बैक टु नेचर) नामक सिद्धान्त का भारतीय रूप ही था। औद्योगिक क्रान्ति के बाद रस्किन और टॉल्स-टॉय ने भी कुछ इसी तरह का धार्मिक नारा दिया था। इन सारी परिस्थितियों ने तत्कालीन हिन्दी कवि के मानसिक गठन को बहुत अंश तक निर्धारित और प्रभावित किया। 'प्रेमघन' और जगमोहन सिंह ने अपनी रचनाओं में प्रकृति को स्वतन्त्र सत्ता

का परिचय दिया। भारतेन्दु की कविता में प्रकृति अधिकतर आलंकारिक रूप में आयी है। परन्तु उन्होंने उस के उद्दीपक रूप की अपेक्षा, सहज भावमय रूप को अधिक महत्त्व दिया है। इन्हीं परिवर्तनों के फलस्वरूप साहित्य में सामन्ती अभिरुचि और उच्चवर्गीय कला की स्थिति में भी परिवर्तन हुआ। जनसामान्य के सुख-दुःख और आशा-निराशा की ओर कवियों की दृष्टि गयी। धार्मिक भेद-भाव कम हुआ और हिन्दुत्व की भावना का स्थान राष्ट्रप्रेम ने ले लिया। स्वदेश-प्रेम की चेतना भारतीय साहित्य के लिए सर्वथा नयी वस्तु थी।

नयी वास्तविकता

मशीन के सम्पर्क से मानवीय सम्बन्धों में एक बहुत बड़ा परिवर्तन आया। एक नयी यान्त्रिक सभ्यता का सूत्रपात हुआ। श्रम की सामूहिकता धीरे-धीरे समाप्त होने लगी और उस के स्थान पर निजी व्यापारिक प्रयासों का ज़ोर बढ़ने लगा। फलतः पूँजी कुछ थोड़ी-सी इकाइयों में केन्द्रित होने लगी और श्रम के बाक़ी साझीदार उन की अधीनता स्वीकार करने को विवश हुए। कल-कारखाने, रेल, डाक-तार इत्यादि के प्रचलन से मानवीय भावों के परम्परागत आलम्बन बदले। आरम्भ में भारतीय जनता ने इन स्वतः चालित यन्त्रों को अपनी सहज बुद्धि के अनुसार दैवी अथवा दानवी शक्ति का प्रकाशन समझा। रेलगाड़ी को आज भी अशिक्षित ग्रामीण जनता 'काली' का प्रतिरूप समझती है। धीरे-धीरे इन की कार्यप्रणाली और प्रयोग में आने वाले प्राकृतिक उपादानों की भी जानकारी सर्वसुलभ हो गयी। जनता ने कल-कारखाने, नदियों के विशाल पुल, ट्रेन और बिजली को एक सुपरिचित आधुनिक वास्तविकता के रूप में स्वीकार कर लिया। सभ्यता के इन नवीन उपकरणों से केवल भौतिक सुविधाएँ ही नहीं प्राप्त हुईं, सोचने और विचार करने के लिए नयी पृष्ठभूमि भी मिली। यन्त्रों के विकास के साथ-साथ मनुष्य का सूक्ष्म संवेदन-यन्त्र भी विकसित और परिष्कृत हुआ। सामन्ती संस्कृति में एक प्रकार की बहिर्मुखी सरलता थी। इस नयी औद्योगिक संस्कृति का विकास भावात्मक जटिलता की दिशा में हुआ। भारतेन्दु-युगीन कविता पर नयी यान्त्रिक सभ्यता की छाप बहुत धुँधली है। यान्त्रिक संस्थानों से गृहीत बिम्ब उस काल की कविता में बहुत कम हैं। केवल कार्तिक प्रसाद खत्री द्वारा लिखित 'रेल का विकट खेल' शीर्षक एकांकी इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण प्रमाणित हो सकता है जो 'कविवचन-सुधा' के १५ मई, १८७४ के अंक में प्रकाशित हुआ था। उस के नान्दीपाठ का छन्द इस प्रकार है :

> अगिन, वायु, जल, पृथ्वी, नभ, इन तत्त्वों का ही मेला है।
> इच्छा कर्म संजोगी इनजिन गारड आप अकेला है॥
> जीव लाद सब खींचत डोलत, तन इसटेशन झेला है।
> जयति अपूरब कारीगर जिन जगत-रेल को रेला है॥

(पृष्ठ २०२)

सम्भवतः प्रस्तुत छन्द हिन्दी कविता के इतिहास में नयी यान्त्रिक सभ्यता को काव्यात्मक स्वीकृति देने का पहला प्रयास है। इनजिन, गारड, इसटेशन और रेल जैसे उपमान नयी वास्तविकता के व्यापक प्रभाव की सूचना देते हैं। परन्तु खत्रीजी ने केवल इस नयी बिम्ब-योजना की ओर एक संकेत-भर दिया। वे उस को पूर्ण काव्यात्मक रूप नहीं दे पाये। आधुनिकता के आदियुग में शायद यह सम्भव भी नहीं था। किन्तु कविता के परम्परागत रूप-विन्यास के भीतर यह एक क्रान्तिकारी प्रयास था। भविष्य की कविता पर इस पद्धति का व्यापक प्रभाव पड़ा। युरॅप के प्रभाव से वास्तविकता की जो नयी चेतना आयी थी उस का यह केवल एक स्तर था। दूसरा स्तर सांस्कृतिक परिवर्तन का था।

अँगरेज़ी शिक्षा के प्रसार के कारण भारतीय नागरिक पहली बार बृहत्तर विश्व की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के प्रत्यक्ष परिचय में आये। आधुनिक विचारों का दबाव उन्होंने अपने आस-पास के वातावरण में भी अनुभव किया और युरॅप के इतिहास के प्रकाश में स्वयं अपने अतीत को नयी दृष्टि से देखा। फलतः अपने परिवेश के प्रति उन के भीतर एक नयी रागात्मक दृष्टि उत्पन्न हुई। सुदूर युरॅप तथा अमेरिका में होने वाले प्रजातान्त्रिक प्रयोगों की गतिविधि की सूचना भी उन तक पहुँची। अपनी वास्तविक स्थिति का उन्हें बोध हुआ और ग़ुलामी की बेड़ियों की खनक भी उन्हें सुनाई पड़ने लगी। अँगरेज़ी साहित्य के अध्ययन से भावात्मक स्वतन्त्रता का एक नया क्षितिज उभरने लगा। भारतेन्दु के समकालीन लेखकों में ठाकुर जगमोहन सिंह की रचनाओं पर अँगरेज़ी कवियों का प्रभाव स्पष्ट है। उन्होंने प्रसिद्ध रॅमैण्टिक कवि बायरॅन की 'प्रिज़नर ऑव शिलन' का 'शिलन का बन्दी' शीर्षक से अनुवाद भी किया था।[१] उन की प्रसिद्ध कृति 'श्यामा-स्वप्न' की रचना एक भावुकतापूर्ण स्वच्छन्द प्रेम-कथानक के आधार पर की गयी है जिस का प्रेम-सम्बन्धी आदर्श पाश्चात्य रॅमैण्टिक कवियों के आदर्श से मिलता-जुलता है। पुस्तक के आरम्भ में लेखक ने स्वयं अपनी रचना को 'श्यामा-स्वप्न', अर्थात् गद्यप्रधान, चार खण्डों में एक कल्पना कहा है। आधुनिक हिन्दी के इतिहास में पश्चिम के रॅमैण्टिकों और हिन्दी के छायावादियों के प्रिय मूल्य-शब्द (वैल्यू-वर्ड) 'कल्पना' का यह पहला साहित्यिक उल्लेख है। कल्पना साहित्य में सदा एक भावात्मक विद्रोह के साथ आती है। यहाँ भी उस का उपयोग विवाह-सम्बन्धी प्राचीन रूढ़ियों के विरोध में किया गया है। 'श्यामा-स्वप्न' के अतिरिक्त ठाकुर साहब की अन्य रचनाओं से भी उन की स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति का परिचय मिलता है। विशेषतः प्रकृति-वर्णन की दिशा में उन्होंने एक 'नूतन विधान का आभास दिया' और प्राचीन संस्कृत कवियों के आदर्श पर संश्लिष्ट बिम्ब-योजना की पद्धति का नये सिरे से प्रवर्त्तन किया।[२] तात्पर्य यह कि अँगरेज़ी शिक्षा के प्रसार से एक नये प्रकार का उन्मुक्त सांस्कृतिक वातावरण तैयार होने लगा। आरम्भ

१. द्रष्टव्य : डॉ० श्रीकृष्णलाल-लिखित 'श्यामा-स्वप्न' की भूमिका; पृ० ६.
२. हिन्दी-साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल; पृ० ५६४.

में विदेशी शिक्षा-पद्धति के प्रति एक अनास्था और असन्तोष का भाव अवश्य था, परन्तु धीरे-धीरे वह व्यापक सांस्कृतिक वातावरण का अंग बन गयी। अँगरेज़ी भाषा नयी वास्तविकता का एक जीता-जागता दर्पण थी जिस के सम्मुख खड़े हो कर भारतीयों ने अतीत और वर्तमान का नये सिरे से साक्षात्कार किया। मध्ययुग की चिरविरहिणी नायिका के प्रति कवियों का दृष्टिकोण बदल गया। नारी स्वातन्त्र्य की भावना साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्त होने लगी। भारतेन्दु ने अपने प्रसिद्ध पत्र 'कविवचनसुधा' (प्रारम्भ सं० १९२५) का जो सिद्धान्त-वाक्य रखा था उस से उन के नये क्रान्तिकारी विचारों का पता चलता है :

> खल-गनन सों सज्जन दुखी मत होंहि, हरिपद-मति रहै।
> उपधर्म छूटें, स्वत्व निज भारत गहै, कर-दुख बहै॥
> बुध तजहिं मत्सर, नारि नर सम होंहि, जग आनन्द लहै।
> तजि ग्राम-कविता सुकविजन की अमृतवानी सब कहै॥[1]

इन सारी बातों ने तत्कालीन कविता के अवरुद्ध वातावरण को मुक्त करने में सहायता पहुँचायी। ब्रजभाषा में तो वही पुरानी शृंगारिकता की परिपाटी, कुछ नये परिष्कार के साथ चलती रही; पर खड़ीबोली में जो कविताएँ इस बीच लिखी गयीं उन की विषयवस्तु, शैली-शिल्प तथा रूप-विन्यास में अभूतपूर्व परिवर्तन हुआ। चन्द्र, चाँदनी, समीर, लता, वसन्त, यमुना-तट, वंसीवट, चकई, चकोर और चातक आधुनिक कविता की सीमा के भीतर नहीं आ सके। उन के स्थान पर नये प्रतीक और नूतन अप्रस्तुत प्रवेश पाने लगे। चूँकि उस काल की अधिकांश खड़ीबोली की कविताएँ एक विशेष प्रकार के सामाजिक उद्देश्य से परिचालित हो कर लिखी गयी थीं अतः उन की शैली सीधी-सरल और अभिधात्मक अधिक हुई, लाक्षणिक अथवा ध्वन्यात्मक बहुत कम। कविता यथार्थ के निकट आ गयी। अकाल, महामारी, टैक्स और ऐसे ही नये-नये सामयिक विषयों पर कविता लिखी जाने लगी। 'प्रेमघन' ने दादाभाई नौरोजी के पार्लमेण्ट के मेम्बर होने के अवसर पर जिस उत्साह से कविता लिखी थी उसी उत्साह से नागरी के कचहरियों में प्रवेश पाने के अवसर पर भी। मतलब यह कि भारतेन्दु-युगीन कवियों के भीतर एक विशेष प्रकार का परिवेश-बोध जाग्रत् हो गया था जो इस से पूर्व की कविता में अनुपस्थित था। जिस विपन्न और अति-साधारण अवस्था में भारतीय कवि जी रहा था उस की दुर्द्धर्ष सचाई के प्रति वह अत्यधिक सतर्क हो उठा :

> जामैं राजत कुटी एक फूसहिं सो छाई।
> आलड़-बाल विहीन तऊ अतिसय सुखदाई।
> जामैं चौकी एक, खाटहू इक साधारन।
> बिछी रहति इक और सहित सामान्य अस्तरन॥

---

१. भारतेन्दु नाटकावली (प्रस्तावना); पृ० २१.

कम्मल गुनरी और चटाई हू द्वै इक जित ।
रहति जहाँ आगन्तुक जन के बैठन के हित ।[1]

इस प्रकार की आडम्बरहीन, सीधी-सहज, अकृत्रिम पंक्तियों के द्वारा हिन्दी-कविता के भीतर एक नये प्रकार की यथार्थवादी मनोवृत्ति का जन्म हो रहा था । उस युग की विकासोन्मुखी कविता की यही मुख्य धारा थी । नये परिवेश-बोध का यह पहला स्तर था । देश-प्रेम, अतीत का गौरव और भावी जीवन की कल्पना, भाषा की उन्नति और स्वातन्त्र्य की भावना—ये उस मूलभूत चेतना के अन्य बहुत-से स्तर थे ।

संवेदना के नये स्तर

बाह्य जीवन में घटित होने वाले इन परिवर्तनों ने तत्कालीन कवि की मौलिक संवेदना को भी बहुत अंश तक प्रभावित किया । केवल भावों के आलम्बन ही नहीं बदले, उन की दिशा और मानसिक अनुषंग भी बदल गये । गद्य-साहित्य का ढाँचा, चूँकि बहुत नया और नये परिवर्तनों की आवश्यकता से उद्‌भूत था, अतः उस काल के साहित्यकार की संवेदन-क्षमता का परिचय उसी के माध्यम से सब से पहले मिलता है । भारतेन्दु के नाटकों में इस प्रकार के बहुत से उदाहरण ढूँढ़े जा सकते हैं । प्रयोग की दृष्टि से उन का 'नील देवी' सब से महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है । नील देवी, सूर्यदेव, अमीर इत्यादि पात्र तो वर्ग-विशेष के प्रतिनिधि मात्र हैं, पर 'पागल' जैसे जटिल चरित्र की उद्‌भावना भारतेन्दु की मौलिक निर्माण-क्षमता और नयी संवेदनशीलता का परिचायक है । पागल की विशृंखल मनोदशा और बिखरी हुई स्मृतियों को व्यक्त करने के लिए एक सर्वथा नयी अभिव्यंजना शैली का प्रयोग किया गया है :

पागल : ....."हमारा देश—हम राजा, हम रानी । हम मन्त्री । हम प्रजा । और कौन ? मार मार मार । तलवार तलवार । टूट गयी टूटी । टूटी से मार ।.... हम राजा हमारा देश हमारा भेस, हमारा पेड़-पत्ता कपड़ा-लत्ता छाता-जूता सब हमारा । ले चला ले चला । मार मार मार—जाय न जाय न—सूरज में जाय चन्द्रमा में जाय, जाय जहाँ जाय, तारा में जाय, उतारा में जाय, पारा में जाय । जहाँ जाय वहीं पकड़—मार मार मार ।....लोहे के नाती की दुम से मार । पहाड़ की स्त्री के दिये से मार—मार मार मार ।"[2]

इस प्रकार के जटिल पात्र को उपस्थित करना, कला की दृष्टि से भारतेन्दु का बहुत बड़ा साहसिक प्रयास था । प्रस्तुत संवाद में वे उस सम्पूर्ण निरुद्देश्य मनःस्थिति को प्रेषित कर सकने में समर्थ हुए हैं । इन पंक्तियों में एक विशेष प्रकार की मनोवैज्ञा-

---

१. प्रेमघन-सर्वस्व-दुदर्शा दत्तापुर.
२. भारतेन्दु नाटकावली; पृ० ६६५.

निक गहराई है जो हिन्दी साहित्य के लिए सर्वथा नयी वस्तु थी। 'लोहे के नाती की दुम' और 'पहाड़ की स्त्री का दिया'-जैसे चित्र एक नये व्यंग्य-प्रधान विरोध-जन्य शैली की सूचना दे रहे हैं जिस से मिलते-जुलते उदाहरण युरॅप की अतियथार्थवादी कविताओं और चित्रकृतियों में पाये जा सकते हैं। परन्तु भारतेन्दु की काव्यकृतियों में इस प्रकार के उदाहरण नहीं मिलते। इस का कारण यह था कि पद्य के साँचे में नयी वास्तविकता और उस से उत्पन्न आधुनिक संवेदना को ढालना उतना सरल नहीं था। गद्य का स्वरूप अधिक स्वच्छन्द था। इसीलिए आधुनिकता का प्रतिबिम्ब उस काल के गद्य में अधिक गहरा है।

इस के साथ ही हिन्दी-साहित्य में एक नयी स्वच्छन्दवृत्ति का उदय हो रहा था जिस का सब से स्पष्ट उदाहरण ठाकुर जगमोहन सिंह की कृतियों में पाया जाता है। रूढ़ियों का विरोध, मुक्त प्रेम की व्यंजना और नये संश्लिष्ट अर्थगर्भ बिम्बों की योजना, उन की गद्य और पद्य, दोनों प्रकार की रचनाओं में देखने को मिलती है। रीतिकालीन कवियों के निकट प्रकृति एक परम्परागत अभिप्राय-भर रह गयी थी। अतः अधिकतर कवि वस्तुपरिगणन और अर्थग्रहण मात्र से सन्तोष कर लेते थे। ठाकुर साहब ने पहली बार 'सामान्य' के स्थान पर 'विशेष' को प्रतिष्ठित कर के, बिम्ब-ग्रहण कराने का प्रयास किया। यह प्रकृति को नयी रागदृष्टि से देखने का प्रयास था। संवेदना का यह एक ऐसा धरातल था जो हिन्दी-साहित्य के लिए बिलकुल नया था। एक उदाहरण से इस बात को समझें :

> "पर्वत के शिखर पर चाँदनी बिखर गयी। पत्तों पर एक अपूर्व शोभा दिखाने लगी। मन्द वायु से कम्पित होकर पत्र भी यत्र-तत्र अपनी परछाहीं फेंकने लगे। नदी की लोल लहरों में मिल कर सो चन्द्रमा पैठे-से जान पड़ते थे—झरनों का झरना कैसा मनोहर लगता था, मानो मोती के गुच्छे पर्वत के ऊपर से छूट-छूटकर गिरते हों।—प्रकाश का पिण्ड धीरे-धीरे मही-मण्डल में अपनी कीर्ति प्रकाश कराता है। बड़े सघन लता-मण्डप के भीतर भी पत्रों के छेदों से चाँदनी की किरणें प्रवेश करती हैं।—ऊपर चाँदनी का स्वच्छ वितान, नीचे जल की चमक, इधर बालू की सफ़ेदी, उधर क्षितिज तक उस का फैलाव—ऐसा जान पड़ता है मानो पृथ्वी और अम्बर एक-सा हो गया है।"[1]

भाषा की अव्यवस्था और पुरानेपन को छोड़ दें, तो यह उद्धरण किसी छायावादी कवि का भावोच्छ्वसित उद्गार जान पड़ेगा। चाँदनी में पत्तों की यत्र-तत्र हिलती हुई छायाओं का सूक्ष्म निरीक्षण पंत की सृष्टिविधायिनी कल्पना का पूर्वाभास-सा प्रतीत होता है। इसी प्रकार आक्षितिज विस्तार के भीतर पृथ्वी और अम्बर का मिलन भी प्रसाद अथवा महादेवी की रहस्यात्मक उद्भावनाओं से मिलता-जुलता-सा मालूम होता

---

१. श्यामास्वप्न—ठाकुर जगमोहन सिंह; पृ० २१-२२.

है। यह पुरानी वर्णन-पद्धति से हटकर नवीन कल्पनात्मक सृष्टि की ओर अग्रसर होने का एक सफल प्रयास था। परन्तु उस युग की अनेकमुखी साहित्यिक प्रवृत्तियों ने इस प्रवृत्ति का समुचित विकास न होने दिया। परिणाम यह हुआ कि भारतेन्दु-युगीन कवि जगत् और साहित्य की बाह्य समस्याओं में अधिक व्यस्त रहा। कला की गहराइयों में जाने के लिए न तो उसे सामयिक प्रेरणा मिली न ही उपयुक्त ऐतिहासिक अवसर। छन्दोबद्ध रचनाओं में स्वच्छन्द कल्पना की अभिव्यक्ति बहुत कम मिलती है। 'प्रेमघन' की कुछ कविताओं में एक नयी वस्तुपरक ऑब्जेक्टिव सौन्दर्य-दृष्टि अवश्य देखने को मिलती है। निम्नलिखित पंक्तियों में यह नवीनता देखी जा सकती है :

रम्यस्थल बहु मुक्त लदे फल फूलन सों वन।
ताल नदी नारे जित सोहत, अति मोहन मन॥
शैल अनेक शृंग कन्दरा दरी खोहनमय।
सजित सुडौल परे पाहन चट्टान समुच्चय॥
बहत नदी हहरात जहाँ, नारे कलरव करि।
निदरत जिनहि नीरझर शीतल स्वच्छ नीर झरि॥
सघन लता द्रुम सों अधित्यका जिन की सोहत।
किलकारत वानर लंगूर जिन, नित मन मोहत॥[1]

यद्यपि इस छन्द पर प्राचीन संस्कृत कवियों के प्रकृति-चित्रण की गहरी छाप है, फिर भी कन्दरा, दरी, खोह, पाहन, चट्टान, अधित्यका, वानर और लंगूर जैसे शब्द-संकेत उस समय की कविता के लिए बिलकुल नये थे। 'सजित सुडौल परे पाहन चट्टान समुच्चय' से गृहीत होने वाला बिम्ब विस्तृत अभिरुचि और सामान्योन्मुखी सौन्दर्य-दृष्टि का परिचायक है। 'पाहन' की सुडौलता का बोध, सघन लताकुंजों तथा स्वच्छ निर्झरों के बीच शाखामृगों की किलकारियों की कल्पना, मध्ययुगीन काव्य-रुचि तथा सौन्दर्य-चेतना, दोनों के विरुद्ध पड़ती है। ऊपर इसी को संवेदना का नया स्तर कहा गया है जिस का स्वच्छन्द विकास बाद की हिन्दी कविता में हुआ।

भारतेन्दु-युगीन कविता में बिम्ब की स्थिति

भारतेन्दु-युग की कविता दो भागों में विभक्त है। एक ओर ब्रजभाषा की चलती हुई काव्यपरम्परा थी जिस में विकास के तत्त्व विरल हो चले थे। दूसरी ओर ठेठ अभिधात्मक रूप में खड़ीबोली कविता का आरम्भ हो रहा था जिस में भविष्य के लिए अपार सम्भावनाएँ थीं। पहली में कलागत प्रौढ़ता अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच चुकी थी; दूसरी अभी ऊबड़-खाबड़ और अत्यन्त अनलंकृत रूप में उठ-उभर रही थी। ब्रजभाषा का सौन्दर्य चूँकि शाब्दिक चमत्कारों (वर्बल ब्यूटी) पर आधारित था अतः उस में

१. प्रेमघन-सर्वस्व; भाग १, पृ० २.

वस्तु का केवल वर्णन भर हो सकता था। नयी बिम्ब-योजना उस के द्वारा नहीं हो सकती थी। फिर वह अलंकारों के बोझ से लदी हुई थी। इस लिए ऐसे बिम्बों की सृष्टि जिन में वस्तुगत तुलना का स्थूल आधार नहीं होता, उस के माध्यम से सम्भव नहीं थी। खड़ीबोली की अपनी कोई कलागत परिपाटी नहीं बन पायी थी। बोलचाल की भाषा से उस का निकट सम्पर्क था। अतः वह नयी अभिव्यंजनाशक्ति की अपूर्व सम्भावनाओं से भरी हुई थी। संयुक्त क्रियाओं की विविधता और वाक्यविन्यास की स्वच्छन्द पद्धति के कारण नये भावों को अभिव्यक्त करने में वह अधिक समर्थ थी। इन्हीं ऐतिहासिक कारणों से आधुनिक पाठकों के बीच वह अधिक लोकप्रिय हुई। उस युग का कवि चूँकि बहिर्मुखी अधिक था और मानवीय भावों की जटिलता में उस की गति नहीं हो पायी थी इस लिए बिम्बनिर्माण की दिशा में वह बहुत सतर्क और सन्तुलित पगों से आगे बढ़ रहा था। खड़ीबोली की कविताओं में भी वह अलंकारों से सर्वथा मुक्त नहीं हो सका था। पर जहाँ कहीं वह स्वच्छन्द भूमि पर नये भाव-चित्रों की दिशा में बढ़ता हुआ दिखाई देता है वहाँ भी उस की कल्पना आवेगहीन और संयमित है। इसी लिए उस युग की कविता में बिम्बों की अपेक्षा शाब्दिक रेखाचित्र अधिक मिलते हैं। सामान्य और सुपरिचित वस्तुओं के प्रति ममतामयी दृष्टि उस काल की कविता की बहुत बड़ी विशेषता है। इसी के चलते भारतेन्दु और प्रेमघन ने कुछ आत्म-परक कविताओं में जानी-पहचानी वस्तुओं के नामोल्लेख मात्र से एक नयी सह-संवेदना जगाने में सफलता प्राप्त की है। भारतेन्दु के भीतर इस प्रकार की क्षमता सब से अधिक थी। परन्तु उन्होंने अपना अधिकांश समय ब्रजभाषा कविता और नाटकों को दिया। केवल कुछ थोड़ी-सी परवर्ती कविताओं में उन्होंने भावपूर्ण नये अप्रस्तुतों के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। कहीं-कहीं तो प्रकृति और मानवीय चेष्टाओं के अछूते बिम्ब उन की कविता में मिल जाते हैं जिन से सहज ही द्वितीय उत्थान की स्वच्छन्दतावादी काव्य-परम्परा का सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है। परन्तु ऐसी विम्बप्रधान कविताओं की संख्या बहुत कम है। अधिकांश कविताएँ पुरानी आलंकारिक शैली में लिखी गयी हैं। ऐसी स्थिति में उस युग के सम्पूर्ण काव्यगत बिम्बविधान को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। पहला वर्ग उन बिम्बों का है जो विशुद्ध मानवीय संवेदना के आधार पर निर्मित हुए और जिन में अपेक्षाकृत आधुनिकता अधिक है। इस प्रकार के बिम्ब किसी प्रस्तुत की तुलना अथवा सादृश्य-विधान के लिए नहीं लाये जाते। ये स्वतः पूर्ण होते हैं और किसी स्मृति अथवा गहन भाव-संकेत के सूचक होते हैं। चूँकि भावों से इन का सीधा सम्बन्ध होता है इसलिए इस वर्ग के बिम्बों को 'लक्षित बिम्बविधान' (डाइरेक्ट इमेजरी) की श्रेणी के अन्तर्गत रखा जाता है। दूसरी कोटि के बिम्ब वे हैं जो भावों से प्रत्यक्षतः सम्बद्ध नहीं होते, केवल परोक्ष रूप से उन्हें तीव्र बनाने में सहायक होते हैं। इस वर्ग को 'उप-लक्षित बिम्बविधान' (इनडाइरेक्ट ऑर फ़िगरेटिव इमेजरी) के अन्तर्गत रखा जा सकता है। दोनों में अन्तर यह है कि पहले में मूर्तिमत्ता अधिक होती है, दूसरे में अपेक्षा-

कृत कम। पहले प्रकार के बिम्ब क्रियाविधायक (फ़ंक्शनल) अथवा स्वभावगत होते हैं, दूसरे प्रकार के सज्जात्मक अथवा आलंकारिक। कुछ आधुनिक आलोचक पहली कोटि को ही शुद्ध बिम्ब मानते है, दूसरी कोटि को वे सादृश्यमूलक अलंकारों के अन्तर्गत रखते हैं। उन के अनुसार तीव्र संवेदनशीलता बिम्ब की पहली शर्त है, जो दूसरी कोटि के बिम्बों में नहीं होती। इस दृष्टि से द्विवेदीयुग के बाद का काव्यात्मक बिम्बविधान ही पहली श्रेणी में रखा जा सकेगा। उस के पूर्व का सम्पूर्ण बिम्बविधान दूसरी श्रेणी में ही आयेगा। परन्तु भारतेन्दुयुग और द्विवेदीयुग की कविता में भी कहीं-कहीं छायावादी बिम्बों की पूर्वछाया देखने को मिल जाती है। यहाँ लक्षित तथा उपलक्षित श्रेणियों का विभाजन इसी दृष्टि से किया जा रहा है। यहाँ पर पहले दूसरी श्रेणी के बिम्बविधान की चर्चा की जायेगी। क्योंकि उस काल की कविता की चित्रयोजना अधिकांशतः उसी वर्ग में आती है।

उपलक्षित बिम्बविधान

प्राचीन शास्त्रीय पदावली में उपलक्षित बिम्बविधान को अप्रस्तुत-विधान अथवा औपम्यविधान भी कह सकते हैं। तात्पर्य यह कि उस के भीतर दो भिन्न वस्तुओं के बीच तुलना अथवा समता का आधार अन्तर्निहित रहता है। इसीलिए इस कोटि के बिम्बों के पीछे चेतन प्रयास अधिक होता है। फिर सफल से सफल अप्रस्तुतों को भी प्रस्तुत से जोड़ने वाली सूक्ष्म बौद्धिक ग्रन्थि किसी न किसी स्तर पर बनी अवश्य रहती है। यहाँ तक कि तद्रूपरूपक में भी उस का विलयन नहीं होता। इसीलिए उपमा और रूपक सदैव पाठक को एक भावात्मक द्विधा की स्थिति में रखते हैं। वह मुख और कमल, दोनों ही स्तरों पर एक साथ रसदशा की ओर अग्रसर होता है। निस्सन्देह उपमा में अधिक आवेग होता है। क्योंकि उस के निर्माण के पीछे मनुष्य की सहज स्मृतियाँ काम करती हैं। एक सफल कविता में आया हुआ अप्रस्तुत, जितना ही स्वतःस्फूर्त होगा, उस में उतनी ही तीव्र प्रभावान्विति होगी। इस प्रकार के चित्रों में अस्वाभाविकता तब आती है जब कवि प्रयत्नपूर्वक दूर तक कार्य-कारण श्रृंखला का निर्वाह करता चला आता है और उपचेतन में उठे हुए सहज अतर्कित बिम्बों की परवा नहीं करता। इस के लिए नये अप्रयुक्त और अछूते उपमानों का संकलन आवश्यक है। परिपाटी विहित अप्रस्तुतों में अभिप्रेत पर्युत्सुकता जगाने की वैसी क्षमता नहीं होती। भारतेन्दुयुगीन कविता में आये हुए अप्रस्तुत अधिकतर इसी कोटि के हैं। अर्थ की नयी भावभूमि और अनुभूति के नये सन्दर्भों से उन का सम्बन्ध बहुत कम स्थापित हो पाया है। काव्य-रूढ़ियों और प्रचलित कविसमयों का भरपूर उपयोग किया गया है। अधिकांश अप्रस्तुत सामान्य लक्षण वाले हैं। अनुभव की विशेष स्थितियों से उन्हें संयुक्त नहीं किया गया है। कहीं-कहीं उन में नवीनता अवश्य है। पर उस का सम्बन्ध भी बिम्ब की मौलिकता से न हो कर अभिव्यक्ति की सहजता से अधिक है। रीतिकालीन कवियों ने जिन क्षेत्रों

से नये अप्रस्तुतों का चुनाव किया था, भारतेन्दु-युगीन बिम्बविधान के स्रोत भी प्रायः वही रहे। उन में से कुछ प्रमुख स्रोत इस प्रकार हैं :

१. प्रकृति—प्रकृति में भी वन्यजीवन तथा नदी इत्यादि।

२. पशुपक्षी—यद्यपि व्यापक रूप से पशु-पक्षी भी प्रकृति के अन्तर्गत ही आ जाते हैं। परन्तु जड़ प्रकृति से भिन्न होने के कारण उन का अलग महत्त्व है।

३. पुराण तथा इतिहास—इस कोटि के चित्रों का उपयोग परम्परा निर्वाह के रूप में अधिक हुआ है, नये अर्थ संकेतों के लिए कम।

४. तत्कालीन सांस्कृतिक वातावरण—इस वर्ग से उद्भूत बिम्बों का प्रयोग लक्षित बिम्बविधान के अन्तर्गत अधिक हुआ है। परन्तु कुछ नये अप्रस्तुतों में भी तत्कालीन वातावरण का रंग स्पष्ट है।

प्रकृति

भारतेन्दु की कविता में प्रकृति का स्वतन्त्र विन्यास कम मिलता है। वे सार्वभौम मानवीय भावनाओं के कवि थे। अतः प्रकृति उन के यहाँ अधिकतर अप्रस्तुत रूप में ही पायी जाती है। उन का प्रसिद्ध यमुना तथा गंगा-वर्णन भी, यमुना तथा गंगा से अधिक उन के परम्परागत सम्पर्क से मन में उठे हुए विविध भावपुंजों का आकलन-मात्र ही है। यद्यपि वर्णन की शैली पुरानी है और प्रचलित काव्य-रूढ़ियों का भरपूर उपयोग किया गया है, फिर भी दोनों ही कविताओं में एक प्रकार की कलात्मक पूर्णता है। यमुना वर्णन की ये पंक्तियाँ भारतेन्दु की चित्रण-कला का सर्वोत्तम उदाहरण प्रस्तुत करती हैं :

तरनि-तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाये।
झुके कूल सों जल-परसन हित मनहु सुहाये॥
किधों मुकुर में लखत उझकि सब निज निज सोभा।
कै प्रनवत जल जानि परम पावन फल लोभा॥
मनु आतप धारन तीर को सिमिटि सबै छाये रहत।
कै हरि सेवा हित नै रहे, निरखि नैन मन सुख लहत।
कहूँ तीर पर अमल कमल सोभित बहु भाँतिन।
कहुँ सैवालन मध्य कुमुदिनी लगि रहि पाँतिन॥
मनु दृग धारि अनेक जमुन निरखत निज सोभा।
कै उमगे प्रिय प्रिया प्रेम के अनगिन गोभा॥
कै करिके कर बहु पीय को टेरत निज ढिग सोहई।
कै पूजन को उपचार ले चलति, मिलन मन मोहई॥[1]

---

१. भारतेन्दु—चन्द्रावली नाटिका—चौथा अंक.

गंगा-वर्णन का रूप-विन्यास भी इस से मिलता-जुलता ही है। केवल उस के वर्णन में काशी के स्थानीय सौन्दर्य का पुट दे कर उसे अधिक सजीव और विश्वसनीय वना दिया गया है :

कहूँ बँधे नव घाट उच्च गिरिवर सम सोहत।
कहुँ छतरी, कहुँ मढ़ी बढ़ी मन मोहत जोहत॥
धवल धाम चहुँ ओर फरहरत ध्वजा-पताका।
घहरत घण्टा धुनि धमकत धौंसा करि साका॥
मधुरी नौबत बजत कहूँ नारी नर गावत।
वेद पढ़त कहुँ द्विज कहुँ जोगी ध्यान लगावत॥
कहुँ सुन्दरी नहात नीर कर जुगल उछारत।
जुग अम्बुज मिलि मुक्त गुच्छ मनु सुच्छ निकारत॥

दोनों ही कविताओं में कल्पना एक पूर्व-निर्धारित राजपथ पर चलती हुई दिखाई देती है। उत्प्रेक्षा की बाढ़ में असली यमुना और गंगा ढँक-सी गयी हैं। उत्प्रेक्षाएँ भी सहजस्फूर्त कम हैं। तट पर झुके हुए वृक्षों की पंक्ति पर अर्ध्यदान की प्रार्थनामुद्रा का आरोप अवश्य नया है। इसी प्रकार जल में उगे हुए कमलों को 'प्रेम के अनगिन गोभा' कहना भी नयी उद्भावना है। गंगा का चित्र उस से सम्बन्धित मानसिक अनुषंगों के आधार पर अंकित किया गया है। वस्तुओं के नामोल्लेख मात्र से कवि गंगा के आसपास का एक स्थूल रेखाचित्र-भर दे पाता है। अन्तिम पंक्ति में आयी हुई उत्प्रेक्षा संस्कृत के परवर्ती कवियों और विशेषतः पण्डितराज जगन्नाथ के गंगा-वर्णन की याद दिलाती है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, बिम्बविधान की यह पद्धति प्राचीन अलंकार-योजना का ही एक रूप है। प्रकृति के वन्य और पार्वतीय रूप का चित्रण जगमोहन सिंह और प्रेमघन की कविताओं में अधिक मिलता है। 'श्यामा-स्वप्न' में आया हुआ निम्नलिखित चित्र इस का सुन्दर उदाहरण है :

श्याम जलद नव सुन्दर हरिधनु सुखद सरस मधि सोहे
श्याम शरीर श्यामता हर मनु विविध मनिन जुत मोहे।
वारिदवृन्द बीच बिजुरी बलि चंचल चारु सुहानी
छिन उघरत छिपि जात छिनक छिन छटा छकित सुखदानी।
नवतमाल सावन तरु तरलित धीर समीरहि मानो
विटपन छिपि छिपि जात मंजरी छिन छिन उघरत जानो।

घन-घन अवलि विघट्टन सों मनु खस्यो खण्ड शशिकेरा
क्वशित शिखा अति पथिक मृगसम आवत घिरत घनेरा॥

कुटज पराग सुमन कन निर्झर चारु बुन्द मनु राजे।
चूरन ललित दलित मोती सित अनुपम सोभा भ्राजे ।।[1]

प्रस्तुत चित्र भारतेन्दु के रेखाचित्रों से कहीं अधिक स्पष्ट और संश्लिष्ट है। 'नवतमाल सावन तरु तरलित समीर' का विम्ब बिलकुल अछूता है। वृक्ष की घनी पत्तियों के बीच छिपती-उघरती मंजरी का दृश्यांकन भी सूक्ष्म निरीक्षण-दृष्टि का परिचायक है। कुटज-पराग की कल्पना आदिकवि के आदिम बिम्बों की याद दिलाती है। परिपाटी-विहित होने पर भी इन चित्रों के पीछे स्वच्छन्द वर्णन पद्धति की ओर एक अन्तर्निहित झुकाव है।

पशु-पक्षी

पशु-पक्षी सम्बन्धी बिम्ब इस काल की कविता में बहुत नहीं मिलते। जो मिलते भी हैं वे प्रायः लक्षणग्रन्थों में गिनाये हुए हैं। काव्य-परिधि से बाहर के केवल दो-एक पक्षियों के नाम ही दीख पड़ते हैं। भारतेन्दु की 'यमुना' में तैरते हुए इन पक्षियों की शोभा देखिए :

कूजत कहुँ जलहंस, कहूँ मज्जत पारावत।
कहुँ कारण्डव उड़त, कहूँ जल कुक्कुट धावत ।।
चक्रवाक कहुँ धसत, कहूँ बक ध्यान लगावत।
सुक-पिक जल कहुँ पियत, कहूँ भ्रमरावलि गावत ।।
कहुँ तट पर नाचत मोर बहु रोर विविध पच्छी करत।
जलपान न्हान करि सुख भरे तट सोभा सब जिय धरत ।।[2]

इसी प्रकार उत्तुंग गिरि-शिखर पर चरते हुए तृणधारी हरिण का यह चित्र भी द्रष्टव्य है :

जहँ गिरि अतिहि उतुंग लसत श्रृंगन मनभाये।
जिन पै बहु मृग चरहिं मिष्ट तृण नीर लुभाये ।।
सघन वृच्छ तरुलता मिले गहवर धर उलहत।
जिन में सूरजकिरन पत्र-रन्ध्रन नहिं निबहत ।।[3]

इन रेखाचित्रों में नवीनता अपेक्षाकृत कम है। कारण्डव और जल-कुक्कुट पक्षि-समूह के नये काव्य-प्रतिनिधि लग सकते है। इन की विविध क्रियाओं से कुछ बिम्ब का आभास अवश्य मिलता है। परन्तु कुल मिलाकर कोई स्पष्ट, घनीभूत और संवेदनात्मक बिम्ब नहीं बन पाता।

---

१. श्यामास्वप्न—जगमोहन सिंह; पृ० ११८-१९.
२. भारतेन्दु ग्रन्थावली—गंगावर्णन.
३. श्यामास्वप्न; पृ० ४०.

पुराण तथा इतिहास

पौराणिक बिम्बों को हम जिस नवीन और स्थानान्तरित रूप में छायावाद और उस के बाद कविता में पाते हैं उस रूप में भारतेन्दु-युग की कविता में नहीं पाते। प्रायः रूपकों की योजना के लिए ही पौराणिक संकेतों का उपयोग किया गया है। भारतेन्दु ने 'सत्यहरिश्चन्द्र' नाटक में तन्त्र-गाथाओं के आधार पर 'काल' का बड़ा उदात्त चित्र अंकित किया है :

> साँझ सोई पट लाल कसे कटि सूरज खप्पर हाथ लह्यो है।
> पच्छिम के बहु शब्दन के मिसि जीअ उचाटन मन्त्र कह्यो है॥
> मद्यभरी नरखोपरी सो ससि को नव बिम्बहू धाई गह्यो है।
> दे बलि जीव पसू यह मत्त ह्वै काल कापालिक नाचि रह्यो है॥[1]

नवचन्द्र बिम्ब के लिए मद्यभरी नरखोपड़ी की कल्पना परम्परागत काव्य-रूढ़ियों के सर्वथा विरुद्ध है। इस अर्थ में उसे एक नयी उद्भावना कह सकते हैं। तत्कालीन राजनैतिक इतिहास से उत्प्रेरित बिम्ब भी यदा-कदा उस युग की कविता में देखे जा सकते हैं। 'प्रेमघन' का यह 'आनन्द अरुणोदय' देखिए :

> उद्यम रूप सुखद मलयानिल दखिन दिशा से आता।
> शिल्प कला कलिका कलाप को बिना बिलम्ब खिलाता॥
> देशी बनी वस्तुओं का अनुराग पराग उड़ाता।
> शुभआशा सुगंध फैलाता मन मधुकर ललचाता॥
> वस्तु विदेशी तारकावली करती लुप्त प्रतीची।
> विद्वेषी उलूक छिपने की कोटर बनी उदीची॥[2]

स्पष्ट ही इस कविता में तत्कालीन स्वदेशी आन्दोलन की अनुगूँज है। परन्तु रूपक की इस योजना में उपमानों की तात्कालिक संगति का निर्वाह-भर किया गया है, उन के औचित्य का पूरा ध्यान नही रखा गया है। इसी लिए रूपक के सारे अंगों की पूर्णता के बावजूद कोई बिम्ब खड़ा नहीं होता।

तत्कालीन सांस्कृतिक वातावरण

व्यापक रूप से संस्कृति के अन्तर्गत कला, धर्म, राजनीति तथा मनोविनोद की पद्धतियाँ, सभी कुछ आ जाता है। पर कविता में किसी काल-विशेष की संस्कृति की पहचान का अर्थ होता है उस विशेष सौन्दर्यदृष्टि को पहचानना जिस से कवि अपने समय के यथार्थ को देखता है। चूँकि यथार्थ कोई अमूर्त वस्तु नहीं है अतः प्रायः हर युग की कविता मानव और प्रकृति के द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध के भीतर से ही उस यथार्थ-विशेष को पकड़ने का प्रयास करती है। मानव और प्रकृति का सम्बन्ध भी उस काल की सामाजिक

---

१. भारतेन्दु नाटकावली; पृ० ४६०.
२. कविता-कौमुदी (दूसरा भाग); पृ० ४४.

स्थिति के द्वारा निर्धारित होता है। इसी लिए प्रत्येक युग का कवि एक ही चन्द्रमा को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से देखता है। एक आधुनिक अँगरेज़ आलोचक ने ठीक ही कहा है कि केवल चन्द्रमा के उत्तरोत्तर विकसित उपमानों के आधार पर ही बिम्बविधान के क्रमिक इतिहास की व्याख्या की जा सकती है।[१] भारतेन्दु ने भी यमुना की लहरों में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा को अपने युग की विशेष सौन्दर्य-दृष्टि से देखने का प्रयास किया है :

परत चन्द्र-प्रतिबिम्ब कहूँ जलमधि चमकायो।
लोल लहर लहि नचत कबहुँ सोई मनभायो॥
मनु हरि-दरसन हेत चन्द्र जल बसत सुहायो।
कै तरंग कर मुकुर लिये सोभित छबि छायो॥
कै रास-रमन में हरि-मुकुट-आभा जल दिखरात है।
कै जल-उर हरि मूरति बसति वा प्रतिबिम्ब लखात है॥

जल में पड़ते हुए चन्द्रबिम्ब को रास-क्रीड़ा में व्यस्त हरि मुकुट की आभा कहना, वस्तुतः उस काल की भोग-मूलक सामन्ती संस्कृति का ही प्रभाव है। मुकुट अपने आप में भी सामन्ती शासन-तन्त्र का ही प्रतीक है। अतः स्पष्ट ही भारतेन्दु की यह कल्पना मध्ययुगीन सामन्ती सौन्दर्य-दृष्टि की सूचक है। आगे उसी चन्द्रमा के लिए एक दूसरी उत्प्रेक्षा लायी गयी है—

कै बाल गुड़ी नभ में उड़ी सोहत इत-उत धावती।

गुड़ी अथवा पतंग उड़ाना भी मध्ययुगीन मनोविनोद-पद्धति का एक विशेष रूप है। रीतिकालीन कविता में तो यह एक विशेष प्रेम-सम्बन्धी रूढ़ि ही बन गयी थी। विहारी की कविता में पतंग-सम्बन्धी कई मार्मिक उक्तियाँ मिलती हैं। यहाँ भी चन्द्रमा के लिए 'बालगुड़ी' का उपमान उस काल की विशेष कर सांस्कृतिक अभिरुचि का पता दे रहा है। इस प्रकार के और भी बहुत से उदाहरण भारतेन्दुयुग की कविता से ढूँढ़कर निकाले जा सकते हैं। भारतेन्दु की एक दूसरी कविता में एक भिन्नदेशी सांस्कृतिक उपमान देखा जा सकता है :

सुभ्र मोछ फहरात सुजस की मनहु पताका।
सेत केस सिर लसत मनहु थिर भई बलाका॥[२]

श्वेत मूँछ के लिए 'पताका' उपमान तो बहुत सटीक है। पर छायावादी कविता के अभ्यस्त पाठक को श्वेत केश के लिए 'बलाका' का अप्रस्तुत कुछ विचित्र-सा लग सकता है। रवीन्द्रनाथ ने 'बलाका' को एक विशेष प्रकार का रॅमैण्टिक प्रतीक बना दिया है। उन की उत्तरकालीन प्रौढ़तम काव्य पुस्तक का नाम ही 'बलाका' है। पर यह इस शब्द का परवर्ती अर्थ है। वर्णसाम्य की दृष्टि से भारतेन्दु की उत्प्रेक्षा अपनी जगह बिलकुल ठीक है और 'थिर' विशेषण से आयु के क्रमशः ठहराव का भी बोध कराती है।

---

१. *The Background of Modern Poetry.*
२. भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग २; पृ० ८०२.

लक्षित बिम्बविधान

जैसा कि पहले कहा जा चुका है इस वर्ग के बिम्बों की संख्या भारतेन्दुयुग की कविता में बहुत कम है। केवल आरम्भिक प्रयास के रूप में ही कुछ चित्र यहाँ-वहाँ ढूँढ़े जा सकते हैं। उन मे भी बिम्बपुंज अथवा बिम्बों का एक सम्पूर्ण संघटन कहीं नहीं मिलेगा। चित्र की कुछ आड़ी-तिरछी रेखाएँ भर मिल सकती हैं जिन से एक अस्फुट रेखाचित्र का निर्माण हो सकता है। एक उदाहरण प्रस्तुत है :

> बरसा सिर पर आ गयी हरी हुई सब भूमि,
> बागों में झूले पड़े, रहे भ्रमर-गण झूमि।
> कर के याद कुटुम्ब की फिरे विदेसी लोग,
> बिछड़े प्रीतमवालियों के सिर छाया सोग।
> खोल-खोल छाता चले लोग सड़क के बीच,
> कीचड़ में जूते फँसे जैसे अघ में नीच।[1]

यह यथार्थ का एक बिलकुल सीधा-सादा-सा चित्र है। वस्तुओं को भावना में रँग कर देखने का प्रयास नहीं किया गया है। जो जिस रूप में है उस को उसी रूप में कविता में रख दिया गया है। 'खोल-खोल छाता चले लोग सड़क के बीच' यह वर्षा का एक अतिपरिचित दृश्य है। पर काव्यगत उपयोग की दृष्टि से यह एक सर्वथा अभिनव प्रयास कहा जा सकता है। यही इस शाब्दिक रेखाचित्र की विशेषता है। इसी प्रकार रात के गहन सन्नाटे का यह घनीभूत बिम्ब देखिए :

> भई आधीरात बन सनसनात,
> पथ पंछी कोउ आवत न जात।
> जग प्रकृति भई जनु थिर लखात,
> पातहूँ नहिं पावत तरुन हलन ॥
> सोओ सुख निंदिया, प्यारे ललन।

रात्रि की अव्याहत शान्ति का यह चित्र लोरी के मार्मिक वातावरण के सर्वथा अनुकूल है। यहाँ भी वर्णन में केवल सीधी-सादी रेखाएँ खींच दी गयी हैं। उन में मानवीय भावों का रंग नहीं भरा गया है। इन चित्रों की विशिष्टता परम्परा से अलगाव में है। मध्ययुगीन अलंकृति से ये मुक्त हैं। इसी लिए अनगढ़ और अपूर्ण भी लग सकते हैं। पर मृतप्राय गतिहीन पूर्णता से यह सम्भावनाओं से भरी हुई अपूर्णता कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। इन नंगे अपूर्ण चित्रों का यही ऐतिहासिक महत्त्व है। पर कुछ कविताओं में इस आरम्भिक अवस्था से आगे बढ़ने का भी प्रयास किया गया है। जैसे यह चित्र—

---

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली.

प्यारी पावस प्रबल प्रलय सम तुअ बिन मुहि दुखदाई।
अबहूँ तो सुधि लेहु देत ए बादर विरह-बधाई ॥

गगन गहन गिरि गिरा गँभीरन गरजत गरज गयन्दा।
बीच बीच बिचरत वन बिजुरी बिलग-बिलग बक-वृन्दा ॥

झनझनात झिल्ली, झंपावत झरना, झरझर झाड़ी[1]।

यद्यपि कविता का आरम्भ प्रकृति के उद्दीपक रूप से किया गया है। पर आगे की पंक्तियों में कुछ सर्वथा नये ध्वन्यात्मक बिम्ब हैं। स्वरों की आवृत्ति तथा नाद-सौन्दर्य के द्वारा पूरी बिम्ब कल्पना को प्रेषणीय बनाने का प्रयास किया गया है। बादलों के गरजने को 'विरह-बधाई' कहना बिलकुल नयी उद्भावना है। साथ ही इस कथन में एक तीखा व्यंग्य भी है। तीसरी पंक्ति में महाप्राण-ध्वनियों की आवृत्ति से गरजने की क्रिया को और अधिक मूर्त तथा तीव्र करने की कोशिश की गयी है। इसी प्रकार 'झर झर झाड़ी' कह कर कवि ने वर्षा की अनवरत क्रिया का बिम्ब खड़ा कर दिया है। विशेषण की यह विलक्षणता बाद में आनेवाली कविता की निजी विशेषता बन गयी। उद्धरण की अन्तिम पंक्ति से पंत की इन वर्षा-सम्बन्धी पंक्तियों की तुलना कीजिए—

झम झम झम झम मेघ बरसते हैं सावन के,
छम छम छम गिरतीं बूँदें तरुओं से छन के।
चम चम बिजली लिपट रही है उर से घन के
थम थम दिन के तम में सपने जगते मन के।[2]

इन पंक्तियों में शिल्प की सुघड़ता अधिक है। पर विशेषणों की ध्वन्यात्मक शैली वही है जो 'झनझनात झिल्ली, झंपावत झरना, झर झर झाड़ी' की कलात्मकता में पायी जाती है। छायावादी कल्पना और दूर तक जाती है। वह केवल ध्वनि चित्रों से ही सन्तुष्ट नहीं होती। उस की परिणति एक ऊर्ध्वमुख चेतना के रूप में होती है— "पकड़ वारि की धार झूलता है मेरा मन'। भारतेन्दुयुगीन कल्पना इतनी दूर तक नहीं जा सकती थी। क्योंकि वैयक्तिक कल्पना को अभी एक लम्बी ऐतिहासिक दूरी तय करनी थी।

भारतेन्दु की विद्रोही चेतना जैसे साहित्य के अन्यान्य अंगों में अग्रणी थी वैसे मूर्त्त-विधान की दिशा में नहीं। पर कभी-कभी आधुनिक संवेदना से प्रेरित नये अर्थपूर्ण बिम्ब भी उन की कविता में मिल जाते हैं। इस तथ्य को आकस्मिक नहीं माना जा सकता। एक उदाहरण प्रस्तुत है:

---

१. श्यामास्वप्न; पृ० १२०.
२. प्रतीक २ (पावस); पृ० ७.

आप देत थपकी गुलाब चुटकार,
बालक खिलावै देखें प्रात की बयार।
जगावत जीव जग करत चैतन्य,
प्रान तत्त्व सम प्रास आवे धन्य-धन्य।
गुटकत पक्षी पुनि उड़े सुख होत,
प्रात पौन आवै बन्यौ सुन्दर कपोत।
नव मुकुलित पद्म पराग के बोझ।
भारवाही पौन चलि सकत न साँझ।
छुअत सीतल सबै होत गात-आत,
स्नेही के परस सम पावन-प्रभात।[1]

रेखांकित पंक्तियों में नयी मूर्त्तिमत्ता की दिशा में बढ़ने का प्रयास स्पष्ट है। पर यह प्रयास कुछ पंक्तियों अथवा पदों तक ही सीमित है। पूरी कविता में उस स्तर का निर्वाह नहीं हो पाया है। प्रातःकालीन पवन के लिए दो कल्पित बिम्ब उपस्थित किये गये हैं। पहला कपोत तथा दूसरा स्नेही का स्पर्श। पहले में पवन की गति को दृश्य (चाक्षुष) बनाने का प्रयास किया गया है, दूसरे में रागात्मक संवेदना के द्वारा उस की स्पर्शानुभूति को मूर्त्त किया गया है। पवन को उड़ता हुआ कपोत कहना एक सर्वथा अछूती बिम्ब-कल्पना है। 'स्नेही का स्पर्श' उस से भी सूक्ष्म और अधिक संवेदनक्षम बिम्ब है। स्नेही अर्थात् प्रिय के साथ जितनी भी सह-स्मृतियाँ जुड़ी हुई हैं, सब को एक साथ उद्‌बुद्ध करने की शक्ति इस एक उपमा में है। सूक्ष्म अनुभूतियों के धनी कवि 'प्रसाद' के 'आँसू' की इन पंक्तियों से इस की तुलना की जा सकती है :

शीतल समीर आता है कर पावन परस तुम्हारा।
मैं सिहर उठा करता हूँ बरसा कर आँसू-धारा॥

इन पंक्तियों की संवेदनीयता इसीलिए और बढ़ गयी है कि 'तुम्हारा परस' कह कर उस सामान्य स्पर्श-चेतना का विशेषीकरण कर दिया गया है। भारतेन्दु की बिम्ब-कल्पना चूँकि विकास की आरम्भिक अवस्था में थी अतः उनके बिम्ब सामान्योन्मुख अधिक हैं, विशेषीकरण की प्रवृत्ति उन में नहीं आ सकी है। इस प्रवृत्ति का विकास आगे चलकर छायावादी कविता में हुआ। पर छायावाद के विकसित और सम्पन्न बिम्बविधान का इतिहास लिखते समय भारतेन्दु युग के इन आरम्भिक प्रयासों का महत्त्व असन्दिग्ध होगा। परम्परा के बोझिल आवरण से मुक्त होने की छटपटाहट इन पंक्तियों में स्पष्ट है। उस युग का कवि दो ही स्थानों पर इस मुक्ति का अनुभव करता है। एक तो जब वह प्रकृति के प्रत्यक्ष संसर्ग में होता है और दूसरे तब जब उस की प्रतिभा सामाजिक विषयों की ओर अग्रसर होती है। इसीलिए उसके मौलिक बिम्ब या तो प्रकृति सम्बन्धी हैं अथवा सामाजिक। 'सामाजिक बिम्ब'—इस कथन में ही

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग २, 'प्रातसमीरन; पृ० ६८७.

एक विरोध है। अतः बिम्ब शब्द का प्रयोग यहाँ ऐसे स्थूल रूप-विन्यास के अर्थ में समझना चाहिए जिस में किसी प्रकार की वस्तुगत नवीनता हो—जैसे प्रेमघन का 'आनन्द अरुणोदय'। परन्तु कुल मिलाकर इस युग की रचनात्मक उपलब्धि प्रकृति सम्बन्धी अप्रस्तुतों अथवा बिम्बों में ही देखी जा सकती है। 'नव-तमालतरुतरलित समीर', पतंग की तरह आकाश में उड़ता हुआ चन्द्रबिम्ब, उड़ते हुए कपोत तथा प्रिय के स्पर्श के समान प्रातः पवन, स्थिर बलाका के समान श्वेत-केश, गरजते हुए बादलों की विरह बधाई, 'गहन गिरिगिरा' और 'झरझर झाड़ी' जैसे चित्र उस युग की मूर्त्त कल्पना तथा मौलिक रचना-शीलता के प्रमाण हैं। उस युग की कविता के पाठक इस तथ्य से परिचित हैं कि ऐसे स्वतःस्फूर्त बिम्बों की संख्या अत्यन्त सीमित है। आगे हम इस ऐतिहासिक तत्त्व की तहों में जाने का प्रयास करेंगे और यह जानने की कोशिश करेंगे कि यदि उस काल की कविता में बिम्बों का नितान्त अभाव है तो क्यों? इस के ऐतिहासिक कारण क्या हैं? काव्य का वह कौन-सा तत्त्व छूट गया है जिस के कारण उस युग की कविता सीधी-सरल और सपाट दीख पड़ती है। और यह कि द्विवेदी-युगीन काव्यकला की इतिवृत्तात्मकता से अभिव्यक्ति की यह अनगढ़ता किस अर्थ में भिन्न है?

बिम्ब के अभाव के कारण

पहला कारण तो विशुद्ध ऐतिहासिक है। जिस प्रकार प्रजातन्त्र का जन्म राष्ट्रीय जीवन के विकास-क्रम की एक विशेष अवस्था में हुआ, उसी प्रकार प्रत्येक साहित्यिक प्रवृत्ति एक विशेष ऐतिहासिक अवस्था की उत्पत्ति होती है। बिम्ब के आगमन के लिए जिस उन्मुक्त वातावरण की आवश्यकता थी वह मध्ययुगीन प्रभावों से आक्रान्त भारतेन्दु-युग में सम्भव न था। न तो उस समय आत्माभिव्यक्ति के लिए उतनी स्वतन्त्रता थी न ही कल्पना की स्वच्छन्द उड़ान के लिए। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की भावना अभी व्यक्ति-मन के भीतर पूरी तरह स्पष्ट नहीं हो पायी थी। वैयक्तिक स्वतन्त्रता का तो प्रश्न ही नहीं था। भारतेन्दु-युगीन कवि के सामने केवल दो ही बातें स्पष्ट थीं। एक तो यह कि वह पराधीन है और दूसरी यह कि उस से छुटकारा पाने के लिए उसे भी कुछ करना चाहिए। पर वह इस बात से परिचित नहीं हो पाया था कि उस से मुक्त होने की दिशा कौन-सी है और यह कि वह पराधीनता उस के जीवन में कितने रूपों में और कितने स्तरों पर है। वह पराधीनता को विशुद्ध राजनैतिक चीज़ समझता था। मध्ययुग के जिन सामन्ती मूल्यों और धार्मिक रूढ़ियों से उस का जीवन जकड़ा हुआ था उन के प्रति वह सजग नहीं था। इसलिए उस की पराधीनता की धारणा अपूर्ण और अवैज्ञानिक थी। परिणाम यह हुआ कि आधुनिकता की उस आरम्भिक चेतना के साथ जिस नवीन मानव-कल्पना और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की भावना का प्रसार होना चाहिए था वह नहीं हो पाया। बिम्ब की प्रमुखता और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की भावना का बड़ा गहरा सम्बन्ध है। अतः व्यक्ति की भावात्मक मुक्ति के बिना बिम्ब का आना असम्भव

था। भारतेन्दु युग से प्रायः पच्चीस-तीस वर्ष बाद वह छायावाद की आवेगात्मक 'मैं शैली' के साथ हिन्दी कविता में पहले-पहल आया।

इसी ऐतिहासिक कारण से जुड़ा हुआ एक दूसरा कारण भी है जिस का सम्बन्ध व्यक्ति की कल्पना से है। न उस युग के व्यक्ति की भावना स्वतन्त्र हुई न कल्पना। जहाँ कहीं कल्पनात्मक आवेग दिखाई भी देता है वहाँ भी वह रूढ़ियों से दबा हुआ है। यह रूढ़िगत तटस्थता ही थी जिसने उस समय के कवि को मानव और प्रकृति के जटिल सम्बन्धों की गहराई में पैठने न दिया। परिणाम यह हुआ कि वह मानव और प्रकृति, दोनों की मूर्त्त सत्ता से बहुत कुछ असम्पृक्त-सा रहा। उस की प्रवृत्ति बहिर्मुखी थी और वह अमूर्त्त सामाजिक ढाँचे को ही यथार्थ का प्रतिरूप समझता था। आचार्य शुक्ल ने भारतेन्दु के सम्बन्ध में लिखा है कि प्रकृति से उन का लगाव बहुत कम था। वे 'दस तरह के आदमियों के साथ उठ-बैठकर' अपने भाव प्राप्त करते थे। शुक्लजी ने इस का कारण यह बताया है कि भारतेन्दु चूँकि उर्दू-कविता की परम्परा से प्रभावित थे अतः उन की कल्पना का विकास दूसरी तरह से हुआ।[1] उर्दू में उस समय दाग़ की चलती हुई हलकी-फुलकी काव्यशैली अधिक लोकप्रिय थी, जिस में भावों की ग़म्भीरता अथवा मूर्तता की अपेक्षा अभिव्यक्ति के चामत्कारिक प्रभाव का आग्रह अधिक था। भारतेन्दु ने इसी शैली से सीधी प्रेरणा ग्रहण की थी। उन की ग़ज़लों की शैली से इस बात की पुष्टि भी होती है। फलतः नवीन काव्य-स्रोतों की तलाश में उन की कल्पना ब्रजभाषा की रूढ़ियों से निकलकर उर्दू की शाब्दिक रूढ़ियों में जा फँसी। यह तो एक व्यक्ति की कल्पना का इतिहास हुआ। सामान्यतः पूरे युग की कल्पना मध्ययुगीन अलंकृति के नीचे दबी हुई थी। पहले कहा जा चुका है कि बिम्ब का निर्माण कवि की सृष्टिविधायिनी कल्पना के द्वारा ही होता है। अतः विदग्ध कल्पनाशीलता के अभाव में उस काल की अधिकांश कविताएँ शाब्दिक रेखाचित्र की अवस्था से ऊपर न उठ सकीं।

परन्तु इन दोनों ही कारणों से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण एक तीसरा कारण भी था—खड़ीबोली की अपूर्णता। उस का शब्द-भाण्डार अभी बहुत सीमित था और नयी वास्तविकता को संकेतित करनेवाले लाक्षणिक शब्दों का अभी चलन नहीं हुआ था। गद्य और पद्य की भाषा का अलगाव, जो कई सौ वर्षों से चला आ रहा था, इस युग के ऐतिहासिक मोड़ के साथ भी दूर न हुआ। काव्यात्मक पदावली गद्य में प्रयुक्त होने वाले शब्दों से भिन्न होती है, यह धारणा ज्यों की त्यों बनी रही। इसी का परिणाम था कि भारतेन्दु जैसे युगप्रवर्तक साहित्यकार के द्वारा भी ब्रजभाषा का मोह त्यागा न जा सका। परन्तु यहीं एक दूसरे ऐतिहासिक तथ्य की ओर ध्यान जाता है और वह है तत्कालीन उर्दू भाषा का अत्यन्त परिमार्जित और परिष्कृत रूप। 'मीर', 'ग़ालिब' और 'मोमिन'

---

१. चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० १९८.

जैसे श्रेष्ठ कवि उस में हो चुके थे। अतः यह कहना कि खड़ीबोली उस समय अपूर्ण और अविकसित थी, अर्द्धसत्य ही माना जायेगा। 'ग़ालिब' की कविता में तो वैसे जटिल और संवेदनात्मक बिम्ब भी मिल जाते हैं जैसे आज की बिम्बधर्मी हिन्दी-कविता में प्रायः मिलते हैं। एक उदाहरण पर्याप्त होगा :

सताइशगर है ज़ाहिद इस क़दर जिस बाग़ेरिज़वाँ का
वो इक गुलदस्ता है हम बेख़ुदों के ताक़ेनिसयाँ का।[1]

(ऐ ज़ाहिद, तू जिस स्वर्ग की इतनी प्रशंसा करता है वह वस्तुतः हम मस्ती में डूबे हुए लोगों की विस्मृति के ताखे पर रखा हुआ एक गुलदस्ता है।)

इस प्रकार के उदाहरण 'दीवाने-ग़ालिब' से ढूँढ़ कर और भी निकाले जा सकते हैं। स्वर्ग को गुलदस्ता कहने से शायद नवीनता का वैसा आघात नहीं है, जो पाठक को एकदम चमत्कृत कर दे। वस्तुतः नवीनता इस बात में है कि वह विस्मृति के ताखे पर रखा हुआ है। जैसे कोई व्यक्ति किसी प्रिय वस्तु को कहीं रख कर उस के अस्तित्व को एकदम भूल जाये। यह एक नये प्रकार की बिम्ब योजना है जिस में वर्ण्य वस्तु और कल्पित अप्रस्तुत के बीच तुलना का आधार साम्यमूलक न हो कर मनोवैज्ञानिक अधिक है। आधुनिक बिम्ब विधान की यह सब से बड़ी विशेषता है।

इस उद्धरण से यह सिद्ध है कि उस समय तक खड़ीबोली इतनी अक्षम नहीं थी कि उस के द्वारा नये भावों की अभिव्यक्ति न हो सके। पर हिन्दी में जिस खड़ीबोली का आरम्भ हो रहा था उस की अपनी कुछ ऐतिहासिक सीमाएँ थीं। उस की कोई परम्परा नहीं बन पायी थी। शब्दों के चुनाव में कवि का ध्यान सहज ग्राह्य तद्भव रूपों की ओर अधिक रहता था, नये अप्रचलित अर्थक्षम शब्दों की ओर बहुत कम। इसे भी ब्रजभाषा का प्रभाव ही मानना चाहिए। भारतेन्दु की क्रान्तदर्शी प्रतिभा में गद्य के व्यवस्थित रूप का निर्धारण तो किया, परन्तु कविता के क्षेत्र में यह भाषा और शिल्प को सुधारते-सँवारने की दिशा में अग्रसर नहीं हुई। परिणाम यह हुआ कि खड़ीबोली हिन्दी में जैसी व्यंजकता, संगीतमयता और संवेदनशीलता आनी चाहिए थी, न आ सकी। न उस को काव्यात्मक पदावली में कोई विशेष वृद्धि हुई, न पुराने चले आते हुए रूढ़िगत शब्दों का ही पूरी तरह परित्याग हो सका। संस्कृत के बहुत से अप्रयुक्त अर्थगर्भ और ध्वन्यात्मक शब्द अब भी अमरकोश के भीतर पड़े हुए थे जिन की आवश्यकता को किसी ने अनुभव नहीं किया। उर्दू भाषा के विकास का एक यह भी कारण था कि 'ग़ालिब' इत्यादि कवियों ने गहन भावों और विचारों को व्यक्त करने के लिए अरबी-फ़ारसी के उपयुक्ततम शब्दों की भरपूर सहायता ली थी। यह एक ऐसी विवशता थी जिस के बिना खड़ीबोली को अभिजात साहित्यिक भाषा का रूप दिया ही नहीं जा सकता था। भारतेन्दु युग के कवियों द्वारा यह ऐतिहासिक कार्य न हो सका। खड़ीबोली

---

१. दीवानेग़ालिब.

का वाह्य रूप तो स्थिर हो गया, पर उस के आन्तरिक स्वरूप की ओर किसी की दृष्टि न गयी। इसीलिए वह तथ्यपरक गद्य की भाषा ही बन सकी, कल्पनात्मक भाषा (इमेजिनेटिव लैंग्वेज) का रूप उसे न मिल सका। सफल बिम्बनिर्माण के लिए समर्थ भाषा और सम्पन्न शब्द-भाण्डार का होना अत्यन्त आवश्यक है। भारतेन्दु-युगीन काव्य में बिम्बों के अभाव का सब से प्रमुख कारण यही है कि उस काल तक खड़ीबोली इतनी सक्षम और सम्पन्न नहीं बन पायी थी कि वह मानव-मन के जटिलतम स्तरों को प्रतिबिम्बित कर सके।

फिर भी, अपनी ऐतिहासिक सीमाओं के भीतर भारतेन्दु, प्रेमघन, प्रतापनारायण मिश्र और ठाकुर जगमोहन सिंह ने आधुनिक काव्य के निर्माण की दिशा में जो प्रयास किये, उन का महत्त्व असन्दिग्ध है। भारतेन्दु ने 'प्रातः समीर' जैसी कविताओं में और ठाकुर जगमोहन सिंह ने 'श्यामा-स्वप्न' के कुछ पद्यखण्डों में जिस नयी संवेदना और स्वच्छन्दवृत्ति का परिचय दिया, उसी का विकास द्वितीय उत्थान में श्रीधर पाठक आदि की स्वच्छन्दतावादी कविताओं के द्वारा हुआ।

[द्वितीय उत्थान]

सामाजिक पृष्ठभूमि

भारतेन्दु युग की समाप्ति के पश्चात् हिन्दी कविता के क्षेत्र में सहसा कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन आ गया हो, ऐसा मान लेने का कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है। विकास की प्रक्रिया अपनी स्वाभाविक गति से चलती रही। नयी रुचि और परिवर्तित सौन्दर्य दृष्टि के साथ नये कवियों का एक नया दल हिन्दी कविता के अभ्यस्त पाठकों को अपनी ओर आकर्षित करने लगा। कवियों की इस पीढ़ी में श्रीधर पाठक, रामचन्द्र शुक्ल और हरिऔध प्रमुख थे। इन्हीं के साथ श्री मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी और लोचनप्रसाद पाण्डेय की कविताएँ भी प्रकाश में आयीं। इन कवियों ने एक नयी भाषा शैली के द्वारा जीवन और जगत् के उन पक्षों को उद्घाटित करना आरम्भ किया जो अब तक कविता के विषय न बन सके थे। इतिहास के सम्बन्ध में इन कवियों का दृष्टिकोण अपने पूर्ववर्ती कवियों से बहुत बदला हुआ था। पौराणिक कथाओं को भी इन्होंने नवीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में, नयी दृष्टि से देखा। धार्मिक दृष्टि का विस्तार हुआ और पौराणिक चरित्रों की नयी व्याख्याएँ प्रस्तुत होने लगीं। भारतेन्दु-काल में राष्ट्रीयता की जो भावना अस्पष्ट और अमूर्त थी वह नयी मानव परिकल्पनाओं के रूप में मूर्त होने लगी। एक नये प्रकार के राष्ट्रीय आदर्शवाद का जन्म हुआ जिसे उस युग की प्रायः प्रत्येक काव्यकृति में किसी न किसी रूप में देखा जा सकता है। कुछ कवियों में

अँगरेज़ी के स्वच्छन्दतावादी कवियों का प्रभाव भी स्पष्ट दिखाई देने लगा। श्रीधर पाठक, रामचन्द्र शुक्ल और रामनरेश त्रिपाठी की रचनाओं में यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है। पर इस पूरे युग में सब से प्रमुख और ऊँचा स्वर राष्ट्रीयता का ही रहा जिस की अभिव्यक्ति मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी और सियारामशरण गुप्त की रचनाओं में हुई। राष्ट्रीय-भावना और स्वच्छन्द-वृत्ति, इस काल की दो प्रमुख प्रवृत्तियाँ मानी जा सकती हैं।

प्रश्न यह है कि इतना बड़ा परिवर्तन घटित कैसे हुआ? इस की व्याख्या के लिए हमें तत्कालीन सामाजिक पृष्ठभूमि का अध्ययन करना होगा। एक शब्द में इस पूरे युग को 'पुनरुत्थानवादी' कहा जा सकता है। यहाँ तक कि श्रीधर पाठक जैसा स्वच्छन्द भावनाओं से परिचालित कवि भी उस अरण्य-संस्कृति का महिमागान करना नहीं भूलता—'जगतत्त्व की खोज में लग्न जहाँ, ऋषियों ने अभग्न किया श्रम था। इस प्रवृत्ति के पीछे आर्यसमाज का आन्दोलन था, जिस का जन्म तो भारतेन्दु युग में ही हो चुका था, परन्तु व्यापक प्रसार इस काल में ही आ कर हुआ। आर्यसमाज पौराणिक धर्म के स्थान पर प्राकृतिक वैदिक धर्म का अभ्युत्थान चाहता था। इस के लिए उस ने वेद और उपनिषद् के आध्यात्मिक सूत्रों की नयी व्याख्या की। प्रचलित धार्मिक और सांस्कृतिक रूढ़ियों का खण्डन किया। हिन्दू और हिन्दुत्व की नयी परिकल्पना की। यह सब कुछ एक व्यापक लोक-जागरण के रूप में हुआ। उस के प्रचारकों ने उपने आधारभूत सिद्धान्तों को प्रचारित करने के लिए नये उपदेशात्मक गीतों की रचना की। पूरे उत्तर भारत में उन गीतों की गूँज फैल गयी। उस काल की हिन्दी कविता में भी उन गीतों की गूँज सुनी जा सकती है।

आर्यसमाज आरम्भ में तो विशुद्ध धार्मिक आन्दोलन था, पर धीरे-धीरे वह एक व्यापक सामाजिक आन्दोलन के रूप में परिवर्तित हो गया। महर्षि दयानन्द ने वेद की नयी व्याख्या कर के प्राचीन संस्कृति और दार्शनिक मान्यताओं की ओर हिन्दुओं का ध्यान आकृष्ट किया। भारतीयों ने इतने दिनों बाद पहली बार अपने उज्ज्वल अतीत का साक्षात्कार किया। एक नये प्रकार का देश-प्रेम और ऐतिहासिक गौरव उन के हृदय में भर उठा। पाश्चात्य विद्वानों ने भी प्राचीन भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता स्वीकार की। वेद विश्व का प्राचीनतम ग्रन्थ माना गया। इसी समय रामायण, महाभारत और अभिज्ञान शाकुन्तल जैसी कालजयी (क्लैसिक) साहित्यिक कृतियों का पश्चिम की भाषाओं में अनुवाद हुआ। संस्कृत भाषा को संसार की प्राचीनतम भाषा होने का गौरव मिला। इन सब बातों का तत्कालीन हिन्दी कवि की मनो रचना पर प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रभाव पड़ा। उस की मूल संवेदना की दिशा और सौन्दर्यबोध के निर्धारण में भी इन घटनाओं ने अचेतन रूप से काम किया।

पर आर्यसमाज की कुछ ऐसी सीमाएँ थीं जिनके कारण उसका समुचित विकास न हो सका। उस की पहली सीमा यह थी कि उस ने अतीत को वर्तमान से विच्छिन्न

कर के स्वतः पूर्ण रूप में देखा। फिर अतीत में भी सारे मध्ययुग की साहित्यिक और सांस्कृतिक उपलब्धियों को वह अपने सिद्धान्तों में पचा न सका। अतीत की इस एकांगी व्याख्या के कारण उस की दृष्टि अनैतिहासिक और अवैज्ञानिक हो गयी। जिस नयी ऐतिहासिक चेतना की उस समय आवश्यकता थी उस की पूर्ति आर्यसमाज के द्वारा न हो सकी। इसी समय भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के भीतर एक बहुत बड़ा ऐतिहासिक मोड़ आया। अब तक कांग्रेस का संचालन उन समझौतावादी अभिजातवर्गीय नेताओं के हाथों में हो रहा था जो समाज के निचले स्तर की समस्याओं से सहानुभूति तो रखते थे, पर उन की वास्तविकता का उन्हें ठीक-ठीक अनुभव न था। अब ऐसे जन नेताओं की आवश्यकता थी जो व्यापक यथार्थ का प्रत्यक्ष परिचय रखते हों। लोकमान्य तिलक का आगमन ऐसे ही जननेता के रूप में हुआ था। उन के नेतृत्व के साथ कांग्रेस के संचालन का सूत्र मध्यवर्ग के हाथ में आया। यह मध्यवर्ग की बढ़ती हुई शक्ति का प्रमाण था। तिलक के पास एक स्वस्थ ऐतिहासिक दृष्टि थी। उन्होंने कांग्रेस के सैद्धान्तिक पक्ष की व्याख्या और प्रतिष्ठा के लिए प्राचीन दार्शनिक मान्यताओं का पुनः परीक्षण आवश्यक समझा। फलतः गीता के कर्मसिद्धान्त का आधुनिक भाष्य सामने आया। यह एक प्रकार से मध्यकाल की टूटी हुई दार्शनिक परम्परा की कड़ी को आज की समस्याओं से जोड़ने का प्रयास था।

तिलक के प्रभाव से मध्यवर्ग में नवजागरण की चेतना तो आ गयी, पर समाज के सबसे निचले स्तर तक उस की लहर न पहुँच पायी। यह कार्य महात्मा गांधी के आगमन के साथ हुआ, जब उन्होंने १९१९ ई० में कांग्रेस की बागडोर अपने हाथ में ली। राष्ट्रीयता की जो लहर नगरों की परिधि तक सीमित थी, अपनी सीमाओं को तोड़ कर सारे देश में फैल गयी। जनता के हृदय तक स्वतन्त्रता का अर्थ पहली बार पहुँचा। स्वतन्त्रता की अस्पष्ट भावना ने जनव्यापी आन्दोलन का मूर्त रूप लिया।

सांस्कृतिक पुनर्जागरण

इस जन-आन्दोलन के समानान्तर सूक्ष्म सांस्कृतिक स्तर पर भी परिवर्तन की प्रक्रिया चलती रही। अँगरेज़ी शिक्षा का प्रचार बढ़ा। अँगरेज़ी के अतिरिक्त जर्मन, फ्रेंच और अन्य पाश्चात्य भाषाओं की ओर भी लोगों का ध्यान गया। श्रीधर पाठक ने गोल्डस्मिथ की कृतियों का अत्यन्त सफल अनुवाद किया। यह आकस्मिक नहीं है कि पाठकजी ने अनुवाद के लिए जो कविताएँ चुनीं, उन का निर्माण लोकपरक सार्वभौम प्रेमकथाओं के आधार पर हुआ था। अपने मूल रूप में इन प्रेमकथाओं का सम्बन्ध परम्परा से चले आते हुए उन्हीं प्रेमाख्यानकों से था जो मध्ययुग में अत्यन्त लोकप्रिय हुए थे। रूढ़िबद्ध शिष्ट साहित्य की सीमाओं को अतिक्रान्त कर के व्यापक जन-संवेदना की ओर बढ़ने का यह प्रयास वस्तुतः बृहत्तर राष्ट्रीय आन्दोलन का ही एक रूप था। आधुनिक हिन्दी में इस प्रकार की कोई स्वच्छन्द परम्परा नहीं थी। अतः पाठकजी को अपनी नयी उन्मुख संवेदना का उत्स पाश्चात्य काव्यकृतियों में

खोजना पड़ा। बाद में शुक्लजी और रामनरेश त्रिपाठी की रचनाओं के द्वारा इस धारा का समुचित विकास हुआ। आचार्य शुक्ल ने काव्य की इस 'स्वाभाविक भावधारा' की तुलना अँगरेज़ी के पूर्व रॅमैण्टिक कवियों—काउयर, वर्न्स और वॉल्टर स्कॉट से की है[1]। तात्पर्य यह कि पश्चिमी संस्कारों से प्रभावित मध्यवर्ग के नये बुद्धिजीवियों ने राष्ट्रीय भावधारा के अनुरूप अभिव्यक्ति और संवेदना का एक मार्ग ढूँढ़ निकाला।

नवजागरण की चेतना राजनीति और शिक्षा तक ही बँधी नहीं रही। जीवन के अन्यान्य क्षेत्रों में भी उस का प्रसार हुआ। सगीत के क्षेत्र में भातखण्डे-स्कूल के शास्त्रीय आदर्शों का प्रचलन इसी समय हुआ। चित्रकला के क्षेत्र में स्वर्गीय अवनीन्द्र-नाथ ठाकुर के नये पुनरुत्थानमूलक चित्रों का विकास भी इसी काल में हुआ। राजा रविवर्मा के पौराणिक कल्पनाप्रधान चित्र हिन्दी कवियों के बीच अधिक लोकप्रिय हुए। तत्कालीन हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक पत्रिका 'सरस्वती' में उन के चित्र प्रायः छपते थे। मैथिलीशरण गुप्त और नाथूराम 'शंकर' की कविता पर उन चित्रों का प्रत्यक्ष प्रभाव भी देखा जा सकता है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में यह पहली घटना थी जब कविता ने अपने से बाहर जाकर किसी अन्य समानान्तर कला से प्रेरणा ग्रहण की हो। वस्तुतः यह भविष्य में जन्म ग्रहण करने वाली एक नयी मिश्रित कला की पूर्व सूचना थी। यदि इस व्याख्या को तार्किक परिणति तक ले जायें तो कहा जा सकता है कि कविता को चित्रकला के निकट ला कर एक नये बिम्बविधान की सम्भावना का मार्ग प्रशस्त किया जा रहा था। यद्यपि उस सम्भावना के दर्शन बहुत बाद में हुए—प्रायः द्वितीय उत्थान की समाप्ति के पश्चात्।

उधर बंगाल में पश्चिम की प्रेरणा से जिस नयी कला और साहित्य की सृष्टि हो रही थी, हिन्दी कवि उस के विकास से अपरिचित नहीं थे। बंगभाषा की श्रेष्ठ कृतियों के अनुवाद की परम्परा तो भारतेन्दुयुग में ही चल पड़ी थी। द्वितीय उत्थान में वह परम्परा और आगे बढ़ी। मैथिलीशरण गुप्त ने माइकेल मधुसूदन दत्त की प्रसिद्ध कृति 'मेघनाद वध' और 'विरहिणी ब्रजांगना' का अत्यन्त परिष्कृत भाषा में अनुवाद किया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने राखालदास वन्द्योपाध्याय के ऐतिहासिक रोमांसों (उपन्यासों) के रूपान्तर प्रस्तुत किये। श्री रूपनारायण पाण्डेय और अन्य बहुत से लेखकों ने सफल अनुवादों का एक अलग साहित्य ही तैयार कर दिया और परिणामस्वरूप बंकिमचन्द्र, द्विजेन्द्रलाल रॉय और गिरीशचन्द्र घोष की बहुत-सी महत्त्वपूर्ण मौलिक रचनाएँ हिन्दी वालों के लिए भी सुलभ हो गयीं। पर बंगभापा के अनुवादों की यह परम्परा अपने चरमोत्कर्ष पर तब पहुँची जब १९१३ ई० में रवीन्द्रनाथ ठाकुर को विश्व का सर्वोच्च साहित्यिक सम्मान 'नोबेल प्राइज़' मिला। 'सरस्वती' में उन की कृतियों और काव्यशैली पर अनेक लेख निकले। 'गीतांजलि' के रहस्यपरक ललित गीतों के छायानुवाद भी छपने लगे। आरम्भ में अनुवादों में उतनी पुष्टता नहीं थी, पर धीरे-

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास; पृ० ६०२.

धीरे हिन्दी कविता की स्वाभाविक गति के अनुसार जैसे-जैसे स्वच्छ वृत्ति का प्रसार होता गया वैसे-वैसे रवीन्द्रनाथ की सूक्ष्म कला और रहस्यानुभूति भी हिन्दी कवियों के लिए सहजग्राह्य होती गयी। 'सरस्वती' में प्रकाशित टैगोर के एक गीत का यह भावानुवाद देखिए :

आँखों में है बन्धु हमारे
निद्रा आज नहीं आती।
पुनः पुनः हम देख रहे हैं
बाहर खोल-खोलकर द्वार।[1]

अनुभूति की यह अस्पष्ट-अज्ञात व्याकुलता हिन्दी के लिए सर्वथा नयी थी। स्वाभाविक तो यह होता कि श्रीधर पाठक द्वारा प्रवर्तित स्वच्छन्द कविता की धारा रवीन्द्रनाथ की विकसित कला और सौन्दर्य-भावना से प्रेरणा पाकर द्विवेदीयुग में ही व्यापक और लोकप्रिय हो जाती। परन्तु उस युग की इतिवृत्तात्मक प्रवृत्ति और विशेषतः आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की पुनरुत्थानमूलक सुधारवादी नीति का यह प्रभाव पड़ा कि स्वच्छन्द काव्य की वह क्षीण धारा लुप्तप्राय हो चली। उस के स्थान पर प्राचीन शास्त्रीय आदर्शों के आधार पर भारतीय संस्कृति और राष्ट्रीय भावनाओं की काव्यात्मक व्याख्या होने लगी। भाषा के क्षेत्र में आचार्य द्विवेदी बोलचाल की सहजता के समर्थक थे। परन्तु छन्द की दृष्टि से संस्कृत के वर्णिक वृत्तों के प्रति उन की बहुत ममता थी। परिणाम यह हुआ कि गद्य के आदर्शों पर चलने वाली नयी काव्यभाषा संस्कृत के वर्णिक वृत्तों के अनुकूल न सिद्ध हो सकी। इस का प्रभाव कविता की विषयवस्तु और रूप-विन्यास पर भी पड़ा। कवियों का ध्यान व्यंजन-सौन्दर्य और अनुप्रास की ओर अधिक गया और मूर्तिमत्ता की ओर कम। स्वयं द्विवेदीजी की कविता में गद्यसुलभ भाषा का आदर्श देखा जा सकता है। भाषा की यह गद्यात्मकता भाव को तीव्र और प्रेषणीय बनाने में सहायक न हुई।

इतिवृत्तात्मकता का अर्थ

आचार्य शुक्ल ने इतिवृत्तात्मकता को द्विवेदीयुग की मूल प्रकृति ठहराया है।[2] यहाँ इतिवृत्तात्मकता का अर्थ कुछ विस्तार से समझ लेना आवश्यक है। शुक्लजी ने उसे अँगरेज़ी के 'मैटर ऑफ़ फ़ैक्ट' का समानार्थक बताया है। उन का अभिप्राय स्थूल यथार्थ की उस चेतना से है जिस में रसात्मकता का अभाव होता है। निस्सन्देह द्विवेदीयुग ने अधिकतर अपनी रागदृष्टि को वस्तुस्थिति के सहज बोधगम्य पक्षों तक ही सीमित रखा। तार्किक बुद्धि की पहुँच के परे यथार्थ का जो अनुभवगम्य जटिल स्तर होता है उस की अभिव्यक्ति उस काल की कविता में नहीं मिलती। भावात्मक गहराई के इसी

---

१. सरस्वती, १९२१, भाग २१; पृ० ८६.
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास; पृ० ५८५.

अभाव को देखते हुए शुक्लजी ने पूरे युग की काव्य-प्रवृत्ति को 'इतिवृत्तात्मक' कह दिया। वस्तुतः यह इस शब्द का नया और प्रसंगप्राप्त अर्थ है। डॉ॰ देवराज का यह कथन विचारणीय है कि 'हम भारत भारती' को तो इतिवृत्तात्मक कृति कह सकते हैं किन्तु क्या हरिऔध का 'प्रियप्रवास' और गुप्तजी का 'जयद्रथवध' भी इतिवृत्तात्मक कृतियाँ हैं।[1] इस अर्थ में तो 'रघुवंश' और 'रामचरितमानस' को भी इतिवृत्तात्मक मानना पड़ेगा। अतः इतिवृत्तात्मकता का अभिप्राय स्थूल सौन्दर्य-दृष्टि के अर्थ में लेना चाहिए। इस स्थूलाश्रयी चेतना की अभिव्यक्ति दो रूपों में हुई : सीधी, सपाट और वस्तुपरक कविताओं के रूप में (जैसे भारत भारती) तथा भावुकताप्रधान पौराणिक कल्पना के रूप में (जैसे प्रियप्रवास अथवा साकेत)। पहले प्रकार की कविताओं में तत्कालीन सुधारवादी मनोवृत्ति, नैतिकता और मर्यादा-दृष्टि की अभिव्यक्ति हुई और दूसरे प्रकार की कृतियों में मध्ययुगीन पौराणिक सभ्यता का आधुनिक रूपान्तर। चूँकि दोनों प्रकार की कृतियों के पीछे मूलभूत चेतना, सुधारवाद और नैतिकता की ही थी अतः दोनों ही प्रकार की रचनाओं में मानव-मन की सूक्ष्म कल्पनाओं, कोमल सौन्दर्य भावनाओं और सुकुमार अनुभूतियों की उपेक्षा हो गयी। उस के स्थान पर एक प्रकार का सामाजिक काव्य रचा गया जिस में वैयक्तिक संवेदना के लिए बहुत कम अवकाश था। फिर जिस पौराणिक सभ्यता को इस युग के काव्य में प्रतिबिम्बित करने का प्रयास किया गया वह आदियुग की विकासोन्मुख लोकगाथाओं की गूँज न हो कर, उत्तर-मध्ययुग की ह्रासोन्मुखी हिन्दू सभ्यता की अनुगूँज थी। इस अन्तर को 'साकेत' और 'कामायनी' के कथानक की तुलना के द्वारा समझा जा सकता है। यद्यपि 'साकेत' के बाह्य ढाँचे को पर्याप्त आधुनिक बनाने की चेष्टा की गयी है, परन्तु फिर भी कवि की मध्ययुगीन भक्ति-भावना तथा मर्यादित सौन्दर्यदृष्टि उस के समष्टिगत प्रभाव को पूर्ण आधुनिक बनाने में बाधक हुई है। राम के मानवत्व की परिकल्पना तो कवि ने की है, परन्तु वह निराला की 'राम की शक्ति-पूजा' के राम की तरह समकालीन मानव के आन्तरिक संघर्ष के प्रतिनिधि राम नहीं बन सके हैं। मानवीय संवेदना की यह सीमा गुप्तजी की मनोदृष्टि की सीमा नहीं है। वस्तुतः यह पूरे द्विवेदीयुग के ऐतिहासिक दृष्टिकोण और यथार्थ के प्रति उन की भावात्मक प्रतिक्रिया की सीमा है।

कभी-कभी द्विवेदीयुग की इतिवृत्तात्मक प्रकृति की लपेट में भारतेन्दुयुग के बाद और छायावाद से पहले के सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य को इतिवृत्तात्मक कह दिया जाता है। ऐसा कहना अनैतिहासिक और भ्रमपूर्ण है। यह नहीं भूलना चाहिए कि इसी काल-सीमा के भीतर श्रीधर पाठक, रामचन्द्र शुक्ल और रामनरेश त्रिपाठी की सहज, भावपूर्ण कल्पनात्मक कृतियों का भी निर्माण हुआ। ब्रजभाषा में 'रत्नाकर' और सत्यनारायण 'कविरत्न' की संगीतमयी कलात्मक रचनाओं की सृष्टि भी इसी काल में हुई।

---

१. छायावाद का पतन; पृ० १२-१३.

ये कृतियाँ न केवल इतिवृत्तात्मकता से शून्य हैं, बल्कि एक सूक्ष्म स्तर पर इन का सम्मिलित स्वर इतिवृत्तात्मकता-विरोधी भी है। लाक्षणिक वैचित्र्य, ऐन्द्रिय मूर्तिमत्ता, प्रकृति-प्रेम, रहस्यभावना और व्यापक मानवीय परिकल्पना—रॅमैण्टिक कविता की ये सभी विशेषताएँ बीजरूप में इन कवियों की कृतियों में देखी जा सकती हैं। वस्तुतः भारतेन्दु के 'प्रातः समीर' की मूल संवेदना और जगमोहन सिंह के स्वच्छन्द प्राकृतिक चित्रों की स्वतःस्फूर्त कल्पनाशीलता का विकास इन्हीं कवियों के द्वारा हुआ। वैसे तो आधुनिक कविता के बिम्बविधान की दिशा निर्धारित करने में इस युग के प्रायः सभी श्रेष्ठ कवियों ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया, परन्तु उस के भावी स्वरूप की मूर्त झलक इन्हीं कवियों की रचनाओं में दिखाई पड़ी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यह सम्पूर्ण युग दो भागों में विभक्त है। उस का एक पक्ष बहिर्मुख, आचारप्रधान और लोकोन्मुख है। दूसरा अन्तर्मुख, भावप्रधान और वैयक्तिक। पहले पर दयानन्द, तिलक और गान्धी की सामाजिक और सांस्कृतिक विचार-धारा की गहरी छाप है; दूसरा युग और परिस्थितियों के स्वाभाविक दबाव से अथवा इतिहास के द्वन्द्वात्मक नियम के अनुसार धीरे-धीरे उस भावात्मक सौन्दर्य की ओर झुकता हुआ दिखाई देता है जिस का प्रौढ़तम विकास रवीन्द्रनाथ ठाकुर की तत्कालीन रचनाओं में देखा जा सकता है। अन्तर केवल इतना है कि रवीन्द्रनाथ ने जहाँ अँगरेज़ी के परवर्ती रॅमैण्टिक कवियों से प्रेरणा ग्रहण की थी, वहाँ इन हिन्दी कवियों की मूल संवेदना पूर्व-रॅमैण्टिक कवियों के अधिक निकट दीख पड़ती है। इस युग की कविता पर विचार करते समय इस अन्तर को ध्यान में रखना आवश्यक है।

इन दोनों प्रकार के कवियों की कविताओं की भाषा और रूप-विन्यास का सूक्ष्म अध्ययन किया जाये तो दोनों दृष्टिकोण का अन्तर स्पष्ट हो जायेगा। पहले प्रकार के कवियों की भाषा विचार करने की भाषा के अधिक समीप है। इसीलिए उस में गद्यात्मकता भी अधिक है। पुनरुत्थानवादी होने के कारण उन में संस्कृत पदों का आग्रह भी अधिक पाया जाता है। दूसरे प्रकार के कवियों की भाषा भावनाओं का सहज लचीलापन लिये हुए है। स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के कारण वे सभी प्रकार के जीवित और अभिव्यक्तिक्षम शब्दों का खुला उपयोग करते हैं। भाषा का यह अन्तर वस्तुतः युग के आन्तरिक द्वन्द्व का प्रतिबिम्ब है जिस की ऐतिहासिक परिणति छायावाद के रूप में हुई।

रागबोध का विस्तार

इन सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों ने सम्पूर्ण युग के रागबोध की परिधि को बहुत विस्तृत कर दिया। मध्ययुग में जो कविता नायिकाभेद और उद्दीपक प्रकृति के सुपरिचित रूपों तक सीमित थी, भारतेन्दुयुगीन कवियों ने उस के स्वरूप को बदलना तो अवश्य चाहा, पर ब्रजभाषा के मोह के कारण वे उस की बाह्य सीमाओं से बँधे

रहे। द्विवेदीयुग ने ब्रजभाषा को छोड़कर गद्य और पद्य दोनों के लिए जो खड़ीबोली का माध्यम स्वीकार किया, वह केवल माध्यम का परिवर्तन ही नहीं था। वस्तुत: वह उस जड़ीभूत संवेदना से मुक्त होने का प्रयास था जो ब्रजभाषा के वातावरण और उस के सूक्ष्म अन्त:संगीत से जुड़ी हुई थी। खड़ीबोली अपनी प्रकृत भौगोलिक सीमा को छोड़-कर सारे उत्तर भारत के नगरों और क़स्बों की भाषा बन चुकी थी। अत: उस के द्वारा भावनाओं को पाठकों के बृहत्तर समुदाय तक पहुँचाया जा सकता था। तात्पर्य यह कि इस युग में आ कर हिन्दी कविता सच्चे अर्थ में उस वर्ग को वाणी बनी जो नवजागरण की चेतना से स्पन्दित हो रहा था। साथ ही ब्रज के करीलकुंजों से निकल कर कवि की दृष्टि उस व्यापक यथार्थ की ओर गयी जो नगरों और गाँवों में दूर-दूर तक फैला हुआ था। परिणाम यह हुआ कि कवि की बौद्धिक दृष्टि के साथ उस की भावना का भी अनेक दिशाओं में प्रसार हुआ। जो कविता कभी कमल, पराग, वंशी और यमुना-तट की मादक ध्वनियों से भरी हुई थी उस में कीट-पतंग से ले कर मूली-मटर तक की शोभा दिखाई देने लगी। सन्ध्या, प्रभात, नक्षत्र, चन्द्रमा, नदी और समुद्र—प्रकृति के सम्पूर्ण रूप-सौन्दर्य के प्रति कवि की दृष्टि बदल गयी। देश-प्रेम और राष्ट्रभावना का जो अस्पष्ट चित्र भारतेन्दुयुगीन कवि के मन में था वह द्वितीय उत्थान तक आते-आते स्पष्ट और मूर्त हो उठा। परन्तु सब से महत्त्वपूर्ण बात यह हुई कि कुछ कवियों को प्रकृति की दृश्य और वर्ण-गन्धमयी सत्ता के भीतर भावों के सूक्ष्म अग्राह्य संकेत दिखाई देने लगे। इस प्रकार मोटेतौर पर राग-बोध के इस विस्तार को चार स्तरों पर देखा जा सकता है—

१. सहज और सामान्य के प्रति साहित्यिक दृष्टिपात

इस प्रवृत्ति को एक स्थूल और आरम्भिक स्तर पर भारतेन्दुयुग की कविता में भी देख चुके हैं। वस्तुत: यह उसी प्रवृत्ति का क्रमिक विकास है। मध्ययुगीन कविता जीवन के कुछ चुने हुए क्षेत्रों और प्रकृति के कुछ रूढ़ प्रतीकों तक सीमित थी। उस की सम्पूर्ण परिधि अन्त:पुर से ले कर यमुना-तट तक फैली हुई थी। प्रकृति के आकर्षक और उत्तेजक रूपों के प्रति कवियों के मन में अधिक अनुराग था। पर प्रकृति के रूप-परि-वर्तनों के प्रति उन की ऐन्द्रिय प्रतिक्रिया स्वत:प्रेरित कम और परम्परा के दबाव से एकोन्मुख अधिक होती थी। इसीलिए उस काल की कविता में अप्रस्तुतों का वैविध्य नहीं मिलता। आवश्यकता इस बात की थी कि कविता को चाँदनी और चन्दन के शृंगारमय वातावरण से निकाल कर जीवन और जगत् की निकट वास्तविकता के समा-नान्तर लाया जाये। भारतेन्दुयुग ने इस दिशा मे एक संकेत भर दिया था। परन्तु श्रीधर पाठक और मैथिलीशरण गुप्त की कविताओं में दैनिक परिवेश की जानी-पहचानी और अति सामान्य वस्तुओं के प्रति एक नयी ललक दिखाई दी। पाठकजी की दृष्टि प्रकृति के अति परिचित और उपेक्षित रूपों की ओर गयी और गुप्तजी की ग्राम्य-जीवन

के सहज और मानवीय पक्षों की ओर। दोनों ही प्रवृत्तियों के दो उदाहरण प्रस्तुत हैं :

बीता कातिक मास शरद् का अन्त है,
लगा सकल सुखदायक ऋतु हेमन्त है।
ज्वार बाजरा आदि कभी के कट गये,
खल्यान के काम से किसान निबट गये।
थोड़े दिन को बैल परिश्रम से थमे,
रब्बी के लहलहे नये अंकुर जमे।

जहाँ तहाँ पर रहँट-परोहे चल रहे,
घरहे जल के चारों ओर निकल रहे।

सुघर सौंफ, सुन्दर कसूम की क्यारियाँ,
सोआ-पालक आदि विविध तरकारियाँ।
अपने-अपने ठौर सभी में सोहते,
सुन्दर शोभा से सब का मन मोहते।

—गुनवन्त हेमन्त : श्रीधर पाठक

इन अति परिचित वस्तुओं में सौन्दर्य देखनेवाली दृष्टि कितनी विस्तृत और ममतामयी थी, यह ज्वार-बाजरा, रहँट–घरहे और सोआ-पालक के उल्लेख से ही जाना जा सकता है। रूढ़ियों के घेरे में बँधे हुए सौन्दर्य-बोध और कलादृष्टि को लोकोन्मुख करने का यह ऐतिहासिक प्रयास था। कमल, किंशुक और क्रीड़ाकुंजों के वातावरण में ये ग्राम्यचित्र कुछ अटपटे अवश्य लगे होंगे। परन्तु व्यापक सौन्दर्य के जिस अछूते आयाम की ओर संकेत कर रहे हैं वह उस युग की कविता के लिए सर्वथा नया था। शुक्लजी को इसी प्रकार की रचनाओं में स्वच्छन्दता का प्रथम आभास दीखा था।[१] यह तो रही गाँवों की बाह्य प्रकृति, अब उस वातावरण को आत्मीयतापूर्ण वर्णन देखिए जो ग्रामवासियों के आसपास सहज रूप से फैला रहता है :

अहा, ग्राम्य जीवन भी क्या है
क्यों न इसे सब का मन चाहे।
थोड़े में निर्वाह यहाँ है,
ऐसी सुविधा और कहाँ है।

छोटे से मिट्टी के घर हैं,
लिपे-पुते हैं, स्वच्छ सुघर हैं।

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास; पृ० ६०२.

गोपद-चिह्नित आँगन-तट हैं,
रखे एक ओर जल-घट हैं।
खपरैलों पर बेलें छायीं,
फूली-फलीं, हरी, मनभाई।

—ग्राम्यजीवन : मैथिलीशरण गुप्त

चित्रण की सूक्ष्मता की दृष्टि से इन सीधे-सादे चित्रों की तुलना यदि छायावादियों के वर्ण-गन्धमय प्रकृति-चित्रण से की जाये तो ये अत्यधिक कल्पनाशून्य जान पड़ेंगे। पर इन का महत्त्व कलात्मक सृष्टि की दृष्टि से उतना नहीं है जितना सौन्दर्य-बोध के स्थानान्तरण को दृष्टि से। वस्तुतः इस प्रकार के नग्न और अनलंकृत चित्रों के द्वारा द्विवेदी-युगीन कवि एक नूतन कल्पनादृष्टि और यथार्थवादी बिम्बविधान की भूमिका का निर्माण कर रहा था जिस का पूर्ण विकास, एक दूसरे स्तर पर, आगे चल कर छायावादोत्तर कविता में हुआ। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में पंतजी ने जीवन को जिस 'ग्रामीण नयन' से देखने का प्रयास किया है वह आकस्मिक नहीं है। मूलतः यह द्वितीय उत्थान की कविता के 'लहलहे नये अंकुर' सौंफ़-कसूम, गोपद-चिह्नित आँगनतट, जलघट और खपरैलों पर छायी हुई ग्राम्यलताओं का ही ऐतिहासिक विकास है। ढूँढ़ने पर उस काल की कविता में इस प्रकार के अनेक चित्र मिल सकते है। अतः यह किन्हीं दो-चार कवियों के व्यक्तिगत रुझान का परिणाम नहीं, बल्कि उस पूरे युग की एक विशेष काव्यात्मक प्रवृत्ति थी।

२. *प्रकृति-चित्रण में स्थानीयता का पुट*

इस प्रवृत्ति का सम्बन्ध भी पहली प्रवृत्ति से ही है। जिस प्रकार उस युग का कवि अपने समय के जीवन-प्रवाह को अपने सुपरिचित वातावरण के भीतर देखने का प्रयास कर रहा था उसी प्रकार प्रकृति की सार्वभौम सौन्दर्य-सत्ता को भी किसी प्रदेश अथवा भूखण्ड के भीतर देखने का प्रयास करता था। मध्यकालीन काव्य की अभिप्राय-मूलक प्रकृति-चित्रण के विरुद्ध यह एक स्वस्थ प्रतिक्रिया और आधुनिक जीवन-दृष्टि की पहली विशेषता थी। पुराना कवि प्रकृति के विविध रूपों को साधारणीकृत रूप में देखता था। उस के लिए प्रत्येक प्रदेश का ऋतु-परिवर्तन एक-सा था। हिन्दी-प्रदेश से बाहर जाकर प्रकृति की विभिन्नताओं को उद्‌घाटित करने का प्रयास प्रायः नहीं होता था। कुल मिला कर उन के प्रकृति-चित्रण में विशेषीकरण का अभाव था। पहले कहा जा चुका है कि बिम्बात्मक-कल्पना 'विशेष' की हो सकती है, 'सामान्य' की कदापि नहीं। अतः द्विवेदी-युगीन कवि के इस प्रयास को प्राचीन काव्य के 'सामान्य' के स्थान पर 'विशेष' को प्रतिष्ठित करने का आग्रह कहा जा सकता है। प्रकृति को, रूढ़ियों से मुक्त होकर, विशिष्ट भौगोलिक सीमाओं के भीतर देखने की प्रवृत्ति, हिन्दी कविता के लिए सर्वथा नयी वस्तु थी। इस से एक ओर अनुभूति की सीमा का विस्तार हुआ,

दूसरी ओर कविता के रूप-विन्यास में भी अभूतपूर्व परिवर्तन हुआ। उस युग के कविता संग्रहों को खोल कर देखा जाये तो प्रायः सभी कवियों ने किसी विशेष प्रदेश अथवा दृश्य के प्रति कविता लिखी है। श्रीधर पाठक ने कश्मीर के प्रकृति-सौन्दर्य पर 'काश्मीर सुषमा' नाम से एक लम्बी कविता लिखी है। रामनरेश त्रिपाठी ने अपनी दक्षिण-यात्रा से प्रेरणा पा कर केरल के समुद्रतटीय सौन्दर्य और नारियल वनों का बड़ा मार्मिक वर्णन किया है। उसी प्रकार मैथिलीशरण गुप्त ने अपने 'सिद्धार्थ' नामक संग्रह में महोबे के स्थानीय वातावरण का विशद चित्र प्रस्तुत किया है। राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने आम्र-मंजरी और मधूक वन के सौन्दर्य को छोड़ कर ग्रीष्म की भीषण दोपहरी में सौन्दर्य के एकान्त प्रतिनिधि 'अमलतास' के 'रँगीले पीले सुमन-समूह' का चित्र अंकित किया और माखनलाल चतुर्वेदी ने नर्मदा-कछार के वन्य-सौन्दर्य को अपनी अनेक कविताओं का आधार बनाया। परन्तु प्रकृति-सौन्दर्य के स्थानीकरण में सब से अधिक सफलता श्रीधर पाठक और रामनरेश त्रिपाठी को मिली है। यहाँ कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं :

धन्य यहाँ की धूल, धन्य नीरद, नभ, तारे,
धन्य धवल हिमश्रृंग, तुंग, दुर्गम, दृग्-प्यारे
धन्य नदी, नद-स्रोत, विमल गंगोद-गोत जल
सीतल सुखद समीर, वितस्ता तीर स्वच्छ-थल

मृदुल दूब-दलरचित, कुसुमभूषित सुचि शाद्वल
ललित लतावलिवलित, कलित कमनीय सलिलथल
धनि सुखमा सुख मूल, सरित-सर-कूल मनोहर
धनि सागर-सम तूल, विमल विस्तृत 'डल वूलर'।[1]

कश्मीर के विविध दृश्यखण्डों से यह कविता भरी हुई है। कवि ने स्थानीयता का रंग देने के लिए वहाँ की बहुत-सी झीलों और शिखरों का कश्मीरी नाम दे दिया है—जैसे 'डल वूलर', 'मानसबल' 'गंधरबल', 'गगरीबल', 'कदल' और 'शेरगढ़ी' इत्यादि।[2] परन्तु इन स्थानों का नामोल्लेख-मात्र कर के वह वर्णन को समाप्त नहीं कर देता। बल्कि वहाँ के पर्वतीय सौन्दर्य के क्षण-क्षण परिवर्तित रूप का भी सूक्ष्म अंकन करता है :

प्रकृति यहाँ एकान्त बैठि निज रूप निहारति,
पल-पल पलटति भेस, छनिक छबि छिनछिन धारति।[3]

प्रकृति के मर्मी कवि पंत की प्रसिद्ध पंक्ति "पावस ऋतु थी, पर्वत-प्रदेश, क्षण-क्षण परिवर्तित प्रकृति वेश" (पल्लव, पृ० ५८) के समानान्तर रख कर इन पंक्तियों को

१. काश्मीर सुषमा; पृ० १.
२. वही; पृ० २.
३. वही; पृ० ४,

देखा जाये तो इन का ठीक-ठीक ऐतिहासिक महत्त्व समझा जा सकता है। अचेतन पर चेतन क्रियाओं का आरोप भी ध्यान देने योग्य है। यह उस सूक्ष्म कलाचेतना की पूर्व-सूचना है जो छायावादियों के बीच 'मानवीकरण' के नाम से प्रसिद्ध हुई। यहाँ प्रत्येक चित्र अपने-आप में पूर्ण है। वह न तो किसी आध्यात्मिक संकेत का वाहक है, न गहन मानवीय संवेदना को सम्प्रेषित करने वाला उपलक्षण-मात्र। इसी लिए बिम्बों का स्वरूप निश्चित और इकहरा है। यह एक प्रकार से उस काल के सम्पूर्ण बिम्बविधान की रूपगत सीमा है।

'पथिक' में दक्षिण-यात्रा की स्मृतियों के आधार पर निर्मित श्री रामनरेश त्रिपाठी का यह समुद्र चित्र देखिए :[१]

निकल रहा है जलनिधि-तल पर दिनकर-बिम्ब अधूरा।
कमला के कंचन मन्दिर का मानो कान्त कँगूरा।

सिन्धु-विहंग तरंग-पंख को फड़काकर प्रतिक्षण में।
हैं निमग्न नित भूमि-अण्ड के सेवन में, रक्षण में।

कहीं गगन के खम्भ नारियल, तारभार सिर धारे।
रस-रसिकों के लिए खड़े ज्यों सुत नकार-इशारे॥[२]

इस प्रकार के स्थानीय चित्र रामचन्द्र शुक्ल की कविताओं में भी पाये जा सकते हैं। अवध के ग्राम्य दृश्य और विन्ध्य की प्राकृतिक शोभा के प्रति उन के मन में अगाध प्रेम था। 'शिशिर-पथिक' और 'बुद्धचरित' दोनों के भीतर इस प्रकार के अनेक बिम्ब मिल सकते हैं। परन्तु यह प्रकृति को जीवन की विशाल पटभूमि से विच्छिन्न कर के देखने की पद्धति नहीं थी। वस्तुतः इस में जीवन के प्रति एक व्यापक स्वीकार का भाव था। इन सीधे-सादे बिम्बों के द्वारा तत्कालीन कवि की भावात्मक प्रतिक्रिया और बाह्य यथार्थ के प्रति उन के विस्तृत दृष्टिकोण का पता चलता है। नये, अपरिचित और स्वच्छन्द बिम्बों की सृष्टि के लिए प्रकृति-सम्बन्धी धारणा का यह परिवर्तन आवश्यक था। नागरिक उद्यानों और कटे-छँटे उपवनों के भीतर केवल एक विशेष प्रकार के बँधे हुए भावों को व्यक्त करनेवाले सौन्दर्य बिम्ब ही मिल सकते थे। परन्तु यथार्थ के अनेक-मुखी विस्तार को प्रतिबिम्बित करनेवाले दृश्य-संकेत उस सीमित परिधि के बाहर जाने पर ही उपलब्ध हो सकते थे।

---

१. 'पथिक' मेरी दक्षिण यात्रा का स्मृति-चिह्न है।
रामनरेश त्रिपाठी—'स्वप्न' की भूमिका, पृ० १.

२. पथिक; पृ० ५, २१, ३३.

३. राष्ट्रीय-भावना का मूर्तीकरण

देशप्रेम और लोकभावना का प्रसार तो प्रथम उत्थान में ही हो चुका था। परन्तु उस समय वह एक अस्पष्ट 'भावना' के रूप में ही था। कवियों के सम्मुख उस की कोई मूर्त कल्पना नहीं थी। द्वितीय उत्थान तक आते-जाते 'राष्ट्र' की अमूर्त कल्पना कविता में उतर कर मूर्त और सजीव हो उठी। जिस भारत का परिचय एक स्थूल भौगोलिक मानचित्र के माध्यम से दिया जाता था, वह कवि की अनुभूतियों से रँग कर अधिक आकर्षक और अधिक अर्थपूर्ण हो उठा। भारतेन्दुयुगीन कवि जब भावावेश में आ कर भारतभूमि की कल्पना करता था, तो उस का वर्णन कुछ इस प्रकार का होता था :

जय जय भारतभूमि भवानी।
जाकी सुयश पताका जग के दसहूँ दिसि फहरानी।
सब सुख सामग्री-पूरित ऋतु सकल समान सोहानी।
जा श्री सोभा लखि अलका अरु अमरावती खिसानी।
धर्मसूर्य जित उयो, नीति जहँ गयो प्रथम पहचानी[१]।

इस उद्धरण के सम्मुख रख कर इन पंक्तियों को देखिए :

नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुन्दर है,
सूर्य-चन्द्र युग मुकुट, मेखला रत्नाकर है।
नदियाँ प्रेमप्रवाह फूल तारे मण्डन हैं,
वन्दीजन खगवृन्द, शेषफन सिंहासन है।
करते अभिषेक पयोद हैं, बलिहारी इस वेश की,
हे मातृभूमि! तू सत्य ही सगुण मूर्ति सर्वेश की।[२]

पहले में केवल सामान्य कथन है, जिस से कोई आकार नहीं बनता। परन्तु दूसरे उद्धरण में भारतभूमि का एक भव्य-विशाल रूपक उपस्थित है। समग्र रूप में यदि यह चित्र एक साथ कल्पना में न भी उतर सके, तब भी इस के अलग-अलग दृश्य अनुकूल संवेदना जगाने में पूर्ण समर्थ हैं। धरती की हरीतिमा और आकाश की नीलिमा का उल्लेख न कर के केवल एक सांकेतिक वर्णबिम्ब (कलर इमेज) उपस्थित कर दिया गया है—हरे पट पर नीला परिधान। चित्र की विशाल पटभूमि भारत देश की गरिमा और विराट्ता को व्यंजित करती है। परन्तु यह राष्ट्रीय कल्पना की केवल एक पद्धति थी। कुछ कवियों ने दूसरे ढंग से देश की वास्तविक स्थिति और प्रवृत्ति-सौन्दर्य का वर्णन किया है। इस के लिए उदात्त पृष्ठभूमि का होना आवश्यक नहीं था। केवल कुछ सांकेतिक चित्रों के द्वारा एक प्रभावपूर्ण स्थिति उपस्थित कर दी जाती थी। श्री रामनरेश त्रिपाठी

---

१. बदरीनारायण 'प्रेमघन' कविता कौमुदी; भाग २.
२. मैथिलीशरण गुप्त—कविता, भाग २; पृ० ४५७.

के 'पथिक' नामक खण्डकाव्य में इस प्रकार के बहुत से चित्र मिल सकते हैं। 'पथिक' जब नयी चेतना से भर कर अपने देशवासियों की ओर दृष्टि फेरता है तो वह उन के जीवन और प्राकृतिक सौन्दर्य के विरोधाभास को देख कर चकित और विषण्ण रह जाता है :

छूता हुआ गाँव की सीमा अति निर्मल जलवाला।
बहता है अविराम निरन्तर कल-कल स्वर से नाला॥
अनति दूर पर हरियाली से लदी खड़ी गिरिमाला।
किन्तु नहीं इस से हृदयों में है आनन्द उजाला[1]॥

कोकिल का आलाप पपीहे की विरहाकुल बानी।
तोता-मैना का विवाद, बुलबुल की प्रेम-कहानी॥
गातीं मोहनगीत तरुनियाँ खेत अखेद निरातीं।
क्या ये क्षण-भर को न किसी के मन का कष्ट भुलातीं[2]॥

चित्रों की यह शृंखला दूर तक जाती है। परन्तु कहीं भी कवि निकट देश की भौगोलिक विशालता को रूपायित करने का प्रयास नहीं करता। उस के निकट राष्ट्र का सच्चा स्वरूप हरे-भरे खेतों, श्याम चट्टानों, सुगन्धित झाड़ियों, कदली वनों, नीम, कदम्ब और इमली के वृक्षों, बालू के टीलों, झुण्ड के झुण्ड उड़ते पक्षियों और गिरि-मैदानों से हो कर अस्थिर समय की तरह भागती हुई नदियों में है। यह वह वास्तविक पृष्ठभूमि है जिस के बीच देशवासियों का संघर्षमय जीवन व्यतीत होता है। इन चित्रों की विशेषता यह है कि इन में बदलते हुए देश के आन्तरिक जीवन की झलक भी मिल जाती है। सारा प्राकृतिक वैभव ज्यों का त्यों है। फिर भी उस के बीच निवास करने-वालों की मुद्रा उदास और भावशून्य है। यही इन बिखरे हुए छोटे-छोटे चित्रों की सम्मि-लित ध्वनि है।

राष्ट्रीय-भावना के इस मूर्तीकरण के पीछे वही सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक शक्तियाँ काम कर रही थीं जो सम्पूर्ण काव्य को धीरे-धीरे अमूर्तता से मूर्त कल्पनाओं की ओर ले जा रही थीं। वस्तुतः यह सम्पूर्ण राष्ट्र की 'सामूहिक कल्पना' (कलेक्टिव इमैजिनेशन) के अन्तर्गत होने वाले परिवर्तन की दिशा का सूचक था। छायावादी युग तक पहुँच कर यह प्रवृत्ति 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' 'भारिति, जय विजय करे' और 'भारतमाता ग्रामवासिनी' जैसी कविताओं के द्वारा और स्पष्ट हो उठी।

४. सुदूर और अदृश्य के प्रति भावात्मक झुकाव

वातावरण, प्रकृति और राष्ट्र की नयी परिकल्पना के साथ-साथ कुछ कवियों के भीतर एक नये प्रकार का सौन्दर्यबोध भी विकसित हो रहा था। धीरे-धीरे स्थूल परि-

---

१. पथिक; पृ० ३३.
२. वही; पृ० ३५.

वेश के भीतर से उभर कर कुछ ऐसे सूक्ष्म संकेत कविताओं में दिखाई देने लगे जो मानवीय अनुभूति की एक अस्पष्ट दिशा की ओर संकेत करते थे । यह विशेष रूप से ध्यान देने की बात है कि यह प्रवृत्ति सम्पूर्ण द्वितीय उत्थान के भीतर नहीं पायी जाती। केवल द्विवेदीयुग के अन्तिम वर्षों में श्रीधर पाठक, रामचन्द्र शुक्ल और रामनरेश त्रिपाठी की कृतियों में इस प्रकार के सूक्ष्म रहस्य-संकेत पहले-पहल दिखाई देते हैं। मैथिलीशरण गुप्त की 'स्वयं आगत' और 'आय का उपयोग' शीर्षक सांकेतिक कविताएँ सन् १९१८ की 'सरस्वती' के अंकों में प्रकाशित हुई थी। इसी के आस-पास सुमित्रानन्दन पंत की आरम्भिक कविताएँ भी यत्र-तत्र छपने लग गयी थीं। तात्पर्य यह कि द्विवेदी-युगीन कवियों के भीतर यह जो भावात्मक मोड़ आया वह एक व्यापक ऐतिहासिक परिवर्तन की अन्तर्निहित प्रेरणा से परिचालित था। इसे 'प्रसाद' और 'पंत' की रहस्य-मूलक कृतियों का पूर्वाभास भी कह सकते हैं। इस प्रकार की कविताओं में कल्पना का एक नया स्तर खुलता हुआ दिखाई दिया। सहज मानवीय जिज्ञासा और सम्पूर्ण सृष्टि की आन्तरिक जटिलता को भावबोध के स्तर पर आत्मसात् करने की अदम्य आकांक्षा से प्रेरित होने के कारण इस प्रकार के चित्रों के द्वारा बिम्बविधान की एक नयी पद्धति का प्रवर्तन हुआ। श्रीधर पाठक की 'सुसन्देश' शीर्षक कविता में इस सांकेतिक पद्धति का आरम्भिक रूप देखा जा सकता है :

> कहीं पै स्वर्गीय कोई बाला सुमंजु वीणा बजा रही है।
> सुरों के संगीत की सी कैसी सुरीली गुंजार आ रही है ॥
>
> भरे गगन में हैं जितने तारे, हुए हैं मदमस्त गत पै सारे।
> समस्त ब्रह्माण्ड भर को मानो दो उँगलियों पर नचा रही है[१] ॥

प्रकृति की नीरवता के पीछे निरन्तर गूँजती हुई 'सुमंजु वीणा' की कल्पना बड़ी स्वाभाविक है। अज्ञात के प्रति मानव-मन की यह चिरन्तन जिज्ञासा उसे प्रकृति के उन रूपों की ओर प्रेरित करती है जो अस्पष्ट और अग्राह्य हैं। इसीलिए इस प्रकार की रचनाओं में उन संकेतों की चर्चा अधिक होती है जो दूर और अदृश्य होते हैं। ऐसी कल्पनाओं में नये रहस्यपरक बिम्बों और प्रतीकों के लिए अपार सम्भावनाएँ होती हैं। आचार्य शुक्ल ने इस प्रवृत्ति को 'अज्ञान का राग' कहा है जो मनुष्य को 'ज्ञानप्रसार के बीच-बीच में छूटे हुए अन्धकार और धुँधलेपन की ओर आकर्षित करता है । अँगरेजी के प्रसिद्ध रहस्यवादी कवि विलियम ब्लेक की कविताओं में यह 'अज्ञान का राग' अपने तीव्रतम रूप में पाया जाता है। स्वयं आचार्य शुक्ल के 'हृदय के मधुरभार' (जिस की रचना द्वितीय उत्थान के अन्तिम चरण में हुई थी) में जाने-पहचाने प्राकृतिक बिम्बों के द्वारा ऐसी अनेक रहस्योन्मुख अभिव्यक्तियाँ मिल सकती हैं :

---

१. कविता कौमुदी, दूसरा भाग; पृ० ११९-१२०.

२. चिन्तामणि, दूसरा भाग; पृ० १२९.

धुधँले दिगन्त में विलीन हरिताभ रेखा
किसी दूर देश की सी झलक दिखाती है।
जहाँ स्वर्ग-भूतल का अन्तर मिटा है चिर
पथिक के पथ की अवधि मिल जाती है।
भूत और भविष्यत् की भव्यता छिपी है सारी
दिव्य भावना-सी वही भासती भुलाती है।
दूरता के गर्भ में जो रूपता भरी है वही
माधुरी ही जीवन की कटुता मिटाती है।[1]

इस प्रवृत्ति का सर्वोत्तम उदाहरण होने के साथ-साथ यह कविता अपनी व्याख्या भी प्रस्तुत करती है। 'दूरता के गर्भ' मे जो मर्मच्छवियाँ और अदृश्य रूप छिपे हुए हैं उन्हें कल्पना के द्वारा भावबोध के स्तर पर लाना—यही इस वर्ग की कविताओं का प्रमुख उद्देश्य है। आज की भाषा में कहें तो ऐन्द्रिय-बोध की सीमा के बाहर यथार्थ का जो एक बहुत बड़ा भाग अज्ञात रह जाता है, ये कविताएँ उसी के सूक्ष्म स्तरों का उद्घाटन करती हैं।

तत्कालीन कवियों के राग-बोध के विस्तार को सूचित करने के लिए, उस की विभिन्न दिशाओं के, ये कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये गये हैं। इन दिशाओं के अतिरिक्त भी अन्य ऐसे कई क्षेत्र हो सकते हैं जिन में उस काल की कवि-कल्पना ने पहली बार प्रवेश किया। यहाँ उस के विस्तार में जाना आवश्यक नहीं है। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि उस युग की संवेदना का केवल बाह्य विस्तार ही नहीं हुआ, बल्कि उस में गुणात्मक परिवर्तन भी हुए। जो कल्पना मिट्टी में उगे हुए सोआ-पालक के पौधों के भोतर सौन्दर्य देखती है, वही स्वर्ग और भूतल की मिलन-रेखा के समीप 'दूरता के गर्भ में' छिपे हुए रहस्यपरक सौन्दर्य-बिम्बों का आविष्कार भी करती है। इसे केवल विषय-वस्तु के क्षेत्र और सीमा का विस्तार मानना अर्द्धसत्य होगा। यह उस पूरे युग की साहि-हित्यक दृष्टि और काव्यगत मूल्यों में होने वाले परिवर्तन का सूचक है। पुराने काव्य को रूढ़िगत सीमाओं से ऊबा हुआ कवि जीवन की नयी अर्थभूमियों की तलाश में था। कविता उसे सौन्दर्य की अनेक दिशाओं से हाथ उठाये हुए आमन्त्रित करती-सी जान पड़ती थी :

दलराशि उठी खरे आतप में हिल चंचल चौंध मचाती जहाँ,
उस एक हरे रंग में हलकी गहरी लहरी पड़ जाती जहाँ,
कल कर्वुरता नभ की प्रतिबिम्बित खंजन में मन भाती जहाँ,
कविता वह! हाथ उठाये हुए चलिए कविवृन्द बुलाती वहाँ।[2]

---

१. 'हृदय का मधुर भार' से—(पुस्तकाकार अप्रकाशित).
२. कविता कौमुदी, दूसरा भाग; पृ० ४०४.

बिम्बविधान का विकास

हाथ उठाये हुए कविता का बिम्ब कितना सार्थक है। वस्तुतः यह सौन्दर्य की अनेक दिशाओं में भटकनेवाली प्रवृत्ति निरुद्देश्य स्वच्छन्द कल्पना का लक्षण नहीं है। इस प्रकार की पंक्तियों के द्वारा कवि उन अदृष्ट-अज्ञात बिम्बों की ओर संकेत करना चाहता है जो अब तक कविता के क्षेत्र से बहिष्कृत थे। इन कविताओं का उचित महत्त्व इसी दृष्टि से विचार करने पर आँका जा सकता है।

यहाँ राग-बोध के विस्तार के अन्तर्गत केवल उन्हीं पक्षों पर विचार किया गया है जिन में भावी विकास की सम्भावनाएँ निहित थीं। परन्तु उस काल की कविता के पूरे विकास को देखा जाये तो इस प्रकार के मौलिक प्रयास अपेक्षाकृत कम हुए हैं। रूप-विन्यास की चली आती हुई परम्परा को कवियों ने थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ लगभग स्वीकार कर लिया था। भाषा और शैली के क्षेत्र में अवश्य बहुत क्षिप्र गति से परिवर्तन हुए। अधिकतर कवि खड़ीबोली को व्यवस्थित रूप देने और उसे काव्यात्मक साँचे के अनुकूल ढालने में लगे हुए थे। यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य था। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' के माध्यम से इस ऐतिहासिक निर्माण का पथ प्रदर्शन किया। वे जैसे जीवन में सहज और सामान्य के समर्थक थे वैसे ही साहित्य में भी असामान्य वस्तुओं और कल्पनाओं के आग्रह को अनुचित समझते थे। इस महत्त्व-पूर्ण युग के अन्तिम दिनों में 'सरस्वती' के एक सम्पादकीय में नये साहित्य की प्रवृत्तियों पर विचार करते हुए उन्होंने इस बात पर बल दिया था—

> "जो साधारण है, वही रहस्यमय है, वही अनन्त सौन्दर्य से युक्त है। इसी सौन्दर्य को स्पष्ट कर देना भविष्य के कवियों का काम होगा।"[१]

छायावादी कविता का इतिहास बतलाता है कि द्विवेदीजी का यह कथन ग्राह्य न हुआ और उस के बाद जो कुछ लिखा गया वह 'दूरता के गर्भ में' छिपे हुए असामान्य रूपों (अन्तर्दृष्टिमूलक बिम्बों और प्रतीकों) का उद्‌घाटन ही था। परन्तु द्विवेदी-युगीन कविता का बिम्बविधान सामान्य और परिचित रूपों की सीमा के बाहर बहुत कम गया। बिम्बों के स्रोत और क्षेत्र प्रायः वही रहे जो भारतेन्दुयुग में थे—प्रकृति, पशु-पक्षी, पौराणिक आख्यान और तत्कालीन सामाजिक-सांस्कृतिक वातावरण। परन्तु उस का स्वरूप पहले से अधिक स्थिर हो गया और बाह्य संगठन के नियम भी बदल गये। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि उस युग के आलंकारिक और सज्जात्मक (डिकोरेटिव) चित्रों को 'बिम्ब' केवल व्यापक दृष्टि से कहा जा रहा है। अन्यथा वे अधिकतर अप्रस्तुत विधान के अन्तर्गत ही आयेंगे। इस कोटि के बिम्बों को पिछले अध्याय में हम उपलक्षित बिम्बविधान (इनडाइरेक्ट अथवा फ़िगरेटिव इमेजरी) के अन्तर्गत रख चुके हैं। द्वितीय उत्थान में इसी पक्ष का विस्तार अधिक हुआ।

---

१. 'कविता का भविष्य'; सम्पादकीय, 'सरस्वती', सितम्बर, १९२०; पृ० ११६.

काव्यगत अनुभूति को तीव्र और मूर्त बनाने के लिए अप्रस्तुतों (उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि) का प्रयोग कविता के आरम्भिक युग से ही होता आया है। सादृश्य-विधान भारतीय कविता-परम्परा का प्रमुख चरित्र-लक्षण है। यहाँ पश्चिमी काव्यशास्त्र और भारतीय काव्यशास्त्र की मान्यताओं में थोड़ा अन्तर है। पश्चिमी आलोचक—अरस्तू से ले कर आई० ए० रिचर्ड्स तक रूपक (मेटॅफॅर) को काव्य का सब से बड़ा गुण मानते हैं। इस के पीछे उन का वही प्रसिद्ध अनुकृतिवाद का सिद्धान्त है। उपमा अथवा उत्प्रेक्षा तो केवल एक समीपी सादृश्य-मात्र उपस्थित करती है। परन्तु रूपक में वर्ण्य वस्तु का पूर्णतः समाहार हो जाता है। वस्तु और कल्पना के बीच वहाँ अन्तराल नहीं छूटता। इसी अभेद में अनुकृति की पूर्णता और कलात्मकता होती है। परन्तु भारतीय विचारकों ने उपमा को अधिक महत्त्व दिया है। नैयायिकों ने तो सादृश्य-बोध के आधार पर 'उपमान' को एक स्वतन्त्र प्रमाण ही माना है।[१] परन्तु पश्चिमी विचारकों का मत सादृश्य अथवा उपमा के पक्ष में नहीं है। प्रसिद्ध आलोचक हरबर्ट रीड ने दो भिन्न वस्तुओं की सादृश्य-योजना को साहित्यिक अभिव्यक्ति की प्राथमिक अवस्था माना है।[२] परन्तु यह प्राथमिक अवस्था मानवीय अभिव्यक्ति की सब से सहज और स्वाभाविक अवस्था है। अतः इस का महत्त्व असन्दिग्ध है। मनुष्य स्मृतिजीवी प्राणी है। प्रत्यसमज्ञा—एक वस्तु को देख कर उस की समानधर्मा दूसरी वस्तु का ध्यान हो आना—उस का स्वाभाविक गुण है। वह चाहे भी तो इस प्रक्रिया से छुटकारा नहीं पा सकता। मानवीय स्वभाव की इसी अनिवार्यता के कारण काव्य में औपम्य-विधान को इतना महत्त्व मिला है।

रीतिकालीन कवियों ने अप्रस्तुत-विधान की दिशा में बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। सौन्दर्य के अनेक पक्षों को रूपायित करने के लिए उन्होंने तत्कालीन सांस्कृतिक परिवेश और प्रकृति के भीतर से नये और प्रभावपूर्ण अप्रस्तुतों का एक विशाल कोश प्रस्तुत किया है। आधुनिक युग में आ कर अप्रस्तुतों की सीमा में विस्तार हुआ। सौन्दर्य और श्रृंगार के अतिरिक्त जीवन के अन्य पक्षों से भी उस का सम्बन्ध स्थापित किया गया। इस प्रकार स्वच्छन्द और ऐन्द्रिय बिम्ब-विधान का मार्ग प्रशस्त हुआ। द्विवेदी-युगीन कविता का इस दृष्टि से अध्ययन करने पर बहुत से नये तथ्य सामने आ सकते हैं। अपनी कल्पना शक्ति के ऊपर परम्परागत रूढ़ियों का बोझ स्वीकार करते हुए उस युग के कवियों ने कविता के कलेवर को एक नयी साज-सज्जा और कान्ति दी। परन्तु रूढ़ियों से सर्वथा मुक्त हो कर उन्होंने स्वतन्त्र काल्पनिक सृष्टियाँ कम प्रस्तुत कीं। रूढ़िबद्ध कल्पना के सब से सफल कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त

---

१. न्याय वार्तिक; १।१।६.
२. *English Prose Style*; 28.

हैं जिन के काव्य में प्राचीन काव्य-प्रसिद्धियों के आधार पर अनेक सामयिक परिकल्पनाएँ की गयी हैं। हरिऔध का अप्रस्तुत-विधान भी इसी कोटि के अन्तर्गत आता है। उन्होंने भी सामयिकता की रक्षा करने के लिए कहीं-कहीं पौराणिक कल्पनाओं की नयी काव्यात्मक व्याख्या प्रस्तुत की है। नये अप्रस्तुतों के निर्माण में सर्वाधिक सफलता श्रीधर पाठक, रामचन्द्र शुक्ल और रामनरेश त्रिपाठी को मिली है। इस दृष्टि से ये तीनों ही कवि कल्पनाप्रधान आधुनिक बिम्बविधान के प्रवर्तक माने जा सकते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से पूर्ववर्ती होने के कारण श्रीधर पाठक के कृतित्व को सब से अधिक महत्त्व मिलना चाहिए।

इस युग की अधिकांश बिम्बयोजना अप्रस्तुत-विधान के रूप में ही पायी जाती है। स्वतःपूर्ण ऐन्द्रिय बिम्बविधान (सेन्शअस इमेजरी) की ओर कवियों की दृष्टि कम गयी। परन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाये तो उस युग की कविता में बहुत-से सर्वथा मौलिक और अछूते अप्रस्तुत मिल सकते हैं। मैथिलीशरण गुप्त जैसे इतिवृत्तप्रधान कवि की कृतियों में भी इस प्रकार के कल्पना-प्रधान नये अप्रस्तुत सरलता से मिल जायेंगे। श्री रामनरेश त्रिपाठी सीधी, स्वच्छन्द और भावपूर्ण अभिव्यक्तियों के कवि है। परन्तु 'पथिक' और 'स्वप्न' में कहीं-कहीं नितान्त मौलिक उद्भावनाएँ भी मिल जाती हैं। यहाँ उदाहरणस्वरूप, इन दोनों कवियों की महत्त्वपूर्ण कृतियों से कुछ [illegible] मौलिक अप्रस्तुतों की एक संक्षिप्त तालिका प्रस्तुत की जा रही है :

प्रस्तुत	अप्रस्तुत	कृति	पृष्ठ
सूर्य	नील नभस्सर से उतरा यह हंस	साकेत	२०७
,,	रवि तन्तुवाय है आज बना	,,	२०९
,,	जीवन का जयकेतु	,,	२९५
बादल	ये किस के उच्छ्वास-से छाये हैं सब ओर	,,	२११
,,	गरज रहा गज-सा झुक-झूम	,,	२११
,,	आश्विन के चित्रित हस्ति	,,	२११
,,	व्यग्र उदग्र जगज्जननी के अयि अग्रस्तन बरसो	,,	२११
नक्षत्र	तारे कच्चे पारे-से	,,	
आकाश	व्योम शीर्ण कंचुकधरे विषधर-सा विस्तीर्ण	,,	२१७
तारों-भरा आकाश	नीलम के प्याले में बुदबुद	;,	२१८
पृथ्वी	मक्खी-सी भन्ना रही मही	,,	२०९
अन्धकारमयी पृथ्वी	अलि नीलोत्पल में प्रस्तुत ज्यों	,,	२४९
रथ	झोंके-सा झट स्वच्छ मार्ग से रथ उड़ा	,,	९२
,,	रथ मानो एक रिक्त घन था	,,	११९
भूप (दशरथ)	आँधी से उखड़े वृक्ष सदृश	,,	११८

राम (शिविर में)	शरद्वनों में नीलाचल-से	साकेत	३१६
शत्रुघ्न	मैं खिंचा जाता, खिंचे ज्यों चाप	,,	१२६
ऊर्मिला	स्वर्ग का यह सुमन धरती पर खिला	,,	२०
,,	जलती-सी वह विरह में बनी आरती आप	,,	१९५
,,	वीणांगुलि सम सती उतरती-सी चढ़ आयी	,,	३१३
,,	मेरी दशा हुई है ऐसी तारों पर उँगली की जैसी	,,	२८५
सखी	तालपूर्ति-सी संग सखी भी खिंचती आयी	,,	३१३
लक्ष्मण	पद्मिनी के पास मत्त मराल-से	,,	२१
नेत्र	हीरकों में गोल नीलम हैं जड़े	,,	१९
भाल	अर्द्ध विधु-सा भाल	,,	३१
पुष्प	कुछ कहने के लिए लता के अरुण अधर वे फड़क रहे हैं	,,	
इन्द्रवधू	नन्हीं दूर्वा का हृदय निकल पड़ा यह हाय	,,	२१२
पेड़	पथ के प्रहरी	,,	१०५
रसाल	ओ मधु के अनुपम आवास	,,	२२९
शान्ति	झूले शिशु-सी शान्ति	,,	१०९
कुटी	सरोरुह-सम्पुटी	,,	११४
गाँव	शून्य-सिन्धु के द्वीप	,,	१०४
अश्वारोहण	झोंके पर ज्यों गन्ध, अश्व पर कूद चढ़े थे	,,	२९८
समुद्र से उठता हुआ सूर्यबिम्ब	कमला के कंचन मन्दिर का मनोकान्त कँगूरा	पथिक	५
समुद्र	सिन्धु-विहंग तरंग-पंख को फड़का कर प्रति- क्षण में	,,	२१
जलगत प्रकाश	रत्नाकर ने निर्मित कर दी स्वर्ण-सड़क अति प्यारी	,,	५
नारियल-वृक्ष	रस-रसिकों के लिए खड़े ज्यों सुस्त नकार-इशारे	,,	३३
मुख (संन्यासी का)	भस्मावृत निर्धूम अग्नि-सा श्मश्रुयुक्तमुखा	,,	१८
पर्वत की ऊँचाई	सर्वोपरि उन्नत मन की-सी लक्षित अचल-ऊँचाई	,,	३४
लहर	सुन्दर सर है, लहर मनोरथ-सी उठ कर मिट जाती	,,	३५
नदी	अस्थिर समय समान प्रवाहित	,,	३७
प्रेम	मधुर प्रेम की कल्पलता	स्वप्न	१२
दृष्टि	दृष्टि-पत्र की छाया का सुख	,,	१२

यौवन	यौवन की उत्तप्त दुपहरी	स्वप्न	१४
प्रेम-सिक्त हृदय	द्रवित हृदय होता है सुन कर शशि-कर छू कर यथा चन्द्रमणि	,,	३
कपोल	दर्पण में गुलाब के गुच्छक के प्रतिबिम्ब मनोहर	,,	३२
मानव और काल	अन्धकार में अन्धसारथी हाँक रहा है किधर जीर्ण रथ	,,	२९
पक्षी	किस के गान-यन्त्र हैं पक्षी	,,	२१
नीड़ोन्मुख पक्षि-समूह	बच्चों के अनुराग-डोर से आकर्षित हो खग-पतंग-चय वेगवन्त हैं	,,	२५
हरियाली	पुरुष-प्रिया की सूख रही हैं ये मानो साड़ियाँ असंख्यक	,,	२४
घास की पत्ती	तृण का मरकत-सा सुन्दर कर	,,	२१

इस सूची को और अधिक विस्तृत किया जा सकता है। श्रीधर पाठक, हरिऔध और रामचन्द्र शुक्ल की रचनाओं से भी इस प्रकार की अनेक पंक्तियाँ ढूँढ़ी जा सकती हैं। 'काश्मीर-सुषमा' में कश्मीर के उत्तुंग शिखरों और हरी-भरी घाटियों के सौन्दर्य को सम्प्रेषित करने के लिए अनेक नयी उत्प्रेक्षाएँ की गयी हैं। वहाँ की ऐन्द्रजालिक शोभा के लिए विश्वबाजीगर की इन्द्रजाल-मंजूषा की यह उत्प्रेक्षा कितनी सार्थक है :

कै यह जादूभरी विश्वबाजीगर थैली।
खेलत में खुल परी शैल के सिर पर फैली।[1]

हरिऔध की प्रतिभा स्वच्छन्द कल्पना की दिशा में बहुत कम प्रवृत्त होती थी। उन की विशेषता परम्परागत उपमानों के सार्थक उपयोग और सफल निर्वाह में अधिक दिखाई देती है। 'प्रियप्रवास' का सौन्दर्य-वर्णन इसी कोटि का है। केले के हरे-हरे, वायु के झोंकों से हिलते हुए पत्तों का यह वर्णन देखिए :

उड़ा दलों व्याज हरी हरी ध्वजा
नितान्त केला कल-केलि लग्न था।[2]

पत्ते के लिए हरी ध्वजा की कल्पना बिलकुल नयी है। परन्तु ध्यान देने की बात है कि कवि प्रत्यक्ष रूप से पत्ते के लिए 'हरी ध्वजा' के बिम्ब की कल्पना नहीं करता। ध्वजा और पत्ते की भेदकता को बनाये रखने के लिए उस ने बीच में एक भिन्नतासूचक शब्द रख दिया है—'व्याज'। आज की कविता के रूप-विन्यास की प्रक्रिया इस से सर्वथा भिन्न है। उस में उपमेय और उपमान के बीच का यह अन्तर प्रायः अलक्षित होता है। वस्तुतः यह प्राचीन कविता के तुलनात्मक औपम्य-विधान

---

१. काश्मीर-सुषमा; पृ० ६.
२. प्रियप्रवास; पृ० ८१.

और आज की कविता के प्रत्यक्ष ऐन्द्रिय बिम्ब-विधान की मूलभूत पद्धति का अन्तर है। इस बात को एक अन्य उदाहरण से समझें :

> मैं जो नया ग्रन्थ विलोकता हूँ[1]
> माता मुझे सो नव मित्र-सा है ॥
>
> —गिरिधर शर्मा

इस छन्द के समानान्तर इसी के भाव से मिलता-जुलता एक प्रसिद्ध आधुनिक अमरीकी कवि की निम्नलिखित पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं :

> Comerads, this is no book,
> Who thouches this, thouches a man.[2]
>
> (मित्र, यह पुस्तक नहीं, जो इसे छूता है
> वह एक जीते-जागते मनुष्य को छूता है।)

सब से पहले यह मान कर चलें कि पुस्तक के लिए 'मित्र' की उपमा कोई मध्य-युगीन कवि नहीं दे सकता था। यह पूर्णत: आधुनिक युग की कल्पना है। परन्तु ऊपर वाली पंक्ति में ग्रन्थ को 'नवमित्र-सा' कहने से उस का कोई स्पष्ट बिम्ब नहीं बन पाता। केवल अर्थग्रहण मात्र होता है। पर नीचे वाली पंक्ति में कवि अपनी पुस्तक को एक जीते-जागते मनुष्य के रूप में कल्पित करता है और अपनी इस कल्पना को पाठक की बुद्धि पर छोड़ नहीं देता है। उसे अनुभूति का अंग बना कर ऐन्द्रिय स्तर पर उतार लाने का प्रयास करता है। इसी लिए उस की कल्पना का प्रभाव पाठक के मन पर एक स्पर्श-बिम्ब के रूप में पड़ता है। ऐन्द्रिय पर्युत्सुकता (सेन्शुअस रिस्पॉन्स) जगा सकने की सामर्थ्य रखने के कारण दूसरी कल्पना अधिक सच्ची और प्रभावशाली सिद्ध होती है। पुरानी कविता से आधुनिक (छायावाद तथा उस के बाद की कविता का) कविता के अप्रस्तुत-विधान को इसी स्तर पर अलग किया जा सकता है। ऊपर नये अप्रस्तुतों की जो सूची प्रस्तुत की गयी है उस में स्थूल कल्पना से सूक्ष्म ऐन्द्रिय प्रभाव की ओर बढ़ने का प्रयास स्पष्ट है। गुप्तजी के चित्रों में संगीत और गन्ध से सम्बन्धित अनुभूतियाँ अधिक हैं। विरहिणी ऊर्मिला के लिए तारों पर काँपती हुई उँगली की कल्पना अत्यन्त मार्मिक है। सखी की आकस्मिक उपस्थित को सूचित करने के लिए कवि संगीत के क्षेत्र से ही एक दूसरा उपमान लाता है 'तालपूर्ति-सी सखी'। इस से ऊर्मिला की तात्कालिक मन:स्थिति और नाटकीय परिवेश की पूरी व्यंजना हो जाती है। इसी प्रकार अश्वा-रोहण की त्वरा और क्षिप्र गति को व्यंजित करने के लिए हवा के झोंके साथ आने वाली तीव्र गन्ध की उपमा दी गयी है। इन चित्रों से स्पष्ट है कि कवि का ध्यान उपमान और उपमेय के आकारसाम्य के ऊपर होकर, उन के आभ्यन्तर प्रभावसाम्य की ओर

---

१. कविता कौमुदी (दूसरा भाग); पृ० ३५१.
२. *Walt Whitman : Selection From His Poetry And Prose*; 171.

अधिक है। इसे हम प्राचीन सादृश्य-विधान की रूढ़ियों से मुक्त होकर नये कल्पनात्मक बिम्बविधान की ओर बढ़ने का प्रयास भी कह सकते हैं। परन्तु यह उस काल की सम्पूर्ण कविता की सामान्य प्रवृत्ति नहीं है। 'पथिक' और 'स्वप्न' से दिये गये उदाहरणों में यह प्रवृत्ति अवश्य अधिक स्पष्ट हो कर आयी है। छायावाद की प्रौढ़ कल्पना के पूर्वरूप इन्हीं कृतियों में दिखाई देते हैं। अमूर्त रूप-विधान के द्वारा मूर्त वस्तुओं की व्यंजना छायावाद की एक प्रमुख विशेषता मानी जाती है। पर्वत की ऊँचाई को व्यंजित करने के लिए 'उन्नत मन' का उपमान (पथिक, पृ० ३४) इसी प्रकार का है। मनोरथ के समान उठने वाली लहर की कल्पना भी इसी कोटि में आवेगी। आगे चल कर कल्पना के धनी कवि पंत की रचनाओं में इस प्रवृत्ति का पूर्ण विकास हुआ।

ऐन्द्रियता

ऐन्द्रियता बिम्ब की पहली विशेषता मानी जाती है। यह ग्रहणशीलता का वह स्तर है जहाँ बिम्ब अलंकार की कोटि से अलग हो जाता है। आधुनिक कविता में बिम्बों की बहुलता का कारण यही है कि आज का कवि अमूर्त भावों की अपेक्षा ऐन्द्रिय अनुभवों को अधिक विश्वसनीय समझता है। ऐन्द्रिय अनुभूति जब होगी तब किसी बिम्ब के रूप में ही होगी। दोनों प्रायः आन्योन्य हैं। यहाँ ऐन्द्रिय अनुभूति के स्वरूप को स्पष्ट कर लेना आवश्यक है। तात्पर्य उन प्रत्यक्ष अनुभूतियों से है जो पहले किसी न किसी संवेदना के स्तर पर ग्राह्य होती हैं—जैसे वर्ण, स्पर्श, नाद और गन्ध सम्बन्धी अनुभूतियाँ। एक श्रेष्ठ कविता में इन समस्त अनुभूतियों का एक गहन, कलात्मक सम्पुंजन पाया जाता है। कालिदास के 'मेघदूत' में ऐसे अनेक उदाहरण मिल सकते हैं। पुराने हिन्दी कवियों में विहारी एकमात्र ऐसे कवि हैं जिन में तत्कालीन काव्यगत सीमाओं के बावजूद कुछ अत्यन्त प्रभावशाली ऐन्द्रिय बिम्ब मिल जाते हैं। भारतेन्दु युग की कविता में इस प्रकार के बिम्बों का नितान्त अभाव है। द्वितीय उत्थान के कवियों ने इस दिशा में थोड़ी प्रगति अवश्य दिखायी। परन्तु उन की अनुभूतियाँ भी ऐन्द्रियता के प्रथम स्तर से आगे नहीं बढ़ पातीं। इसी लिए वर्ण और गन्ध सम्बन्धी जो चित्र इस काल की कविता में उपलब्ध होते हैं वे केवल एक स्थूल आकार-भर खड़ा कर पाते हैं। संवेदना को परिपक्व अनुभूति और अनुभूति को गहरे विचार के स्तर तक वे नहीं ले जाते। परन्तु बिम्बविधान के ऐतिहासिक विकास में इन स्थूल संवेदनात्मक बिम्बों का भी अपना महत्त्व है। सूक्ष्म स्पर्शजन्य अनुभूतियाँ उस युग की रचनाओं में लगभग नहीं के बराबर हैं। वर्ण, नाद और गन्ध सम्बन्धी कल्पनाएँ अपेक्षाकृत अधिक हैं। क्रमशः इन तीनों प्रकार की कल्पनाओं के कुछ उदाहरण दिये जाते हैं।

१. वर्ण-कल्पना

अनुभूति के आकार को सजीव और स्वतःस्फूर्त बनाने के लिए कवि वर्णों की गतिशीलता, परिवर्तन और पारस्परिक मिश्रण की सूक्ष्म कलात्मक प्रक्रिया का माध्यम

ग्रहण करता है। इस से केवल सम्प्रेष्य वस्तु का आकार ही नहीं खड़ा होता, बल्कि उस से सम्बन्धित अनुभूति के सूक्ष्म स्तरों का भी बोध होता है। वस्तुतः वर्णकल्पना चित्रकार के कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत आती है। कवि उस का आश्रय ग्रहण कर के जाने-अनजाने चित्रकार की भूमिका में ही पहुँच जाता है। परन्तु चित्रकार जहाँ वास्तविक रंगों का प्रत्यक्ष उपयोग करता है, वहाँ कवि केवल अपनी स्मृतियों के आधार पर अनुकूल शब्दों के द्वारा उन की पुनर्रचना करता है। इसीलिए कवि की निर्माण-प्रक्रिया अधिक जटिल होती है। द्विवेदी-युगीन कवियों ने निर्माण-प्रक्रिया की इस जटिलता में जाने का प्रयास बहुत कम किया है। इसीलिए उन की वर्ण-कल्पनाएँ बहुत सीधी और इकहरी हैं। नीचे दिये हुए उदाहरणों से यह बात और स्पष्ट हो जायेगी—

१. अश्वेत, ऊदे, अरुणाभ बैंगनी
   हरे, अबीरी, सित, पीत, संदली,
   विचित्रवेशी बहु अन्य वर्ण के
   विहंग से थी लसिता वनस्थली।[१]
२. गोट जड़ाऊ घूँघट की
   बिजली जलदोपम पट की।[२]
३. कोसों तक पृथ्वी पर रहती सरसों छाई,
   देती दृग की पहुँच तलक पीतिमा दिखाई।[३]
४. ढरत दीप्त अंगार बिम्ब सम गिरितट दिनकर
   परसति आभा अरुण खेत औ खरियानन पर।[४]

ऊपर जो उदाहरण दिये गये हैं उन में क्रमशः पर्यवेक्षण-शक्ति और वर्णबोध की सूक्ष्मता बढ़ती गयी है। पहले में केवल रंगों की सूची दी गयी है, जिन का कोई समन्वित प्रभाव नहीं पड़ता। दूसरे में जलद और बिजली के संयोग से विरोधी वर्ण-चित्र उभरता अवश्य है, परन्तु अप्रस्तुत होने के कारण उस का प्रभाव भी सीमित हो जाता है। तीसरे में दृष्टि की सीमा तक छाये हुए पीले रंग के विस्तार का एक चित्र है। वर्ण-कल्पना की यह विस्तृत पटभूमि ही इस सीधे-सादे चित्र की शक्ति है। चौथे उदाहरण में अस्तंगत सूर्य के लिए अंगार-बिम्ब की उपमा एकदम अछूती है। इस से कवि की विकसित और सूक्ष्म वर्ण-चेतना का परिचय मिलता है। परन्तु इन सभी उदाहरणों में रंगों की गतिशीलता और सूक्ष्म सम्मिश्रण का अभाव है। रामचन्द्र शुक्ल इस युग के अकेले ऐसे कवि हैं जिन्होंने वर्णों की गहराई में जाने का प्रयास किया है। प्रातः

१. प्रियप्रवास; पृ० ८७.
२. साकेत; पृ० ७६.
३. बालमुकुन्द गुप्त : 'रूपाम्बरा'; पृ० ३१.
४. बुद्धचरित; पृ० १०२.

वेला में सूर्य की प्रथम आभा से ले कर पूर्ण प्रकाश तक की अवस्था के क्रमिक वर्ण-परिवर्तन का यह सूक्ष्म निरीक्षण देखिए :

प्राची आशा कहन लगत दिनराज अवाई,
पहले केवल धुन्ध-सरीखी परत लखाई।
किन्तु पुकारे अरुणचूड़ जो लौं पुर भीतर,
आभा निखरति शुभ्र रेख-सी शैल शीर्ष पर।
लागति परसन होति शुभ्रतर सो अब क्रम-क्रम
देखत-देखत होति स्वर्ण पीताभ धार सम।
अरुण नील औ पीत होत घनखण्ड मनोरम,
काहू पर चढ़ि जात सुनहरी गोट चमाचम।[१]

पहली अस्पष्ट धुन्ध-रेखा से स्वर्णपीताभ प्रकाश तक अर्थात् प्रत्यूषबेला से दिन की खिली हुई प्रसन्न धूप तक की क्रमिक वर्ण-स्थितियों का यह एक संश्लिष्ट चित्र है। परन्तु शुक्लजी की दृष्टि केवल स्थूल वर्ण-परिवर्तन की ओर ही नहीं गयी है। उन्होंने वर्णों के पारस्परिक अन्तरावलम्बन और मिश्रण की ओर भी ध्यान दिया है।

१. धुँधले दिगन्त में विलीन हरिदाभ रेखा
किसी दूर देश की सी झलक दिखाती है।[२]

२. भूरी हरी घास आसपास फूली सरसों है
पीली पीली बिन्दियों का चारों ओर है प्रसार।
कुछ दूर विरल सघन फिर और आगे
एक रंग मिला चला गया पीत पारावार।
गाढ़ी हरी श्यामता की तुंग-राशि-रेखा घनी
बाँधती है दक्षिण की ओर उसे घेरघार।
जोड़ती है जिसे खुले नीले नभ मण्डल में
धुँधली-सी नीली नगमाला उठी धुँआधार।[3]

३. कहीं-कहीं किंचित् हेमाभ हरे खेतों पर
रह-रह श्वेत मूक आभा लहराती है।[४]

परिचित वस्तुओं पर नये कल्पित वर्णों का आरोप इस युग के कवियों ने बहुत कम किया है। चन्द्रमा का श्वेत रंग प्रसिद्ध है। कवियों ने हल्दिया और केसरिया रंगों

---

१. बुद्ध चरित; पृ० १०३.
२. 'हृदय का मधुर भार' से.
३. वही.
४. वही.

में भी उसे देखने का प्रयास किया है। परन्तु श्रीधर पाठक की कल्पना इन सब से भिन्न और विलक्षण है :

> विजन वन-प्रान्त था, प्रकृति मुख शान्त था।
> अटन का समय था, रजनि का उदय था ।।
> प्रसव के काल की लालिमा में लसा
> बाल शशि व्योम की ओर था आ रहा।
> सद्य उत्फुल्ल अरविन्द-निभ नील सुवि-
> शाल नभ-वक्ष पर जा रहा था चढ़ा।[1]

यहाँ चन्द्रमा के लिए दो नये वर्ण-बिम्बों की कल्पना की गयी है—प्रसव के काल की लालिमा और सद्यः खिला हुआ अरविन्द, जिस का रंग लाल माना गया है। दोनों ही कल्पनाएँ नये हैं और पाठकजी की सूक्ष्म वर्ण-चेतना की परिचायक हैं। लाल और लाल में भी अन्तर होता है और उगते हुए चन्द्रमा तथा पूर्ण विकसित चन्द्रमा का रंग भी एक-सा नहीं होता। 'प्रसव के काल की लालिमा' में उस ताज़ा, तरल और फैलती हुई ललाई की ओर संकेत है जो केवल चन्द्रोदय के समय दिखाई देती है। 'सद्य उत्फुल्ल अरविन्द' कहने से एक ओर तो रंग की गाढ़ता का बोध होता है, दूसरी ओर कमल के खुलते हुए दलों की तरह आकाश में क्रमशः ज्योत्स्ना के फैलने का चित्र भी खड़ा होता है।

वर्णों के क्षेत्र में द्विवेदीयुगीन कविता का योगदान इतना ही है। नये अपरिचित वर्णों और पुराने सुपरिचित वर्णों के सूक्ष्म छाया-स्तरों की ओर कवियों की दृष्टि बहुत कम गयी। परन्तु श्रीधर पाठक और रामचन्द्र शुक्ल जैसे कुछ कवियों ने वर्णों की परम्परागत सूची के बाहर जाने का प्रयास भी किया। इन्हीं कवियों में इस युग की वर्ण-कल्पना की उपलब्धि देखी जा सकती है।

२. *गन्ध-कल्पना*

व्यापकता की दृष्टि से वर्ण के बाद गन्ध का स्थान दूसरा है। परन्तु संवेदना की तीव्रता और गहराई की दृष्टि से, काव्य में गन्ध का महत्त्व अधिक होता है। पहले का सम्बन्ध स्थूल दृश्यरूपों से है और दूसरे का सूक्ष्म घ्राणचेतना से। चूँकि सामान्य जीवन में अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा दृष्टि का प्रसार अधिक है। इसीलिए काव्य में भी वर्ण-जन्य अनुभूतियों का विस्तार अधिक देखा जाता है। गन्ध की ओर दृष्टि उन्हीं कवियों की जाती है जिन की ग्रहणशीलता तीव्र और संवेदना अत्यधिक कोमल होती है। द्विवेदी-युगीन कवियों के पास इस संवेदना का अभाव था। उन की कल्पना जीवन की स्थूल वास्तविकताओं का अतिक्रमण कर के प्रकृति और मानव-सौन्दर्य के सूक्ष्म रूपों

---

१. कविता-कौमुदी, दूसरा भाग; पृ० १२५.

की ओर बहुत कम जाती थी। आरम्भ में गन्ध के प्रति एक बड़ी स्वाभाविक-सी ललक थी, जो सामान्य अनुभव से बहुत भिन्न नहीं थी। जैसे इस वसन्त-वर्णन में—

१. पेड़ बुलाते हैं तुझ को टहनियाँ हिला के।
बड़े प्रेम से टेर रहे हैं हाथ उठा के॥
नीबू-नारंगी हैं अपनी महक उठाये।
सेब अनार हैं कलियों की दुरबीन लगाये॥[1]

२. उत्फुल्ल करौंदी-कुंज वायु बह-बह कर।
करती थी सब को पुलक-पूर्ण मह-महकर॥[2]

इस पंक्तियों में गन्ध-चेतना की सूक्ष्मता, चाहे न हो, पर एक बात ध्यान देने योग्य है। प्राचीन कविता में गन्ध के नाम पर कमल, चम्पा, जूही, शिरीष और आम्र-मंजरी का ही बार-बार उल्लेख मिलता है; दैनिक जीवन के परिचित पेड़-पौधों और फूलों का उल्लेख वहाँ बहुत कम मिलता है। इन कवियों ने पहली बार नागर पुष्पों की गन्ध-सीमा से बाहर जा कर नीबू, नारंगी और करौंदे की गन्धों में भी सौन्दर्य का आविष्कार किया। धीरे-धीरे गन्ध-चेतना की अभिव्यक्ति में भी अलंकृति आने लगी और प्राकृतिक दृश्यों से बाहर जाकर भी उसे अनुभव किया गया। जैसे—

देकर निज गुंजार-गन्ध मृदु मन्द पवन को।
चढ़ शिविका पर गयी माण्डवी राजभवन को॥[3]

'गुंजार-गन्ध' में एक प्रकार की मिश्रित गन्ध-संवेदना है, जिस में माण्डवी के आभूषणों की सूक्ष्म झंकार भी मिली हुई है। इसे हम गुप्तजी की गन्ध-संवेदना का क्रमिक विकास भी कह सकते हैं। परन्तु क्रमशः अलंकृति बढ़ती गयी और ऐन्द्रिय-बोध के स्तर में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। 'साकेत' के अन्तिम सर्ग के अन्तिम छन्द की यह पंक्ति देखिए :

स्वच्छतर अम्बर में छन कर आ रहा था
स्वादु-मधु-गन्ध से सुवासित समीर-सोम।

इस काल के अन्य कवियों में गन्ध-कल्पना का कोई महत्त्वपूर्ण विकास नहीं दिखाई देता। स्वच्छन्द अनुभूतियों के सहज कवि श्री रामनरेश त्रिपाठी की कृतियों में भी गन्ध की विविधता नहीं मिलती। 'पथिक' में वन्य दृश्यों का वर्णन करते हुए वनपुष्पों की सामूहिक गन्ध का उल्लेख एक स्थान पर किया गया है :

---

१. बालमुकुन्द गुप्त : कविता कौमुदी, भाग २; पृ० २०१.
२. साकेत; पृ० १७७.
३. वही; पृ० २९६.

नालों का संयोग, साँझ का समय, घना जंगल है।
ऊँचे-नीचे खोह, कगारे, निर्जन वीहड़ थल है॥
मधुर गन्ध की लहर छोड़ वन-पुष्प मोद उपजाते[१]

इसी प्रकार 'स्वप्न' में भी एक जगह 'बौरगन्ध से शिथिल पवन'[२] का उल्लेख आया है। परन्तु वहाँ वह गन्ध का ऐन्द्रिय चित्र न हो कर, प्राचीन उद्दीपन-विभाव का ही एक अंग है। तात्पर्य यह कि गन्ध-कल्पना के क्षेत्र में इस युग के कवियों ने परम्परागत रूढ़ियों और अनुभव के प्राथमिक स्तर से आगे बढ़ने का प्रयास नहीं किया।

३. नाद-कल्पना

अनुभव के स्तर पर वर्ण से सूक्ष्म गन्ध, और गन्ध से भी सूक्ष्म स्वर या ध्वनि है। ध्वनि अथवा नाद-कल्पना का उपयोग कविता में दो प्रकार से होता है। उस का एक प्रकार तो अलंकार-विधान के अन्तर्गत आता है, जिसे सामान्यतः 'अनुप्रास' कहते हैं। इसी का एक अधिक विकसित रूप पाश्चात्य काव्यशास्त्र का 'आँनामाटापोइया' या ध्वन्यर्थ व्यंजना है। उस का दूसरा रूप ध्वनि अथवा स्वर की ऐन्द्रिय कल्पना के रूप में पाया जाता है। श्रेष्ठ कवियों में नाद-कल्पना का यही रूप मिलता है। द्विवेदी-युगीन कवियों की नाद-कल्पना पहली कोटि में आती है। दूसरे प्रकार के उदाहरण बहुत विरल हैं। यहाँ दोनों प्रकार के कुछ उदाहरण दिये जाते हैं :

ध्वनिमयी करके गिरि-कन्दरा
कलित-कानन केलि निकुंज को।
बज उठी मुरली इस काल ही
तरणिजा तट-राजित कुंज में।
क्वणित मंजु-विषाण हुए कई
रणित श्रृंग हुए बहु साथ ही।[३]

अनुप्रास की छटा और ध्वनि के परम्परागत शब्द-संकेतों के अतिरिक्त इस उद्धरण में नाद-कल्पना का कोई अनुभूत और विलक्षण रूप सामने नहीं आता। इसी के साथ गुप्तजी की यह औदात्य व्यंजक अलंकारिक ध्वनि-कल्पना भी द्रष्टव्य है :

राजपुत्र भी कलाकुशल थे वे कृती,
धीर, धारणाधार, धुरन्धर, ध्रुवव्रती।[४]

पर जैसा कि ऊपर कहा गया है, नाद-व्यंजना का सर्वोत्तम रूप शाब्दिक ध्वनि-संकेतों में नहीं होता। कभी-कभी बिना किसी ध्वन्यर्थ व्यंजक शब्द की सहायता के ही

---

१. पथिक; पृ० ३६.
२. स्वप्न; पृ० ३.
३. प्रियप्रवास; पृ० २.
४. साकेत; पृ० १०८.

ध्वनि अथवा गूँज की सम्पूर्ण संवेदना को वाणी दे दी जाती है। 'साकेत' से एक अन्य उदाहरण यहाँ प्रस्तुत है :

बोले नृप 'राम नहीं लौटे ?'
गूँजा सब धाम 'नहीं लौटे'।[1]

'नहीं लौटे' इस पद की आवृत्ति से सम्पूर्ण वातावरण की प्रतिध्वनि का एक प्रभाव-चित्र यहाँ प्रस्तुत किया गया है। कभी-कभी संगीत के पारिभाषिक संकेतों से भी किसी विशेष अनुभूति को मूर्त रूप देने में सहायता मिलती है। वहाँ यद्यपि नाद-व्यंजना की सृष्टि करना कवि का उद्देश्य नहीं होता। परन्तु उस अनुमति की प्रेषणीयता में नाद-कल्पना का भी सूक्ष्म योग होता है। जैसे युद्ध के लिए प्रस्थान करने से पूर्व शत्रुघ्न की मानसिक व्याकुलता और उत्साह के मिले-जुले भावों का यह चित्र :

चढ़ दो-दो सोपान राज-तोरण पर आया,
वृषभ लाँघ कर माल्यकोश ज्यों स्वर पर छाया॥[2]

नाद-कल्पना का अर्थ जानी-पहचानी ध्वनियों की शाब्दिक अनुकृति मात्र नहीं है। श्रेष्ठ ध्वनि-चित्र वहाँ होता है, जहाँ वह काव्यगत अनुभूति की किसी विशेष स्थिति, भावदशा या क्रिया-व्यापार की अभिव्यक्ति करता है। श्रीधर पाठक की 'सान्ध्य अटन' शीर्षक कविता में इस प्रकार की क्रियाविधायक ध्वनि-कल्पना का एक अत्यन्त कलात्मक चित्र उपस्थित किया गया है :

बस, उसी वृक्ष के सीस की ओर कुछ
खड़खडा कर एक शब्द-सा सुन पड़ा,
साथ ही पंख की फड़फड़ाहट, तथा
शत्रु निःशंक की कड़कड़ाहट, तथा
पक्षियों में पड़ी हड़बड़ाहट, तथा
कण्ठ और चोंच की चड़चड़ाहट, तथा
आर्तियुत कातर-स्वर, तथा शीघ्रतायुत उड़ाहट-भरा
दृश्य इस दिव्य-छवि-लुब्ध दृग्-युग्म को
घृणित अति दिख पड़ा।[3]

सान्ध्यवेला में 'शत्रु निःशंक की कड़कड़ाहट' को सुन कर जीवन-रक्षा के लिए अनेक दिशाओं में भागते हुए पक्षियों का यह गतिचित्र है। कवि ने न तो पक्षियों का नाम गिनाया है न ही उन का बाह्य चित्र देने का प्रयास किया है। उस ने केवल क्रियाओं की सूचना दे कर, एक अलस प्रवाह के साथ 'तथा' की आवृत्ति के द्वारा उस

१. साकेत; पृ० १२१.
२. वही; पृ० ३०३.
३. सान्ध्य-अटन.

व्याकुल वातावरण का एक प्रभाव-चित्र उपस्थित कर दिया है। विशेषता इस बात में है कि कवि यहाँ फड़फड़ाहट, कड़कड़ाहट और हड़बड़ाहट आदि ध्वनि-संकेतों के द्वारा दोहरे उद्देश्य की पूर्ति करना चाहता है। इन शब्दों में ध्वनिबिम्ब (ऑडीटरी इमेज) और गति-बिम्ब (मोटर इमेज)[1] दोनों को एक साथ सम्प्रेषित करने की अद्भुत क्षमता है। द्विवेदीयुगीन नादकल्पना का सर्वोत्तम उदाहरण इसी प्रकार की कविताओं में उपलब्ध होता है। परन्तु ऐसी कविताओं की संख्या बहुत कम है। इन कुछ थोड़े से उदाहरणों से इस बात का पता चलता है कि द्विवेदीयुग के कुछ कवि परम्परागत अलंकार-विधान की पद्धति से हट कर, प्रत्यक्ष ऐन्द्रिय अनुभवों पर आधारित, स्वच्छन्द बिम्बविधान की दिशा में बढ़ने का प्रयास कर रहे थे।

बिम्बविधान की नयी दिशा

इतिवृत्तात्मक प्रवृत्ति की प्रमुखता और सीमित सौन्दर्यदृष्टि के कारण, यद्यपि इस युग में प्रकृति और जीवन के अनुद्घाटित बिम्बों की ओर कवियों की दृष्टि कम गयी, परन्तु अपनी ऐतिहासिक सीमा के भीतर कुछ कवियों ने पुराने अलंकार-विधान की व्यवस्था में परिवर्तन का आभास दिया और कुछ ने और आगे बढ़ कर नये बिम्बों की खोज का प्रयास भी किया। हिन्दी कविता में आधुनिक बिम्बविधान के विकास की वह आरम्भिक अवस्था थी। ऊपर श्रीधर पाठक की कविताओं से कुछ उदाहरण दिये गये हैं जिन में रूपविन्यास की नयी पद्धति का स्पष्ट आभास है। अन्य कवियों में रामचन्द्र शुक्ल, रामनरेश त्रिपाठी और सियारामशरण गुप्त की रचनाओं में भी इस प्रकार का आभास ढूँढ़ा जा सकता है। इस युग की उपलब्धियों और सीमाओं के सर्वोत्तम प्रतिनिधि मैथिलीशरण गुप्त की कृतियों में नूतन और प्राचीन कलाचेतना का यह द्वन्द्व और स्पष्ट रूप में उभर कर व्यक्त हुआ है। अपनी मर्यादावादी प्रवृत्ति के अनुसार उन्होंने परम्परागत अलंकारों का सर्वथा त्याग नहीं किया। बल्कि उन्हीं रूढ़िगत सीमाओं के भीतर रहते हुए स्वतन्त्र कल्पनाओं के अनुरूप काव्य के बाह्य ढाँचे में थोड़ा-बहुत परिवर्तन करने का प्रयास किया। इस रूढ़िबद्ध कल्पना का सर्वोत्तम उदाहरण 'साकेत' के नवम सर्ग में पाया जाता है—जैसे व्यतिरेकमूलक यह छन्द :

> सखि गोमुखी गंगा रहे,कुररीमुखी करुणा यहाँ,
> गंगा जहाँ से आ रही है, जा रही करुणा वहाँ।[2]

यद्यपि यहाँ अलंकार-विधान का प्रयास अत्यन्त स्पष्ट है। पर करुणा के लिए 'कुररीमुखी' विशेषण एकदम नया है। करुणा जैसे सूक्ष्म मनोभाव को भी इस विशेषण ने इन्द्रियग्राह्य मूर्तिमत्ता दे दी है। कविसमय के अनुसार कुररी, एक ऐसा पक्षी है जो निरन्तर ऊपर शून्य आकाश की ओर देखता हुआ विलाप किया करता है। अतः 'कुररी-

---

१. Motor image.

२. साकेत; पृ० २१८.

मुखी करुणा' का अर्थ हुआ कुररी पक्षी की भाँति शून्य आकाश की ओर देखनेवाली करुणा। इस से एक ओर तो करुणा की तीव्रता का बोध होता है, दूसरी ओर उस के मूर्त मानवीय स्वरूप का। इस एक विशेषण ने सामान्य करुणा की भावना को विशिष्ट वैयक्तिक अनुभूति का रूप दे दिया है। गुप्तजी की कृतियों से इस प्रकार की और भी पंक्तियाँ ढूँढ़ कर निकाली जा सकती हैं जिन में प्राचीन रूढ़ियों को नये सन्दर्भों के अनुसार परिवर्तित और रूपान्तरित करने का प्रयास किया गया है। जहाँ कवि की कल्पना के ऊपर इन रूढ़ियों का दबाव कम हो गया है वहाँ वह प्रत्यक्ष और स्वाभाविक बिम्बविधान की दिशा में बढ़ता हुआ दिखाई देता है :

चारु चन्द्र की चंचल किरणें
खेल रही हैं जल-थल में,
स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई है
अवनि और अम्बर-तल में।
पुलक प्रकट करती है धरती
हरित तृणों की नोकों से,
मानो झीम रहे हैं तरु भी
मन्द पवन के झोंकों से[1]।

यदि इस कविता में बिम्ब का स्पष्ट निर्देश करना हो तो रेखांकित पंक्तियों के अन्तर्गत ही उसे ढूँढ़ना होगा। कवि ने यहाँ चाँदनी की अनुभूति को मूर्त्त रूप देने के लिए तृणों पर 'पुलक' और पेड़ों पर 'झींमना' या 'झूमना' क्रिया का आरोप किया है। इसे अचेतन पर चेतन का आरोप भी कह सकते हैं। परन्तु इन वस्तुओं पर अपनी अनुभूतिजन्य कल्पना का आरोप, छायावादी कवियों की तरह वह पूरे विश्वस्त भाव से नहीं कर पाता। 'हवा में पेड़ झूम रहे हैं' और 'हवा में मानो पेड़ झूम रहे हैं—ये दोनों कथन यद्यपि एक ही अर्थ की व्यंजना करते हैं, पर दोनों की अनुभूति की तीव्रता में अन्तर है। पहले में पेड़ों का झूमना एक अत्यन्त स्वाभाविक भ्रम है। जिस में काव्यात्मक अभिव्यक्ति की पूरी क्षमता है, और दूसरे में 'मानो' शब्द ने एक भावात्मक द्विधा की स्थिति उत्पन्न कर दी है, जिस से वह काव्यात्मक भ्रम (पोएटिक इल्यूजन) खण्डित-सा हो जाता है। इस दृष्टि से इस पंक्ति को अलंकार-विधान के अन्तर्गत ही रखना होगा। परन्तु कल्पना की नवीनता और ऐन्द्रिय आरोप के कारण यह चित्र आधुनिक बिम्बविधान के अधिक निकट है। रूपविन्यास की यह संक्रान्तिकालीन स्थिति अन्य कवियों की रचनाओं में भी देखी जा सकती है। रामनरेश त्रिपाठी का यह चाँदनी-वर्णन देखिए :

---

१. पंचवटी.

फैल गयी भू पर चाँदी-सी चाँदनी,
छायी है सर्वत्र धवल शोभा घनी।
क्या वह उछला गेंद मनोज्ञ प्रकाश का।[1]
या भूषण है विमल नील आकाश का ?

परम्परागत उपमानों से हट कर यहाँ कवि ने चाँद के लिए एक नया बिम्ब प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। पर उस के मन पर प्राचीन अलंकार-विधान का इतना गहरा प्रभाव है कि वह इन नूतन कल्पनात्मक सृष्टि के बाद भी सन्देहालंकार का मोह नहीं छोड़ पाता, और उसे विवश होकर विमल नीले आकाश के भूषण की सन्देह-मूलक कल्पना करनी पड़ती है। जहाँ वह इस मोह से मुक्ति पा सका है वहाँ भावों के सहज ऐन्द्रिय चित्र देने में भी समर्थ हुआ है :

मिलते कहीं न, तब ले-ले कर प्रियतम नाम तुम्हारा
प्रतिध्वनित करती गिरि, पथ, सर, निर्झर, नदी-किनारा।

अन्तर में गूँजते हुए प्रिय के नाम की यह बाह्य प्रतिध्वनि कल्पना के आरोप से ही सम्भव हुई है। इस सीधे-सादे स्मृतिमूलक नाद-बिम्ब के द्वारा कवि ने नायिका की तत्कालीन मनःस्थिति की सम्पूर्ण तीव्रता सम्प्रेषित कर दी है। इसी प्रकार के ऐन्द्रिय बिम्बों के द्वारा भावी बिम्ब-विधान की शैली की पूर्वपीठिका तैयार की जा रही थी। इस युग में इस रचनात्मक पद्धति का लोकप्रिय होना असम्भव था। न तो खड़ी-बोली ही अभी इतनी परिमार्जित हो पायी थी, न आधुनिक प्रवृत्तियों का पूरा प्रसार ही हो सका था। मध्ययुगीन काव्यरुचि का प्रभुत्व साहित्य पर अब भी छाया हुआ था। कवि की सामाजिक स्थिति भी अभी ऐसी नहीं हो पायी थी कि वह अपनी कल्पना का स्वतन्त्र रूप से विकास कर सके। जीवन के सुकुमार पक्षों को उद्घाटित करनेवाली अन्तर्दृष्टि अभी बाहर की कठोर वास्तविकताओं से उलझी हुई थी। विषयवस्तु की सीमाओं में विस्तार अवश्य हुआ था, पर मानवीय अनुभूति के गहन और जटिल स्तर अब भी अछूते थे। पुनरुत्थानवादी प्रवृत्तियों का इतना ज़ोर था कि पश्चिम को नयी साहित्यिक मान्यताओं का प्रभाव भी उस काल के कवियों पर बहुत कम पड़ा। बंगाल में यह प्रवृत्ति उतनी प्रबल नहीं थी। इसलिए वहाँ की कविता पर पश्चिम के रोमैण्टिक कवियों का सीधा प्रभाव पड़ा। फलतः वहाँ नयी अभिव्यंजना शैली और लाक्षणिक मूर्तिमत्ता के दर्शन सब से पहले हुए। हिन्दी कविता की स्थिति उस से सर्वथा भिन्न थी। उस के सामने सब से बड़ा प्रश्न नयी काव्यभाषा के निर्माण का था। भाषा की समृद्धि के बिना नयी काव्य-संवेदना और प्रखर कल्पनाशीलता का विकास असम्भव था। इसी-लिए उस काल को कविता में जहाँ कहीं नयी अभिव्यंजना शैली और आधुनिक बिम्ब

१. सरस्वती, १९१८, भाग १९; पृ० १४६.
२. पथिक; पृ० १२.

विधान की पद्धति को अपनाने का प्रयास किया गया है, वहाँ भी सृष्टि-विधायिनी कल्पना का स्वरूप बहुत संयमित और आवेगशून्य है। सूक्ष्म अनुभूतियों के कवि सियारामशरण गुप्त की तत्कालीन कविताओं मे इस प्रकार के उदाहरण मिल सकते हैं। समुद्र-तट का यह चित्र देखिए :

किन्तु जहाँ पारावार
फैला हुआ अगम अपार
अन्तहीन है,
हाहाकार—
होता नहीं जिस का विलीन है,
लहरें विलोल-लोल हार कर
सुधि-सी विसार कर
मुँह से गिराती हुई फेन-पुंज, भ्रान्त-क्लान्त
आके अजाने किसी दूर देश से अशान्त
गिरती धड़ाम से हैं तट पर,
किन्तु शीघ्र उठ कर
लौट वहाँ जाती हैं उसी प्रकार
अन्य लहरों के लिए कूल का विरामागार
खाली कर जाती हैं,
और फिर दृष्टि नहीं आती हैं।[१]

इस कविता का रूप-विन्यास बिलकुल नया है। लहरों के उत्थान-की लय पर ही छन्द का प्रवाह उठता-गिरता हुआ-सा आगे बढ़ता है। अन्तहीन हाहाकार और अजाने दूर देश से आने वाली लहरों के बीच, कवि की दृष्टि समुद्र तट के उस शून्य 'विरामागार' पर जा कर टिकती है जहाँ प्रत्येक लहर क्षण-भर के लिए आ कर ठहरती और विलीन हो जाती है। कविता के इस अंश का केन्द्रीय बिम्ब वह क्षणिक 'विरामागार' ही है जिस की शून्यता को व्यक्त करने के लिए कवि ने 'हाहाकार' और 'फेन-पुंज' जैसे विरोधी बिम्बों (कॅण्ट्रास्टिंग इमेजेज़) की सृष्टि की है।

ऊपर जो छन्द उद्धृत किया गया है वह द्विवेदीयुग के उस चरण का प्रतिनिधित्व करता है जब उस के विरुद्ध छायावाद की भावात्मक प्रतिक्रिया आरम्भ हो गयी थी। गुप्तजी के 'झंकार' और रामनरेश त्रिपाठी के 'स्वप्न' नामक संग्रह में भी परिवर्तन की यह प्रक्रिया देखी जा सकती है। इस नये प्रभाव के फलस्वरूप कवियों की दृष्टि बिम्बधर्मी विशेषणों की ओर भी गयी। 'कुररीमुखी करुणा' (साकेत, २१८); 'तमनिमज्जितआहट' (प्रि० प्र०, १८); 'नीरव दया' (साकेत, १९८); 'नीरव

---

१. कविता-कौमुदी. दूसरा भाग; पृ० ५५२.

विद्युल्लता' (साकेत, ३०२); 'क्षमाछाया' (साकेत, ६२); 'गूँगा प्रकाश' (साकेत, ३०८); 'मूक आभा' (रा० च० शुक्ल); 'हृदय का मधुर भार' और 'शिथिल पवन' (स्वप्न, ३)—जैसे लाक्षणिक विशेषण इसी प्रभाव के परिणाम थे। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि सन् १९१८ के आसपास तक आते-आते स्वयं द्विवेदीयुग के कवियों की सौन्दर्य-दृष्टि में भी गहराई आने लगी थी और धीरे-धीरे वे एक नयी काव्य-प्रवृत्ति की ओर झुकने लगे थे। जहाँ तक उपलब्धि का प्रश्न है, द्विवेदी-युगीन कविता ने हिन्दी-काव्य के बिम्बकोश में कोई विशेष वृद्धि नहीं की। परन्तु उस के पूर्ववर्ती भारतेन्दु-युग के समानान्तर रख कर देखा जाये तो उस युग का ऐतिहासिक महत्त्व स्पष्ट हो जायेगा। संक्षेप में, इस युग के काव्यगत रूप-विधान की तीन विशिष्टताएँ मानी जा सकती हैं : सौन्दर्यदृष्टि का विस्तार, नये अप्रस्तुतों की सृष्टि और आधुनिक काव्यभाषा का निर्माण। उन की भावना सच्ची और खरी थी और उन के पास एक स्वस्थ सामाजिक दृष्टि भी थी। उन की सब से बड़ी सीमा यह थी कि उन के पास वह आधुनिकता का बोध (सेन्स ऑव मॉर्डनिटी) नहीं था जो किसी वस्तु को यथार्थ के व्यापक परिदृश्य में रख कर देखता है। फलतः उन की संवेदना का पूर्ण विकास न हो सका और काव्य की सामान्य भावना कवि की वैयक्तिक अनुभूति का अविच्छेद्य अंग न बन सकी। इस का प्रभाव कविता के रूप विधान पर भी पड़ा। उस का बाह्य आकार तो पुष्ट हो गया परन्तु शुक्लजी के शब्दों में कहें तो—उस के भीतर कल्पना और संवेदना का पूर्ण योग न हो सका।[१] उस युग की कविता में बिम्बों के अभाव का यह प्रमुख कारण है। परन्तु फिर भी काव्य-भाषा का परिष्कार और नयी अप्रस्तुत योजना का प्रवर्तन कर के द्विवेदी-युगीन कवियों ने छायावादी बिम्बों के लिए उपयुक्त पृष्ठभूमि तैयार करने में बहुत बड़ा योग दिया। उन के कृतित्व का उचित मूल्यांकन इसी परिदृश्य में किया जा सकता है।

●

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास; पृ० ६५०.

अध्याय : ५

छायावादी बिम्बविधान

छायावाद : उद्‌भव और विकास

प्रथम महायुद्ध के उपरान्त विश्व-साहित्य में परम्परागत मूल्यों में जो परिवर्तन आया उस का अप्रत्यक्ष प्रभाव तत्कालीन हिन्दी कविता पर भी पड़ा। कवियों में राष्ट्रीय चेतना का विकास तो पहले ही हो चुका था, अब धीरे-धीरे एक अन्तर्राष्ट्रीय चेतना भी पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से फैलने लगी। इस नव-जागरण के मूल में तो राजनीतिक चेतना ही थी, पर आगे चल कर वह एक देशव्यापी सांस्कृतिक आन्दोलन के रूप में परिवर्तित हो गया। यह आकस्मिक नहीं है कि हिन्दी-कविता में 'छायावाद' और भारतीय राजनीति के रंगमंच पर महात्मा गान्धी का आगमन लगभग एक ही साथ हुआ था। महात्मा गान्धी के राजनीतिक दर्शन की विशेषता यह थी कि वह कोरा बौद्धिक सिद्धान्त न होकर एक ऐसी क्रियात्मक विचारधारा के रूप में था जिस के साथ भावना का भी योग था। यही कारण था कि साहित्य पर उस का सीधा प्रभाव पड़ा। तात्पर्य यह कि साहित्य और राजनीति दोनों, इतिहास की एक ही मूलवर्तिनी शक्ति से परिचालित हो रहे थे। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में कहें तो जिन परिस्थितियों ने हमारे दर्शन और कर्म को अहिंसा की ओर प्रेरित किया, उन्हींने भाव (सौन्दर्य) वृत्ति को छायावाद की ओर।[१] पर इन दोनों के पीछे इतिहास की एक लम्बी परम्परा थी, जिस पर संक्षेप में विचार कर लेना उचित होगा।

लोकमान्य तिलक के नेतृत्व काल में कांग्रेस की शक्ति बढ़ी थी। मध्य वर्ग के बुद्धिजीवियों ने नयी दृष्टि से सोचना भी आरम्भ कर दिया था। परन्तु भारतीय जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग अशिक्षित था। उस के लिए केवल राजनीतिक नारा ही काफ़ी नहीं था। उसे एक ऐसे आदर्शवादी दृष्टिकोण की आवश्यकता थी जिस में परम्परा के गतिशील तत्त्वों का समावेश भी हो और लोक-जागरण की भावना का मूलमन्त्र भी। सन् १९१४ के बाद अँगरेजों की नीति में बहुत तीव्र गति से परिवर्तन हुए। बैंक-पूँजी द्वारा शोषण की नीति तो पहले से ही निर्धारित हो चुकी थी, अब उस नीति को एक सुदृढ़ आर्थिक आधार देने की आवश्यकता थी। फलस्वरूप छोटे-मोटे

---

१. आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ; पृ० ६.

उद्योग-धन्धों का विकास आरम्भ हुआ। बड़े औद्योगिक प्रतिष्ठानों की ओर ध्यान नहीं दिया गया। सन् १९१८ के मॉण्टेग्यू-चेम्सफ़र्ड-रिपोर्ट में यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया कि हिन्दुस्तान के प्राकृतिक साधनों का विकास करना एक सैनिक आवश्यकता बन गया है।[१] यह नीति आकस्मिक नहीं थी। इस के पीछे दो कारण थे। एक तो अन्य युरॅपीय देशों का भारतीय बाजारों में प्रवेश और दूसरा विगत युद्ध के बाद विश्व की बदली हुई परिस्थितियाँ। इन दोनों ही से विवश होकर उन्हें भारत के उभरते हुए पूँजीपति-वर्ग को प्रोत्साहन देना पड़ा। इस की पृष्ठभूमि में अँगरेज़ों की एक साम्राज्य-वादी चाल भी थी जिस का स्वरूप आगे चल कर स्पष्ट हुआ। अभी तक राष्ट्रीय आन्दोलन का सूत्र-संचालन उच्चवर्ग और मध्यवर्ग के विकसित बुद्धिजीवियों के द्वारा हो रहा था। निम्न-मध्यवर्गीय तत्त्वों का प्रवेश तो उस में हो गया था, परन्तु उन का स्वर अभी बहुत धीमा था। अब अँगरेज़ों की बदली हुई नीति के कारण राष्ट्रीय आन्दोलन के इन दोनों तत्त्वों का भेद स्पष्ट होने लगा और क्रमशः वह स्पष्टतर होता गया। इसी के फलस्वरूप सन् १९२३ में स्वराज पार्टी का जन्म हुआ जिस की नीति समझौतावादी थी। परन्तु इस दल को जनता का व्यापक समर्थन न मिल सका। परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रीय आन्दोलन का दूसरा पक्ष प्रबल होता गया। गान्धीजी पहले नेता थे जिन्होंने इतिहास की इस बढ़ती हुई शक्ति को पहचाना और उस की दिशा निश्चित की। समझौतावादी दल को धारा-सभा में अबाध प्रवेश मिला और उस ने पूँजीवाद के विकासमान तत्त्वों का साथ देना आरम्भ कर दिया। इस से एक दूसरी महत्त्वपूर्ण घटना हुई जिस ने भारतीय समाज-व्यवस्था को बहुत अंशों तक प्रभावित किया। वह थी उद्योगप्रधान पूँजीवादी वर्ग का उदय और फलस्वरूप मध्य युग की अवशिष्ट सामन्ती परम्परा का विघटन। परन्तु सरकार ने दोहरी नीति से काम लिया। अपने आर्थिक नियन्त्रण को बनाये रखने के लिए उस ने स्वतन्त्र औद्यौगिक प्रतिष्ठानों को उसी अंश तक प्रोत्साहन दिया जिस अंश तक उन के साम्राज्यवादी स्वार्थ सुरक्षित रह सकते थे। इस का प्रभाव यह पड़ा कि न तो पूँजीवाद का ही पूर्ण विकास हो सका न प्राचीन सामन्ती व्यवस्था ही समाप्त हुई। धीरे-धीरे अँगरेज़ों की नीति के प्रति जनता के मन में सन्देह उत्पन्न होने लगा। गान्धीजी ने सन्देह के इस मूल बीज को पहचाना और उसे एक रचनात्मक रूप देने का प्रयास किया। फलतः अहिंसामूलक सत्याग्रह की भावना का विकास हुआ। जनता के मन में यह विश्वास पक्का हो गया कि अँगरेज़ों से स्वाधीनता प्राप्त करने का एकमात्र रास्ता यही है। अहिंसा की प्रमुखता के कारण भारतीय जनमानस के भीतर एक आत्मिक शक्ति का विकास हुआ जिस की वृत्ति अन्तर्मुखी थी। बाह्य शक्तियों से लड़ने के लिए यह अन्तर्मुखी विद्रोह की भावना, मानव इतिहास के विकास में एक अभूतपूर्व घटना थी।

---

१. मॉण्टेग्यू-चेम्सफ़र्ड-रिपोर्ट, १९१८.

यदि छायावाद के विकास को राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास के समानान्तर रख कर देखा जाये तो उस की बहुत-सी गुत्थियाँ सुलझ सकती हैं। ऊपर की व्याख्या से यह स्पष्ट है कि छायावादी काव्य जो क्रमशः अन्तर्मुख और सूक्ष्म होता गया उस का कारण केवल इतना ही नहीं था कि वह द्विवेदीयुग की बहिर्मुखी प्रवृत्ति के विरुद्ध एक भावात्मक प्रतिक्रिया के रूप में आया था। शुक्लजी का यह मत केवल आंशिक रूप से ही सत्य हो सकता है। यदि बाह्य यथार्थ के विकास और परिवर्तन के साथ साहित्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है तो कोई भी नयी साहित्यिक प्रवृत्ति केवल अपने पूर्ववर्ती साहित्य की प्रतिक्रिया नहीं हो सकती। अतः छायावाद की सूक्ष्मता और अन्तर्मुखी प्रवृत्ति का सम्बन्ध एक ओर तो उन ऐतिहासिक परिस्थितियों से है जिन्होंने उसी के समानान्तर राजनीति के क्षेत्र में अहिंसा और सत्याग्रह जैसे आदर्शमूलक सिद्धान्तों की स्थापना की थी, दूसरी ओर अपने ठीक पूर्ववर्ती साहित्य की बहिर्मुखी प्रवृत्तियों से। ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि छायावाद को स्वच्छन्दतावाद की उस धारा से सर्वथा अलग कर के देखना ठीक नहीं जिस का आरम्भ ठाकुर जगमोहन सिंह की रचनाओं से हुआ था और जो श्रीधर पाठक, रामचन्द्र शुक्ल और रामनरेश त्रिपाठी की कृतियों द्वारा विकसित और संवर्द्धित हुआ। यह अवश्य कहा जा सकता है कि सन् १९१८ के आसपास जिस नयी काव्य प्रवृत्ति का जन्म हुआ उस के रूप-विन्यास में ऐसी नवीनता थी जो उस से पूर्व के काव्य में नहीं देखी गयी थी। साथ ही, कविता के क्षेत्र में एक ओर नयी वस्तु का प्रवेश हुआ जिसे कल्पनात्मक वृत्ति या, आचार्य शुक्ल के शब्दों में 'चित्रभाषा-पद्धति' कह सकते हैं। पुराने काव्य-प्रेमियों को ये दोनों ही बातें बहुत विलक्षण प्रतीत हुई। १९२१ की 'सरस्वती' में सुशीलकुमार नामक एक सज्जन ने छायावाद की आरम्भिक प्रवृत्तियों की टीका करते हुए अपने विचार इन शब्दों में व्यक्त किये थे :

> 'हिन्दी में छायावाद के एक आचार्य ने कहा था कि छायावाद का प्रधान गुण है अस्पष्टता। भाव इतने अस्पष्ट हो जायें कि वे कल्पना के अनन्त गर्भ में विलीन हो जायें। भाषा कर्णश्रुत न होकर, हृदयगम्य हो, इन्द्रिय-गोचर न होकर आत्मा से ग्राह्य हो।'[१]

स्पष्ट ही इस आलोचना में लेखक की दृष्टि छायावाद की वस्तुगत नवीनता पर न होकर उस के रूप-विन्यास की नवीनता पर अधिक है। उक्त टिप्पणी में छायावाद के जिस आचार्य की ओर संकेत किया गया है वे हैं श्री मुकुटधर पाण्डेय जिन्हें छायावादी कविता का प्रथम प्रवक्ता कहा जा सकता है। एक सफल कवि होने के साथ-साथ उन्होंने आरम्भिक दिनों में छायावाद की मूलभूत विशेषताओं को समझने और समझाने का महत्त्वपूर्ण प्रयास किया। उन का मत कुछ भिन्न ही था। वे छायावाद को कोई सर्वथा नयी काव्य-प्रवृत्ति मानने के पक्ष में नहीं थे। उनकी स्थापना इस प्रकार है :

१. 'सरस्वती', १९२१, भाग २२; पृ० ३८६.

"वस्तुगत सौन्दर्य और उस के अन्तर्निहित रहस्य की प्रेरणाएँ ही कविता की जड़ हैं। यहीं कविता का अव्यक्त से सर्वप्रथम मिलन होता है जो कभी विच्छिन्न नहीं होता। इस रहस्यपूर्ण सौन्दर्य-दर्शन से हमारे हृदय-सागर में जो भाव-तरंगें उठती हैं, वे प्रायः कल्पनारूपी वायु के वेग से ही ज्ञात होती हैं। क्योंकि यथार्थ की साहाय्य-प्राप्ति इस समय उन्हें असम्भव हो जाती है। यही कारण है कि कवितागत भाव प्रायः अस्पष्टता लिये होते हैं। इसी अस्पष्टता का दूसरा नाम 'छायावाद' (मिस्टिसिज्म) है। जो लोग छायावाद को एक नयी वस्तु समझते हैं वे भूलते हैं। यथार्थ में वह कविता के साथ ही उत्पन्न होती है।[1]"

उपर्युक्त दोनों उद्धरण छायावाद के दो पक्षों का उद्घाटन करते हैं। पहले में उस की अभिव्यंजना-पद्धति की विलक्षणता का लक्ष्य किया गया है, दूसरे में उस के वस्तु-पक्ष और उस को रूपायित करने वाली कला-दृष्टि की विवेचना की गयी है। छायावादी-तत्त्व को काव्य का चिरन्तन तत्त्व मानना तो मुकुटधरजी का उस के प्रति विशेष मोह ही कहा जा सकता है। परन्तु रहस्यपूर्ण सौन्दर्य-दर्शन सम्बन्धी उन की व्याख्या आज भी प्रामाणिक जान पड़ती है। पर इस से भी महत्त्वपूर्ण उन की खोज छायावाद की मूल सृजनात्मक शक्ति के सम्बन्ध में है जिस की स्थिति उन्होंने 'कल्पनारूपी वायु के वेग' में स्वीकार की है। वस्तुतः यह कह कर उन्होंने छायावाद की केन्द्रीय शक्ति की ओर संकेत किया है। उस के अन्तर बाह्य दोनों ही कल्पना के महीन सूत्रों से ग्रथित हुए थे। यहाँ तक कि छायावादी कवि को वेदना की अनुभूति भी कल्पना के माध्यम से ही होती थी।[2] प्रश्न यह है कि उस युग का कवि कल्पना की सृष्टि-विधायिनी सत्ता के प्रति सहसा सजग क्यों हो उठा? इस का उत्तर कई प्रकार से दिया जा सकता है। परन्तु मूलभूत तथ्य यह है कि पूँजीवाद के आगमन के साथ व्यक्ति की सामाजिक स्थिति में भी परिवर्तन आ गया था। वह आत्मसजग हो उठा और साथ ही अपने आसपास के वस्तुजगत् के प्रति भी उस के मन में कुछ मौलिक जिज्ञासाएँ उठने लगीं। उस ने अनुभव किया कि वह अपने परिवेश से सन्तुष्ट नहीं है। इस असन्तोष की भावना ने एक ओर विद्रोह की चेतना को जन्म दिया और दूसरी ओर स्वप्न, कल्पना और आत्मरति को। पंत की कविता में इन सब के उदाहरण एक साथ उपलब्ध हो सकते हैं। छायावादी कवि सौन्दर्य-प्रेमी था। कुछ आलोचकों ने इस सौन्दर्य प्रेम की प्रवृत्ति को उस का व्यावर्तक गुण माना है, जो उसे अन्य काव्य-प्रवृत्तियों से अलग

---

१. 'सरस्वती', १९२१, भाग २२; पृ० ३३७–३३८.

२. कल्पना में है कसकती वेदना
अश्रु में जीता, सिसकता गान है।
पन्त : पल्लव; पृ० ६५.

करता है।[1] परन्तु इस सौन्दर्य चेतना के विपरीत उसके सम्मुख यथार्थ जीवन का जो अनगढ़ चित्र था उस में विषाद का रंग बहुत गहरा था। भौतिक विकास की सम्भावनाओं के द्वार पर विदेशी सत्ता की चट्टान रखी हुई थी। छायावादी कवि को इस पत्थर को तोड़ने वाली भुजाओं के दर्शन बहुत बाद में हुए—प्रायः १९३६ के आस पास। अपने आरम्भिक काल में उस ने मानसिक क्षति-पूर्ति का एक सरल मार्ग निकाल लिया था। उस ने प्रत्यक्ष यथार्थ पर अपने मन के सौन्दर्य का आरोप किया और इस प्रकार उसे अपने स्वप्नों के अनुकूल बनाने का प्रयास किया। इस प्रयत्न को यथार्थ के प्रति उन की मौलिक देन मान कर ही हम उस के साथ न्याय कर सकते हैं। छायावादी कवि कला की चमत्कारिक सत्ता के प्रति अत्यधिक जागरूक था। उस के लिए यह असम्भव था कि वह बाह्य यथार्थ को अनगढ़ और अपरिष्कृत रूप में अपनी कविता में उतार दे। परिणामतः अपनी भावना के अनुरूप उस ने युग की वास्तविकता को कुछ इस प्रकार से रूपायित किया कि पाठक की परिचित दृष्टि उस से चमत्कृत हो गयी। व्यवहार मे भी प्रायः ऐसा होता है। यदि कोई वस्तु असुन्दर है तो एक सुरुचि-सम्पन्न व्यक्ति उसे झाड़-पोंछ कर अपेक्षाकृत आकर्षक रूप में दूसरों के सामने प्रस्तुत करने का प्रयास करेगा। छायावाद ने उसी सुरुचिपूर्ण और कल्पनाप्रधान दृष्टि से अपने आस-पास की दुनिया को देखने का प्रयास किया। उस की सुरुचि इतनी कोमल और संवेदनशीलता इतनी तीव्र थी कि बाह्य यथार्थ का हलके से हलका आघात भी उस की कल्पना को विक्षुब्ध कर जाता था। इसी विक्षोभ की अभिव्यक्ति निराला की 'जागो फिर एक बार' और 'बादलराग' जैसी कविताओं में हुई। छायावादी कवियों की कल्पना-दृष्टि पर हम आगे विचार करेंगे। यहाँ इतना ही जान लेना पर्याप्त होगा कि इतिहास की जिस शक्ति ने समाज के भीतर व्यक्तिवाद को जन्म दिया, व्यक्ति (और विशेषतः संवेदनशील व्यक्ति) के भीतर उसी ने कल्पनावृत्ति को भी उद्दीप्त किया। मन के सूत्रों को एक बार बाह्य यथार्थ से खींच कर अन्तर्मुख कर लेने के पश्चात् पुनः उस यथार्थ तक लौटने का एक मात्र माध्यम कल्पना ही रह जाती है। राजनीति में इस अन्तर्मुखी वृत्ति ने गांधीजी की रामराज्य की आदर्श कल्पना का रूप लिया और काव्य में प्रकृति, सौन्दर्य और भविष्यप्रेम का।

छायावाद को इस रूप में लाने का श्रेय अँगरेज़ी आन्तरिक शक्तियों के साथ-साथ शिक्षा को भी है। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि शेली, कीट्स, बायरॅन और टेनिसन की कविताओं ने तत्कालीन भारतीय युवक को शब्दों और चित्रों के एक नये सौन्दर्य लोक की ओर आकृष्ट किया। पंतजी ने 'आधुनिक कवि' की भूमिका में इस तथ्य की ओर स्पष्ट संकेत भी किया है।[2] पर हिन्दी भाषा में वह लाक्षणिकता नहीं थी जिस के द्वारा उस सौन्दर्य लोक की झलक यहाँ भी प्रस्तुत की जा सकती।

---

१. छायावाद का पतन; पृ० १२.

२. आधुनिक कवि : सुमित्रानन्दन पन्त; पृ० १३.

मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद और मुकुटधर पाण्डेय की सन् १९१५ के आसपास की कविताओं में लाक्षणिक मूर्तिमत्ता की ओर बढ़ने का प्रयास स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है। 'प्रसाद' की कविताओं में यह प्रवृत्ति आरम्भ से ही थी। सन् १९०९ के 'इन्दु' में उन्होंने 'वनवासिनी बाला' शीर्षक से एक कविता प्रकाशित करायी थी जिसकी विषयवस्तु अभिज्ञान शाकुन्तल की कथा पर आधारित थी। कविता बहुत लम्बी नहीं है। परन्तु अपनी लघुता में भी उसकी सहज स्वच्छन्द सौन्दर्य-दृष्टि किसी भी रॅमैण्टिक कविता से परिचित पाठक को अनायास वर्ड्सवर्थ की 'लूसी' कविता का स्मरण करा देगी। वनबाला शकुन्तला का एक चित्र काफ़ी होगा :

बैठी मालिनि तीर
सुभग बेतसी-कुंज में।
विलसत परिमलपूर
समीरन केश-पुंज में।[1]

तात्पर्य यह कि छायावाद के कुछ मूलभूत तत्त्वों—जैसे प्रकृति सौन्दर्य प्रेम का विकास हिन्दी कविता के भीतर इस शताब्दी के पहले दशक में ही आरम्भ हो गया था। सन् १९१३ में जब रवीन्द्रनाथ ठाकुर को विश्व का सर्वोत्तम साहित्यिक सम्मान मिला तो स्वभावतः उन की कविताओं की ओर हिन्दी कवियों की भी दृष्टि गयी। बँगला भाषा का शब्द-समूह हिन्दी के शब्द-समूह से बहुत भिन्न नहीं था। अतः तत्कालीन हिन्दी कवियों को रवीन्द्रनाथ की कविताओं में कल्पना-प्रधान आवेगात्मक भाषा का एक नया आदर्श मिल गया जिस की खोज में वे अनवरत लगे हुए थे। परिणाम यह हुआ कि आधुनिक हिन्दी कविता के भीतर जो रोमानी भावनाएँ अब तक अस्पष्ट और अव्यक्त थीं, उन्हें अभिव्यक्ति का एक सहज प्रशस्त मार्ग मिल गया। प्रसादजी की आरम्भिक भाषा का रूप हम देख चुके हैं। सन् १९१९ तक आते-आते उन की भाषा में एक नया मोड़ आया, भावनाएँ अधिक स्पष्ट हुई और रूप-विन्यास का स्वरूप भी बहुत बदल गया :

मन्द पवन बह रहा, अँधेरी रात है,
आज अकेले निर्जन गृह में क्लान्त हो
बैठे हैं हम प्रत्याशा में प्राणधन।
शिथिल विपंचीं मिली विरह-संगीत से
बजने लगी उदास पहाड़ी रागिनी,
बँधा नहीं स्वर किन्तु हृदय में शुद्ध हो।[2]

जो हृदय में 'शुद्ध' हो कर बँध नहीं सका, तत्कालीन भावुक युवक के उन्मुक्त मन का वही 'राग' भावना और सौन्दर्य के अनेक रूपों में परिणत हो कर 'छायावाद'

---

१. 'इन्दु', सं० १९६६, किरण ६; पृ० ८६.
२. 'इन्दु', सन् १९१५, किरण २; पृ० १७८.

कहलाया। एक बार जब अभिव्यक्ति की दिशा निश्चित हो गयी, सूक्ष्म अनुभूतियों को शब्द मिल गये और नये काव्य के अनुकूल पदावली तैयार हो गयी तो रोमानी कविता की धारा तीव्र गति से बह चली। नये विचारों से आन्दोलित युवकों का एक पूरा दल कविता के क्षेत्र में उतर आया। नित नये प्रयोग होने लगे। अब एक नया-नया आरम्भ करनेवाला कवि भी बड़े विश्वास के साथ नयी लाक्षणिकता का उपयोग कर सकता था। सन् १९१८ की 'सरस्वती' में प्रकाशित एक विस्मृत कवि के गीत की आरम्भिक पंक्तियाँ देखिए :

कुसुम-मन पर केसरिया रंग
जब से चढ़ा, निराला उस ने बना दिया है ढंग।[१]

यह वर्ष हिन्दी कविता के विकास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। इसी वर्ष पंतजी की पहली महत्त्वपूर्ण कविता लिखी गयी। उन के आगमन के साथ हिन्दी कविता के रूप-विधान में अभूतपूर्व परिवर्तन हुआ। सौन्दर्य-दृष्टि में गहराई आयी। प्रकृति और काव्य के बीच नया सम्बन्ध स्थापित हुआ। कविता प्रत्यक्ष ऐन्द्रिय अनुभव से चल कर गहन अनुभूति और विचार के सोपान तक पहुँच गयी। परन्तु इन सब से महत्त्वपूर्ण बात यह हुई कि संवेदना, अर्थात् काव्य की मूलभूत वस्तु और कल्पना, अर्थात् उस को रूपायित करनेवाली सृजनात्मक शक्ति, इन दोनों के बीच की दूरी कम हुई। दूसरे शब्दों में, नयी संवेदना के भीतर से आधुनिक काव्यात्मक बिम्ब का जन्म हुआ। परन्तु नये बिम्ब-निर्माण के लिए आवश्यक था कि प्रत्यक्षीकरण अर्थात् वस्तुजगत् के साथ कवि के ऐन्द्रिय सम्बन्ध को निर्धारित करनेवाले नियमों में भी परिवर्तन लाया जाये। पुराने कवि का ऐन्द्रिय-बोध बहुत सीमित था। उस की वस्तुगत परिधि उतनी ही थी जितनी दूर तक रूढ़ अर्थ में रतिभाव का प्रसार हो सकता था। परन्तु छायावादी कवि इस सीमा से बद्ध हो कर अपनी भावनाओं की स्वच्छन्द अभिव्यक्ति नहीं कर सकता था। फलतः उस के भीतर सौन्दर्य-बोध के स्तर पर एक नये प्रकार का आन्तरिक द्वन्द्व शुरू हुआ, जो इस से पूर्व के काव्य में नहीं पाया जाता। इसी द्वन्द्व की अभिव्यक्ति पंत की 'मोह' शीर्षक प्रसिद्ध कविता में हुई है :

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले ! तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन।
भूल अभी से इस जग को।
तज कर तरल तरंगों को,
इन्द्रधनुष के रंगों को,

---

१. देवीप्रसाद गुप्त, 'सरस्वती' १९१८, भाग १९; पृ० ५९.

तेरे भ्रूभंगों से कैसे बिंधवा दूँ निज मृग-सा मन ।
भूल अभी से इस जग को ।[1]

(जनवरी, १९१८)

इस कविता की व्याख्या आलोचकों ने तरह-तरह से की है। प्रकृति और नारी सौन्दर्य के सापेक्षिक आकर्षण का द्वन्द्व तो स्पष्ट है। पर मेरी समझ में इस कविता के अर्थ की व्याप्ति केवल इतनी ही नहीं हो सकती। बाला के बाल-जाल से कवि ऐन्द्रिय बोध को उस सीमा की ओर संकेत करना चाहता है जिस की व्याप्ति पुरानी कविता में नायिका की आंगिक चेष्टाओं तक ही होती थी। परन्तु नये कवि के भीतर आत्मप्रसार की भावना बड़ी प्रबल थी। वह अपने प्रत्यक्षीकरण को केवल शृंगार की परिधि तक सीमित नहीं रख सकता था। उसे तरल तरंगों की चंचलता और इन्द्रधनुष के विविध रंग सौन्दर्य की एक नयी दिशा की ओर आमन्त्रित कर रहे थे। फलतः उस के भीतर नये और पुराने का यह द्वन्द्व एक कलात्मक स्तर पर व्यक्त हुआ। छायावादी कविता का इतिहास बतलाता है कि उस ने आगे चल कर न तो 'बाला के बालजाल' से ही उपराम लिया न 'द्रुमों की मृदु छाया' को ही छोड़ा। उस ने नारी-पुरुष-सम्बन्ध की परम्परागत धारणा को भी बदल दिया और प्रेम की सूक्ष्म-गहन अनुभूतियों को प्रकृति के असंख्य कोमल-मधुर प्रतीकों और बिम्बों में रूपान्तरित किया। काव्य का सारा ढाँचा ही बदल गया। इस के पूर्व काव्य में शाब्दिक सौन्दर्य (वर्बल ब्यूटी) की प्रधानता थी, अब शब्द गौण हो गये और वह काव्यगत चित्र अथवा बिम्ब-प्रधान हो उठा जो अनेक शब्दों के पारस्परिक सम्बन्ध से बनता है। रूप विधान की इस विलक्षणता का ही परिणाम था कि शुक्लजी जैसे पैनी दृष्टि वाले आलोचक को भी 'छायावाद' एक शैलीगत आन्दोलन जान पड़ा।[2] इस भ्रम का कारण यह था कि शुक्लजी ने 'छाया-वाद' को रहस्यवाद से अलग कर के देखा। वस्तुतः दोनों एक ही मूल काव्य-प्रवृत्ति के अनिवार्य अंग हैं। व्यापक रूप से छायावाद के अन्तर्गत उन सभी प्रवृत्तियों और विशेष-ताओं को समझना चाहिए जिन्हें अँगरेज़ी कविता का पाठक रॅमैण्टिक काव्य की परिधि के अन्तर्गत मानता है। उस में अज्ञात की जिज्ञासा, प्रकृति प्रेम, राष्ट्रीय भावना और चित्रभाषा-पद्धति—सब कुछ एक साथ समाहित हो जाता है। सच तो यह है कि कोई भी नयी शैली केवल बाह्य अभिव्यक्ति की नवीनता के कारण 'नयी' नहीं हो सकती। रूप की नवीनता भी वस्तुतः यथार्थ को एक नयी दृष्टिभंगी से देखने की ही नवीनता होती है। अतः छायावाद को भी वस्तु के प्रति एक विशेष प्रकार की रागात्मक प्रति-क्रिया का ही परिणाम समझना चाहिए। रहस्यवाद कोई उस से भिन्न कोटि की रागात्मक प्रतिक्रिया नहीं है, बल्कि उसी का एक अधिक सूक्ष्म और विकसित स्तर है। छायावादी बिम्ब का स्वरूप इन दोनों तत्वों से मिल कर निर्मित हुआ है।

---

१. 'पल्लव'; पृ० ८६.
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास; पृ० ६५६.

छायावादी बिम्बविधान

छायावादी कवियों की कल्पना-दृष्टि

स्वच्छन्दतावादी (रॅमैण्टिसिज़्म) और कल्पना में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों का आगमन कविता में प्रायः साथ-साथ होता है। स्वच्छन्दतावाद की उत्पत्ति सामाजिक और साहित्यिक रूढ़ियों के विरुद्ध एक भावात्मक विद्रोह के रूप में होती है। पर इस विद्रोह के पीछे कोई सुचिन्तित बौद्धिक विचारधारा नहीं होती। केवल एक भावावेग होता है जिस की तीव्रता में ही उस की रचनात्मक शक्ति निहित होती है। चूँकि उस भावावेग पर कोई बौद्धिक अंकुश नहीं होता, अतः उस का विकास अनेक दिशाओं में एक साथ होता है। यह आवेग नदी की वेगवती धारा की तरह नहीं होता, जिस के प्रवाह की दिशा पहले से ही निश्चित होती है। इसी तीव्र भावावेग से स्वच्छन्द कल्पना की उत्पत्ति होती है। परन्तु यह कल्पना मध्य-युगीन कवियों की अलंकार-विधायिनी कल्पना की तरह केवल कुछ मार्मिक अप्रस्तुतों की योजना करने वाली कल्पना नहीं होती। यह एक प्रकार की स्वतःस्फूर्त सृष्टि-विधायिनी कल्पना होती है जो नये भावसत्यों का अन्वेषण भी करती है और उन का शाब्दिक उद्घाटन भी। छायावादी कल्पना को हम इसी रूप में पाते हैं। इस बात का श्रेय वस्तुतः छायावादियों को ही मिलना चाहिए कि उन्होंने साज-सज्जा के प्रसाधन जुटानेवाली सामान्य कल्पना को जीवन और काव्य की मूल रचनात्मक शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित किया।

पर इस से पहले कि हम छायावादी कल्पना की विशेषताओं का अध्ययन करें, यह उचित होगा कि कल्पना के मौलिक स्वरूप को भी समझ लें। सामान्य व्यवहार में कल्पना को प्रत्यक्ष ज्ञान का विरोधी समझा जाता है। अर्थात् कल्पना वह अतिशायिनी शक्ति है जो प्रत्यक्ष की सीमाओं का अतिक्रमण कर के ऐन्द्रिजालिक भ्रम और बौद्धिक चमत्कार की सृष्टि करती है। पर यह कल्पना सम्बन्धी आरम्भिक धारणा है। अपने सर्वोत्तम रूप में वह एक ऐसी ऐक्य-विधायिनी कृति-शक्ति होती है जो काव्यगत बिम्बों की सृष्टि भी करती है और उन के बीच एक सामंजस्यपूर्ण पारस्परिक सम्बन्ध की भी स्थापना करती है। पर प्रत्येक दशा में उस का आधार प्रत्यक्षज्ञान अथवा ऐन्द्रियबोध ही होता है। यहाँ प्रत्यक्ष वस्तु और कल्पना का भी अन्तर समझ लेना चाहिए।

वस्तु और कल्पना

सामान्य मनुष्य के निकट तो कोई बाधा नहीं है, पर विचारकों के सामने यह प्रश्न सदा रहा है कि कल्पित वस्तु से प्रत्यक्ष वस्तु को किस प्रकार भिन्न समझा जाये। कल्पना (अर्थात् मानसिक प्रतिभास) और बाह्य वस्तु के सम्बन्ध को ले कर दर्शन के क्षेत्र में अनेक अलग-अलग मत और सम्प्रदाय उठ खड़े हुए हैं। कुछ विचारकों ने कल्पना अथवा विचार को ही एकमात्र सत्य माना है। क्योंकि उन के अनुसार मानसिक अवधारणा के अतिरिक्त बाह्य वस्तु की कहीं सत्ता नहीं होती। ऐसे भाववादी दार्शनिकों में हीगेल सब से अधिक प्रसिद्ध हैं। विचारकों का एक दूसरा दल भी है जो प्रत्यक्ष

अथवा अनुभूत पदार्थ के प्रतिबिम्ब या प्रक्षेप मात्र हैं। विचारकों के इस दल में मुख्यतः मार्क्स और सामान्यतः आज के सभी वैज्ञानिक आ जाते हैं। इस सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिकों की खोज आज अधिक महत्त्वपूर्ण समझी जाती है। उन के अनुसार कल्पना कोई स्वतःसृष्ट वस्तु नहीं। उस की उत्पत्ति मानव मन और बाह्य पदार्थ के पारस्परिक सम्बन्ध से होती है। पर चूंकि कल्पना बाह्य वस्तु की तरह निष्क्रिय और जड़ नहीं होती अतः उस में प्रत्यक्ष पदार्थ से अधिक शक्ति और प्रभाव-क्षमता होती है। मोटे-तौर पर दोनों के अन्तर को निम्नलिखित रूपों में निर्दिष्ट किया जा सकता है—

१. प्रत्यक्ष अनुभव वस्तु के स्वरूप से अनिवार्यतः जुड़ा रहता है। इसी लिए सुन्दर वस्तु को देख कर आनन्द का अनुभव होता है और असुन्दर को देख कर वितृष्णा या विषाद का। पर कल्पित वस्तु का अनुभव इस से भिन्न होता है। वहाँ उस का सहज दृष्टिगोचर होने वाला रूप गौण होता है और उस के पीछे की भावना अथवा वासनामूलक कृति-शक्ति प्रधान। उस से प्राप्त अनुभव का आधार वही भावना अथवा मूलभूत वासना होती है।

२. कल्पित वस्तु सदा 'विशेष' होती है। वस्तुतः प्रत्येक कल्पना के भीतर एक विशेषीकरण की प्रवृत्ति होती है। हम सभी वस्तुओं को देख-सुन या अनुभव कर सकते हैं। पर जब हम उन अनुभवों को मानसिक बिम्बों के माध्यम से पुनर्जीवित करना चाहते हैं तो हमारे मन में केवल कुछ विशेष क्षण अथवा दृश्यखण्ड ही बार-बार आते हैं। सामान्य अनुभव से कल्पित वस्तु का बोध इसी लिए अधिक तीव्र और स्थायी होता है।

३. प्रत्यक्ष वस्तु में एक प्रकार की निश्चिन्तता होती है। पर कल्पित वस्तु का कोई एक रूप नहीं होता। यह जल में पड़ती हुई परछाईं की भाँति काँपती रहती है।

४. प्रत्यक्ष वस्तु हमारी शारीरिक क्रियाओं से स्वतन्त्र नहीं होती। अर्थात् एक फूल तभी तक एक जीवित फूल है जब तक वह हमारी दृष्टि के सम्मुख है। दूसरे शब्दों में यों कहें कि एक अन्धे के लिए उस फूल का कोई अस्तित्व नहीं है। पर एक कल्पित (काव्यगत) फूल का अनुभव करने के लिए आँखों का होना आवश्यक नहीं है। एक अन्धा भी (यदि वह जन्मान्ध नहीं है और फूल की स्मृति उस के मन में आज भी संचित है) उस की बिम्बात्मक सत्ता को अपने मन में अनुभव कर सकता है।

५. प्रत्यक्ष वस्तु अनिवार्यतः देश और काल की धारणाओं से सीमित होती है। पर कल्पित वस्तु के निकट देश और काल की कोई सीमा नहीं होती। जो वस्तु है और जो वस्तु कभी थी, हम दोनों की कल्पना बड़ी सरलता से कर सकते हैं। पर जो वस्तु कभी और कहीं नहीं थी, सम्भावना के आधार पर

कभी-कभी उस की कल्पना कर ली जाती है। जैसे पंखदार घोड़े, उड़ती हुई परियाँ या फिर सोने का पहाड़।

इन थोड़े-से उदाहरणों के द्वारा कल्पित वस्तु और प्रत्यक्ष वस्तु की स्वरूपगत भिन्नता का कुछ बोध हो सकता है। यद्यपि यह अन्तर सत्य है, पर इस को बहुत दूर तक खींचना ठीक नहो। अन्ततः कल्पित वस्तु का आधार भी प्रत्यक्ष वस्तु ही होती है और कल्पना करने वाला मानव मन भी इसी वस्तुजगत् की उपपत्ति होता है। अतः कल्पना को वस्तुगत सन्दर्भ से सर्वथा विच्छिन्न कर के देखना ठीक नहीं। अधिक से अधिक वस्तुपरक अनुभूति की मात्रा के आधार पर ही कल्पना की स्वाभाविकता और पूर्णता का निर्णय किया जा सकता है। इस दृष्टि से विचार करने पर छायावादी कल्पना में वस्तुपरक अनुभूति की मात्रा अपेक्षाकृत कम है और ऐकान्तिक कल्पना का आग्रह अधिक। छायावादी कवि वस्तु के अज्ञात और दुर्बोध स्तरों का अपनी कल्पना के द्वारा उद्घाटन नहीं करता, बल्कि प्रत्यक्ष वस्तु के ऊपर, उस को ग्राह्य और मूर्त्त बनाने के लिए अनेक नयी कल्पित वस्तुओं (बिम्बों) का आरोप करता है।

स्मृति और कल्पना

मनोविज्ञान की पुस्तकों में स्मृति और कल्पना का उल्लेख प्रायः साथ-साथ मिलता है। दोनों का आधार प्रत्यक्ष ज्ञान अथवा पूर्वानुभव है। स्मृति पूर्वानुभूत विषयों को ज्यों का त्यों चेतना के आगे उपस्थित करती है। वह वस्तुओं की व्यवस्था में कोई हेर-फेर नहीं करती। कल्पना भी अनुभूत विषयों का ही आकलन करती है। परन्तु जहाँ स्मृति में पूर्वानुभव की चेतना जाग्रत रहती है वहाँ कल्पना में इस प्रकार की कोई चेतना नहीं होतो। उस में अतीत की वस्तुओं का अनुक्रम भी बहुत परिवर्तित और कभी-कभी विशृंखलित होता है। कल्पना उन्हें मनमाना रूप और व्यवस्था प्रदान करती है। अतः हम कह सकते हैं कि स्मृति अतीत का हू-ब-हू अनुकरण होती है और कल्पना उस की 'रचना' अथवा पुर्ननिर्माण। स्मृति का प्रवाह अतीत की ओर होता है और कल्पना का अतीत और भविष्य दोनों की ओर। कल्पना में सदैव इच्छा अथवा कृति-शक्ति का योग होता है। जब हम कोई कल्पना करते हैं तो उस का स्वरूप अनिवार्यतः हमारी इच्छा के अनुरूप होता है।

इन रूपगत विरोधों के होते हुए भी कल्पना और स्मृति के बीच लगभग कार्य-कारण का जैसा सम्बन्ध है। स्मृतिशून्य मन में कल्पना की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती। स्मृति उपचेतन मन का वह बिम्बकोश है जहाँ से कल्पना को नयी-नयी रचनाओं के लिए कच्चा माल (रॉ मैटिअरिअल) मिलता रहता है। छायावादी कविताओं में स्मृतिमूलक बिम्बों का बाहुल्य है। कभी-कभी तीव्र भावावेग के क्षणों में वह नितान्त व्यक्तिगत स्मृति-संकेतों की भी झलक देता चलता है—जैसे पंत की 'उच्छ्वास' शीर्षक कविता में पार्वतीय पावस के उदात्त चित्रों के बीच यह आत्मीय पंक्ति—"वह सरला

उस गिरि को कहती थी बादलघर।"[1] पर कहीं-कहीं स्मृतिमूलक बिम्बों की पटभूमि बहुत विस्तृत और व्यापक हो जाती है—जैसे 'कामायनी' के चिन्तासर्ग में मनु के नेत्रों के सम्मुख दौड़ते हुए विनष्ट देव-संस्कृति के मादक स्मृतिबिम्ब। समाजशास्त्रीय दृष्टि से विचार करने पर वस्तुतः देव-संस्कृति अभिजात सामन्ती संस्कृति की ही प्रतीकात्मक सृष्टि जान पड़ती है, जिस के विघटन का प्रत्यक्ष अनुभव प्रसादजी ने काशी के तत्कालीन वातावरण में किया था। निराला की कविताओं में व्यक्तिगत सन्दर्भों और स्मृति-बिम्बों का उपयोग सब से अधिक हुआ है। उन के वैयक्तिक संकेत स्मृति-संचारी के रूप में नहीं आते, बल्कि वे काव्य की मूल प्रेरक शक्ति से प्रेरित और उत्सर्जित होते हैं।

कल्पना और स्वप्न

स्वप्न में मनुष्य पूर्णतः उपचेतन के अधीन होता है। फलतः वह किसी असम्भव अज्ञात और अननुभूत वस्तु की भी कल्पना कर सकता है। इस अवस्था में तर्क, विवेक और संकल्प शक्ति के लिए कोई स्थान नहीं होता। अतः स्वप्नस्थ मनुष्य की कल्पना एक प्रकार की कृतिशक्ति-शून्य अनियन्त्रित कल्पना होती है। वह समुद्र में तैर सकता है, आकाश में उड़ सकता है, परीलोक की सैर कर सकता है। उस के लिए स्थान निषिद्धि नहीं, कोई वस्तु वर्जित नहीं। किसी न किसी अंश में स्वप्न का आधार भी स्मरण ही होता है। पर वह व्यक्ति के अन्तःकरण में वासना रूप में स्थित नाना भावों और रूपों से मिल कर एक विचित्र आकार धारण कर लेता है और कभी-कभी तो इतना बदल जाता है कि उस में प्रत्यभिज्ञान का अंश भी लुप्त हो जाता है। काल्पनिक-बिम्बों और स्वप्न-बिम्बों में एक बहुत बड़ा अन्तर यह होता है कि दूसरे का प्रत्यक्षीकरण अत्यन्त शीघ्र और निर्बोध रूप से हो जाता है, जब कि पहले प्रकार के बिम्बों से तादात्म्य स्थापित करने के लिए पाठक को भी सक्रिय और संवेदनशील होना पड़ता है। स्वप्नस्थ मनुष्य के मस्तिष्क की शिराएँ अत्यन्त गाढ़ भाव से उन बिम्बों से सम्पृक्त होती हैं और जाग्रत अवस्था की भाँति उन्हें प्रतिरोधी बिम्बों का सामना भी नहीं करना पड़ता। फलतः जिस प्रकार सूर्यास्त के बाद तारों का प्रत्यक्षीकरण निर्बाध रूप से हो जाता है उसी प्रकार स्वप्न की दशा में भी चलती-फिरती छाया-मूर्तियों का प्रत्यक्षीकरण भी बड़ी सरलता से हो जाता है। परन्तु कल्पना द्वारा प्रस्तुत मूर्तियों के ग्रहण में सचेष्ट एकाग्रता अपेक्षित होती है। उस के बिना काव्यगत बिम्ब का पूर्ण प्रत्यक्षीकरण नहीं हो सकता।

इसी प्रकार दिवास्वप्न की भी व्याख्या की जा सकती है। वह भी एक प्रकार का काल्पनिक व्यापार ही है। परन्तु सृष्टि-विधायिनी कल्पना से उस का पहला अन्तर यह होता है कि वह स्वस्थ मानव-मन की उत्पत्ति न होकर प्रायः अस्वस्थ और असफल

---
१. पल्लव; पृ० ५६.

मन की उत्पत्ति होता है। उस में प्रायः अतीत की अतृप्त आकांक्षा और भविष्य की किशोर-सुलभ महत्त्वाकांक्षा का भी योग होता है। अतः उस में विचरण करने वाले व्यक्ति की मनोदशा भी दो प्रकार की होगी : पराजित अथवा विजयोन्मत्त। यह सब कुछ एक वायवी भावना का व्यापार होता है। स्थूल जगत् में उस की कोई सत्ता नहीं होती। कल्पना दिवास्वप्न के समान आत्मकेन्द्रित, असफल और निष्क्रिय मन की उत्पत्ति नहीं होती। उस का आधार कल्पना करने वाले व्यक्ति की परिधि के बाहर ठोस भौतिक-जगत् में होता है।

आधुनिक युग की कविता पर फ्रॉएड के स्वप्नबिम्बों की व्याख्या का बहुत व्यापक प्रभाव पड़ा है। परन्तु छायावादी बिम्बविधान पर उस का प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं दृष्टिगोचर होता। इस का कारण सम्भवतः यह है कि छायावादी कवि प्रकृति के बाह्य सौन्दर्य में इस प्रकार रमा हुआ था कि उपचेतन और स्वप्न के अज्ञात-अस्पष्ट बिम्बों में उसे वह रस-संवेद्यता नहीं मिली। फिर भी कहीं-कहीं गहन स्वप्नबिम्ब और दिवास्वप्न जैसी झिलमिल छाया-कल्पनाएँ प्रायः मिल जाती हैं। दिवास्वप्न तो जैसे छायावादी भावुकता का स्थायी स्तर है और उस की प्रेमकविताओं में इस प्रवृत्ति को और स्पष्ट रूप मे देखा जा सकता है। पंत की 'भावी पत्नी के प्रति' तथा 'अप्सरा' शीर्षक कविताएँ इस प्रवृत्ति का सर्वोत्तम उदाहरण उपस्थित करती हैं।

काव्यगत कल्पना का निर्माण इन सभी तत्त्वों से मिल कर होता है। मनुष्य के दैनिक अनुभव और उस के जीवन की पूर्व स्मृतियाँ ही उस के व्यक्तित्व के बोध पक्ष का निर्माण करती हैं। यह बोध तत्त्व ही रस-प्रक्रिया का विभाजन-व्यापार है। आस-पास के जीवन की हमारी सूक्ष्म जानकारी, अन्यान्य साहित्येतर विषयों का हमारा ज्ञान, प्रकृति के विविध रूपों से हमारा गाढ़ा रागात्मक सम्बन्ध—इन सब की स्थिति बोध-पक्ष के भीतर मानी जाती है। ये सारे व्यापार मिल कर कल्पना के लिए उपयुक्त पृष्ठभूमि तैयार करते हैं। कल्पना अपने सर्वोत्तम रूप में दो कार्य करती है : ताज़े-संवेदनक्षम और अर्थपूर्ण बिम्बों का निर्माण, और रचना के विभिन्न तत्त्वों के बीच सामंजस्यपूर्ण सम्बन्ध की स्थापना अथवा ऐक्य-विधान। परन्तु जब कवि का अनुभव-क्षेत्र संकुचित और बोध-पक्ष अपूर्ण होता है तो कल्पना अपने महत्त्वपूर्ण पद से नीचे उतर कर बौद्धिक क्रीड़ा अथवा उक्ति-वैचित्र्य का साधन बन जाती है। इस प्रकार की कल्पना को अँगरेज़ी में 'फ़ैन्सी' कहते हैं जो सृष्टि-विधायिनी कल्पना की सहायिका मात्र होती है। उस में आन्तरिक संश्लेषण का अभाव होता है। यदि बोधपक्ष व्यापक है अर्थात् कवि का जीवनानुभव समृद्ध और गहरा है, तो उस की कल्पना भी संश्लिष्ट और गहरी होगी। साहित्य में बोधपक्ष अथवा विभावन-व्यापार का इसीलिए इतना महत्त्व है। सामान्यतः छायावादी कल्पना का बोधपक्ष—अधिक निश्चित अर्थ में उसे अनुभूति भी कह सकते हैं—अदृष्ट और अस्पष्ट है। पर इस का कारण हमें तत्का-लीन सामाजिक परिस्थितियों में ढूँढ़ना होगा। इस में सन्देह नहीं कि छायावादी कवि

कुछ 'नया' अनुभव अवश्य कर रहा था। पर उस अनुभव का ठोस आधार क्या है, इस का स्पष्ट ज्ञान उसे नहीं था। तीव्र भावावेश की स्थिति में कारण का ठीक-ठीक पता होता भी नहीं। समाज के आन्तरिक संगठन के भीतर जो परिवर्तन की प्रक्रिया चल रही थी, छायावादी कवि के निकट उस का भी स्पष्ट चित्र नहीं था। वह आधुनिकता का पक्षपाती था, पर उस की प्रकृति और स्वरूप क्या होगा—इस से भी वह परिचित नहीं था। वह संवेदना के स्तर पर बदलते हुए सामाजिक सम्बन्धों को अनुभव तो कर रहा था, पर उस के पीछे काम करने वाली ऐतिहासिक शक्तियों का पता उसे नहीं था।। संक्षेप में, छायावादी कवि अपने युग के प्रति सच्चा और संवेदनशील तो था, पर उस के भीतर वह तीव्र ऐतिहासिक चेतना नहीं विकसित हो पायी थी जो युग की आन्तरिक और बाह्य स्थितियों को परस्पर सापेक्षता में देखती है। परिणाम यह हुआ कि उस का भाव-पक्ष तो समृद्ध हो गया पर उन भावों को जाग्रत करने वाली बाह्य स्थितियों—शास्त्रीय भाषा में कहे तो 'विभाव'—की चेतना उस के भीतर अविकसित रह गयी। इस स्थिति का प्रभाव उस की कल्पना के स्वरूप पर भी पड़ा। वह अत्यधिक स्वच्छन्द, अन्तर्दृष्टि-मूलक और केन्द्रापगामी हो गयी। पंत की 'चाँदनी' (गुंजन—पृ० ८७) शीर्षक कविता का अध्ययन इस दृष्टि से बहुत रोचक सिद्ध हो सकता है, जिस की कल्पनाएँ तो बहुत ऊँची और सूक्ष्म हैं, पर बोधपक्ष (उनका ठोस भौतिक आधार) अत्यन्त अपुष्ट और न्यून। छायावादी बिम्बों की ऐकान्तिका और अस्पष्टता का यही कारण है। पर यह उस युग की कविता का सामान्य चरित्र-लक्षण नहीं है। यह अस्पष्टता केवल उन्हीं कविताओं में पायी जाती है जिन में आचार्य शुक्ल के अनुसार भावानुभूति तक कल्पित करने की चेष्टा की गयी है।[1] ऐसी कविताओं की संख्या अपेक्षाकृत कम है। प्रसाद, पंत और निराला की श्रेष्ठ कविताओं में कल्पना का रूढ़ि विरोधी, स्वच्छन्द और चित्रात्मक पक्ष अधिक प्रबल है।

स्वच्छन्द कल्पना

कल्पना जब रूढ़ि तथा परम्परा के विरुद्ध एक भावात्मक विद्रोह के रूप में भावना और अनुभूमि के नये सौन्दर्य-लोकों के बीच विचरण करती हुई दिखाई देती है तो उसे स्वच्छन्द कल्पना कहते हैं। अपने इस रूप में वह जीवन और जगत् की नयी मर्मच्छवियों का उद्घाटन करती है और प्राचीन प्रतीकों तथा उपमानों का परिष्कार और पुनर्निर्माण भी। आधुनिक वैज्ञानिक विकास ने मानव-जीवन के केवल बाह्य पक्ष को ही नहीं प्रभावित किया, उस ने उस के बोध-पक्ष को भी विस्तृत और सम्पन्न बनाया। विचारों के नये-नये क्षितिज खोले और अनुभवों को फैलने के लिए दिशाओं का अनन्त विस्तार किया। अब व्यक्ति की भावना का प्रसार गिने-गिनाये विभावों की परिधि में नहीं हो सकता था; उसे खुली हवा और उन्मुक्त आकाश की आवश्यकता थी।

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास; पृ० ६६८.

छायावाद के 'अनन्त' और 'असीम' इसी आवश्यकता की पूर्तिस्वरूप आये थे। बोध-वृत्ति के विस्तार के साथ कल्पना का भी विस्तृत होना सहज-स्वाभाविक था। फलतः आधुनिक मानव की कल्पना ने यथार्थ के अदृष्ट और अनुद्घाटित आयामों का अन्वेषण आरम्भ किया। इस खोज के फलस्वरूप आधुनिक काव्य के भीतर तीन नयी प्रवृत्तियाँ विकसित हुईं—

१. स्वच्छन्द सौन्दर्यवृत्ति;
२. रहस्यपरक जिज्ञासा;
३. मानव-स्वातन्त्र्य की भावना।

वस्तुतः स्वच्छन्द कल्पना का विकास आधुनिक मानव की स्वातन्त्र्य भावना का ही विकास है। स्वतन्त्रता की यह भावना भी कई रूपों में पायी जाती है—व्यक्तिवाद, राष्ट्रीयतावाद और समाजवाद इत्यादि। छायावादी कल्पना की मूल प्रेरक शक्ति तो व्यक्तिवादी भावनाएँ ही हैं, पर उस में राष्ट्रीयता का स्वर और समाजवादी स्वप्न की धूमिल छायाएँ भी कहीं-कहीं मिल जाती हैं। एक शब्द में इन सभी प्रवृत्तियों को नवमानवतावाद की संज्ञा दी जा सकती है। नित नूतन होनेवाले आविष्कारों ने एक ओर जहाँ वैज्ञानिकों के मस्तिष्क में सोये हुए भौतिक जिज्ञासाओं के अनन्त सागर को मथ दिया, वहीं दूसरी ओर उन से कवियों और कलाकारों के हृदय की वे निस्पन्द लहरें भी उद्वेलित हो उठीं जिन में एक मधुर स्वप्न की तरह अज्ञात की जिज्ञासा, अदृष्ट की दर्शन-लिप्सा, अनाघ्रात की गन्ध, अस्पृष्ट का रोमांच और अनास्वादित का रस-बोध सोया हुआ था। मानव स्वातन्त्र्य की भावना ने व्यक्ति की कल्पना को एक ऐसी विराट पटभूमि दे दी जिस में इस छोर से उस छोर तक दौड़ लगाने की पूरी छूट थी। कल्पना का आवेग रुद्ध निर्झर के आकस्मिक स्वप्नभंग की तरह दिशाओं में फूट कर बह चला। रवीन्द्रनाथ के 'निर्झरेर स्वप्न-भंग' शीर्षक कविता में मानव कल्पना की इस उच्छल मुक्ति का एक बड़ा भव्य और अर्थपूर्ण चित्र प्रस्तुत किया गया है।[1] वस्तुतः रॅमैण्टिक

---

१. आज ए प्रभाते रविकर
केमन पशिलो प्रानेर पर,
केमन पशिलो गुहार आँधारे प्रभात पाखिर गान।
ना जाने केन रे एतो दिनो परे जागिया उठिलो प्रान।
जागिया उठिलो प्रान,
ओरे उथलि उठिली वारि,

आमि ढालिबो करुणाधारा,
आमि भांगिबो पाषाण-कारा,
आमि जगत प्लाविया, बेड़ावगाहिया
आकुल पागल - प्राण।

—प्रभात संगीत से

कवियों ने कल्पना को महत्त्व दे कर व्यक्ति की असीम रचनात्मक सम्भावनाओं को ही महत्त्व दिया। अँगरेज़ी के प्रसिद्ध रहस्यवादी कवि विलियम ब्लेक ने कल्पना को एक आधिदैविक शक्ति के रूप में स्वीकार किया था। हिन्दी में ब्लेक की इस स्थापना की प्रतिध्वनि सुमित्रानन्दन पंत के वक्तव्यों में सुनी जा सकती है। 'आधुनिक कवि' की भूमिका में उन्होंने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि 'मैं कल्पना को सब से बड़ा सत्य मानता हूँ और इसे ईश्वरीय प्रतिभा का अंश भी मानता हूँ।'[1] कल्पना को सब से बड़ा सत्य और ईश्वरीय प्रतिभा का अंश मानकर छायावादी कवि ने वस्तुतः मानवीय शक्ति को गौरवान्वित करने का प्रयास किया। उस की इस स्थापना के पीछे कदाचित् यह धारणा काम कर रही थी कि प्रत्यक्ष जगत् में जो कुछ ईश्वर करता है उसे कला स्तर पर मनुष्य की कल्पना भी कर सकती है। विज्ञान के हाथों में जो शक्ति विद्युत्-प्रयोग के द्वारा आयी थी, स्वच्छन्दतावादी कवि उसे सृष्टि-विधायिनी कल्पना के माध्यम से पाना चाहता था। वह उस के मार्ग की समस्त बाधाएँ दूर कर सकती थी, सारे संकल्पों को रूपायित कर सकती थो, सम्पूर्ण अन्तर और बाह्य जगत् को सौन्दर्य से मण्डित कर सकती थी। इस प्रकार छायावादी कल्पना का अर्थ, उस के लोक प्रचलित अर्थ से बहुत भिन्न हो गया। कल्पना उन के निकट सृजन की वह मूल प्रेरणा थी जो प्रत्येक व्यक्ति के भीतर सूक्ष्म रूप से स्थित रहती है। सामान्यतः उस के भीतर वह सब कुछ आ जाता है जो जीवन को सुन्दर, आकर्षक, विराट्, रहस्यमय और महिमामय बनाता है। वस्तु छायावादी कवि को सुन्दर और विस्मयकारी लगी, उसे उन्होंने 'कल्पना' नाम दे दिया। चूँकि सारे दृश्य-जगत् का सौन्दर्य—नारी, प्रकृति, पशु, पक्षी, शिशु और स्वयं मानव—उस के लिए कुतूहल और विस्मय का कारण था, अतः सम्पूर्ण सृष्टि उस के निकट कल्पनामय हो गयी। छायावादी विचारधारा में कल्पना की प्रमुखता का यही रहस्य है।

स्वच्छन्द कल्पना की विशेषताओं की खोज के लिए हमें छायावाद की विविध भावभूमियों का आकलन करना होगा। छायावादी कविता का सब से प्रिय विषय है प्रकृति। प्रकृति में भी उस का सम्पूर्ण रूप-संभार उसे प्रिय न था। अपनी सौन्दर्यप्रिय वृत्ति के अनुसार छायावादी कवियों ने उस के कोमल, रमणीय, आकर्षक, उदात्त और विस्मयकारी रूपों की ओर हो अधिक प्रवृत्ति दिखायी। स्वच्छन्द कल्पना को जाग्रत और उद्दीप्त करने में प्रकृति का सौन्दर्य प्रेरक शक्ति का काम करता है। आई० ए०

[आज इस प्रभात बेला में सूर्य की किरण ने पता नहीं मेरे प्राणों को किस प्रकार छू दिया ? न जाने किस तरह अन्ध गुफा में सोये हुए पक्षी के गान को जगा दिया ? पता नहीं किस प्रकार इतने दिनों बाद प्राण जाग उठे। प्राण जाग उठे और वारिधारा उद्वेलित हो उठी।—मैं करुणा की धारा बहाऊँगा, मैं पाषाण की कारा को तोड़ दूँगा। मैं जगत् को आप्लावित कर के और बेड़े को डुबोकर पागल की तरह गाता हुआ घूमूँगा।]

१. आधुनिक कवि–२, भूमिका भाग २; पृ० ३६।

रिचर्ड्स ने तो प्राकृतिक संकेतों को ही कल्पना-वृत्ति का मूल उद्गम-स्रोत माना है। उनके अनुसार प्रकृति की ओर से प्राप्त इंगितों पर मनुष्य का मन जिस वृत्ति के द्वारा पर्युत्सुक हो उठता है, उसे कल्पना कहते हैं।[1] सभी प्रकार की कल्पनाओं के लिए चाहे यह बात सत्य न हो, पर रँमैण्टिक (छायावादी) कल्पना के सम्बन्ध में तो यह निर्विवाद रूप से सत्य है। महादेवीजी ने इसे स्पष्ट रूप से स्वीकार भी किया है कि प्रकृति के सौन्दर्य और पृथ्वी के ऐश्वर्य ने भारतीय कल्पना को जिन सुनहरे-रूपहले रंगों से रँग दिया वे तब से आज तक नहीं धुल सके।[2] महादेवीजी का संकेत यहाँ सम्भवतः वैदिक कल्पनाओं और आदिकाव्य की ओर है। पर छायावादी कविताओं में पायी जाने वाली प्रकृति से उन का एक बहुत बड़ा अन्तर है जिसे नहीं भूलना चाहिए। प्रकृति पर चेतना का आरोप छायावादी कविताओं की एक बहुत बड़ी विशेषता मानी जाती है। पर यह आरोप वैदिक कल्पनाओं से बहुत भिन्न है। वैदिक ऋषि के निकट तो कोई द्विधा या द्वन्द्व था ही नहीं। वह अपने पूरे अन्तर्मन से स्वीकार करता था कि नदी, सूर्य, उषा, चन्द्रमा, वरुण आदि शक्ति और चेतना के लोकोत्तर रूप हैं। वह आरोप नहीं करता था केवल 'विश्वास' करता था। पर छायावादी कवि का आरोप एक प्रकार का विशुद्ध काव्यात्मक भ्रम था। उस के पीछे 'विश्वास' का कोई दृढ़ आधार नहीं था। उसे चेतना का आरोप न कह कर कवि का आत्म-प्रक्षेपण (सेल्फ प्रोजेक्शन) कहना अधिक संगत होगा। इस का प्रमाण यह है कि छायावादी कवियों ने कहीं भी प्रकृति को अपने से अलग कर के देखने का प्रयास नहीं किया है। दूसरे शब्दों में वे शुद्ध प्रकृति-चित्रण कभी नहीं करते। बल्कि प्रकृति के स्पर्श से मन में जो छायाचित्र उठते हैं उन्हीं का काव्यात्मक उपयोग करते हैं।[3] अर्थात् छायावादी कवि के निकट प्रकृति अपने आप में महत्त्वपूर्ण नहीं थी, उस का महत्त्व उन प्राकृतिक बिम्बों और प्रतीकों के कारण था जिन के द्वारा वह अपनी अस्पष्ट अनुभूतियों को वाणी देना चाहता था। इसीलिए पन्त, प्रसाद, निराला और महादेवी वर्मा के काव्यात्मक बिम्बविधान में जीवन और जगत् के अति परिचित संकेतों की अपेक्षा प्रकृति के सुदूर, धुधले और अगम्य सौन्दर्य-बिम्बों की संख्या अधिक है। इस प्रकार प्रकृति का उन के निकट दोहरा महत्त्व है। वह उनके मन के गुप्त-गहन भावों को उद्दीप्त भी करती है और उन्हें बाह्य अभिव्यक्ति देने में उन की सहायता भी करती है। प्रकृति उन के लिए एक संवेदनशील जीवित सत्ता थी जो उन की मर्मव्यथा और करुणाविकल कहानी को सुन और समझ सकती थी :

निकल रही थी मर्म-वेदना
करुणा विकल कहानी-सी,

---

१ "Imagination comes from the mind's response to nature."
Coleridge on Imagination, 127.

२. महादेवी का विवेचनात्मक गद्य; पृ० ८४.

३. आधुनिक हिन्दी-कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ : डॉ० नगेन्द्र; पृ० ११.

वहाँ अकेली प्रकृति सुन रही,
हँसती-सी पहचानी-सी ।[1]

इसी आधार पर कुछ आलोचकों ने छायावाद को 'प्रकृति-काव्य' की संज्ञा दी है। पर जैसा कि ऊपर कहा गया है, छायावाद विशुद्ध प्रकृति-काव्य नहीं है। वह केवल सूक्ष्म मानवीय अनुभूतियों की बाह्य प्रतिकृति है। इसीलिए उस में आया हुआ प्रत्येक प्राकृतिक बिम्ब अपने रूपगत सौन्दर्य के अतिरिक्त किसी गहरी अनुभूति अथवा परोक्ष चेतना का सूक्ष्म संकेत भी है। छायावादी काव्य में इस प्रकार के सौन्दर्य बिम्बों की संख्या इतनी अधिक है कि उस के पूर्व का सम्पूर्ण हिन्दी-काव्य मिल कर भी उस की समता नहीं कर सकता। जहाँ कमल, केशर, यमुना-तट और वंसीवट ही प्राकृतिक सुषमा की सीमा समझे जाते थे वहाँ तुहिनकण, स्वर्ण प्रभात, आलोक-अधीर अन्तरिक्ष, ज्योत्स्ना निर्झर, लघु परिमलघन-सी चाँदनी, अपने निस्संग सुख में विलीन शुक्रतारा, गुंजित अलि-सा निर्जन अपार, गन्धगुंजित कुंज, नील झंकार, तारिकाओं की तान, परिहृत वसना छाया, विहंगम-सा बैठा गिरि पर विशाल अम्बर, मेमनों-से कुदकते बाल मेघ, वाताहत समुद्र, दुर्दम उदग्रशिर अद्रिशिखर, शैल-पावस के प्रश्नोत्तर, झिल्लियों की झनकार, दादुरों के दुहरे स्वर, जयलक्ष्मी-सी उषा, ममतामयी गोधूली, लघु सुरधनु-से पंख पसारे खग, कनक-से दिन, मोती-सी रात, वनमाला के गीतों-सा निर्जन में बिखरा मधुमास, किसलयों-तुली डाल, तरुणतान शाखें, वनबेला, आम की सूखी डाल, तृण और खर-पात इत्यादि तक सौन्दर्य-दृष्टि का विस्तार हो गया। इतने मोहक और अर्थगर्भ बिम्ब घर की परिधि से बाहर जाने के बाद ही मिल सकते थे। यह स्वच्छन्द कल्पना ही थी जिस ने तत्कालीन कवि को उस के सीमित अनुभववृत्त से निकाल कर रंगों, गन्धों और ध्वनियों के इस विस्तृत क्षेत्र में पहुँचा दिया।

स्वच्छन्द कल्पना का दूसरा रूप नारी सौन्दर्य के भावमय चित्रों में पाया जाता है। छायावादी कवि के निकट नारी के व्यक्त रूप की अपेक्षा उस का अस्पष्ट, अग्राह्य और छायारूप अधिक महत्त्वपूर्ण था। रवीन्द्रनाथ के शब्दों में कहे तो उन की दृष्टि में नारी आधी कल्पना थी और आधी मानवी।[2] पंत की 'अप्सरा' नारी की स्वच्छन्द कल्पना का सर्वोत्तम उदाहरण है :

निखिल कल्पनामयि अयि अप्सरि।
अखिल विस्मयाकार।
अकथ, अलौकिक, अमर, अगोचर
भावों की आधार।
गूढ़ निरर्थ, असम्भव, अस्फुट
भेदों की शृंगार।

---

१. कामायनी; पृ० ४.
२. अर्धेक कल्पना तुमि, अर्धेक मानवी.

मोहिनि, कुहकिनि, छल-विभ्रममयि,
चित्र-विचित्र अपार।[1]

इस प्रकार छायावादी कवि ने नारी को असंख्य रूपों में देखा। पर वास्तविकता यह है कि इन में से कोई भी रूप उस का असली रूप नहीं था। जो अकथ-अलौकिक, छल और विभ्रम है, उस का कोई एक रूप कदाचित् हो भी नहीं सकता। पर इन अनेक रूपों में भी एक एकरूपता है जिसे स्पष्टतः निर्दिष्ट किया जा सकता है। पहली बात तो यह कि प्रस्तुत पंक्तियों की नारी कवि की मानसिक सृष्टि है अर्थात् नारी रूप के प्रति जो भाव उस के मन में उठे उन्हीं की मूर्त कल्पना है—"बन गयीं मानसि! तुम साकार"।[2] इन अनेक मानसिक चित्रों के भीतर उस का एक चित्र ऐसा है जिसे छायावाद की नारी-कल्पना का केन्द्रीयविन्दु कहा जा सकता है। स्वयं असंख्य रूपों में विभक्त नारी एक ऐसी आध्यात्मिक शक्ति के रूप में देखी गयी है जो इस द्वन्द्वमूलक सृष्टि को एकता के सूत्र में ग्रथित कर सकती है। जो मानव के अन्तर में जाग्रत् रहने वाले सत् (देव) और असत् (दानव) के चिरन्तन द्वन्द्व को एक स्मिति-रेखा मात्र से ऐक्य और समन्वय में बदल सकती है।[3] पंत ने नारी की इसी भूमिका को ध्यान में रखते हुए उसे 'भेदों की श्रृंगार' कहा है। इस भावात्मक और स्वच्छन्द वृत्ति का परिणाम यह हुआ कि छायावादी कवियों ने केवल नारीत्व की व्याख्या की, उस के जीवन्त भौतिक रूप को देखा ही नहीं। इसीलिए, निराला के कुछ उन्मुक्त यौन-बिम्बों को छोड़ कर, सम्पूर्ण छायावादी कविता में प्रेमानुभूति के गहन, जटिल और मूर्त चित्रों का नितान्त अभाव है। परन्तु उस युग की सारी कृतियों पर श्रृंगार का रंग इतना गाढ़ा है कि डॉ० नगेन्द्र जैसे आधुनिक समीक्षक को भी छायावादी काव्य-सामग्री के अधिकांश प्रतीक 'काम-प्रतीक' जान पड़ते हैं।[4]

स्वच्छन्द कल्पना का तीसरा रूप विराट् की उपासना में देखा जाता है। हिमालय, समुद्र, बादल, महाकाल, शक्ति, शिव आदि के सम्बन्ध में लिखी गयी कविताएँ इस का उदाहरण हैं। उदात्त बिम्बों की योजना की प्रवृत्ति निराला में सब से अधिक पायी जाती है। सामान्यतः यह विशेषता पूरे छायावादी काव्य में पायी जाती है, पर निराला इस के सर्वोत्तम प्रतिनिधि हैं। बादल राग, राम की शक्ति-पूजा तथा 'एक बार बस और नाच तू श्यामा' आदि कविताओं में विराटोपासना का स्वरूप स्पष्ट है। 'कामायनी' का आरम्भ भी एक सर्वश्लेषी उदात्त बिम्ब से ही हुआ है :

हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर
बैठ शिला की शीतल छाँह !

---

१. गुंजन; पृ० ९२.
२. वही; पृ० ६५.
३. कामायनी; पृ० १०६.
४. आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ; पृ० ११.

एक पुरुष भीगे नयनों से
देख रहा था प्रलय-प्रवाह ।

एक ओर हिमालय से टकराता हुआ महाजलप्लावन और दूसरी ओर एक जड़ शिला की सहानुभूति-शून्य छाया में बैठे हुए सजलनयन एकाकी मनु । यहाँ निराला की तरह विराट् की उपासना का भाव नहीं है । केवल एक विराट् चित्र है जो मनु की तत्कालीन मन:स्थिति की पृष्ठभूमि बनने में पूर्णत: समर्थ है । 'कामायनी' के सम्पूर्ण कथानक में पृष्ठभूमि की यह उदात्तता परिव्याप्त है । कदाचित् इसी लिए उस के अलग-अलग चरित्र एक आधुनिक बुद्धिवादी पाठक को उतना प्रभावित नहीं करते, जितना उस के तीव्र संवेदनाओं वाले प्रसंगगर्भ बिम्ब और कथानक की गहन उदात्त पृष्ठभूमि ।

स्वच्छन्द कल्पना का चौथा रूप अतीत की ओर प्रत्यावर्तन और भविष्य के भावमय आकलन में पाया जाता है । वर्तमान से असन्तुष्ट कवि के लिए दोनों ही दिशाओं में फैलने का पूरा अवकाश था । अतीत के भग्नावशेषों पर उस ने कल्पना का रंग चढ़ाया और भविष्य की अमूर्त रेखाओं में अपनी रंग-बिरंगी भावनाओं और विचारों का प्रक्षेपण किया । अतीत के प्रगाढ़ स्वप्नमय रंगों का उभार प्रसाद में सब से अधिक है । कामायनी, प्रलय की छाया, अशोक की चिन्ता और पेशोला की प्रतिध्वनि आदि कविताओं में अतीत के मादक सौरभ से सिक्त चित्रों की प्रधानता है । उन के नाटकों में यह रंग और भी स्पष्ट है । इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप कुछ दुर्लभ ऐतिहासिक बिम्ब हिन्दी कविता में पहली बार आये । भविष्य-कल्पना की दृष्टि से पंतजी की रचनाएँ अधिक महत्त्वपूर्ण हैं । छायावादी कवि की भविष्य-कल्पना एक ऐसे आदर्श सौन्दर्य लोक के रूप में सामने आती है जिस में मानव के सुख-दु:ख और आशा-निराशा आपस में बँट कर समरस हो जाते हैं और जीवन के सारे द्वन्द्व-संघर्ष, छल-छद्म इत्यादि अनायास निर्बाध शान्ति और आनन्द में परिवर्तित हो जाते हैं । यह कल्पना बहुत कुछ रामराज्य अथवा 'यूटोपिया' के समान है जिस की नींव सहज भावुकता और भाववादी दर्शन में होती है । पंतजी की 'ज्योत्स्ना' नाटिका इस प्रवृत्ति का सर्वोत्तम उदाहरण है जिस में पवन और सुरभि के संयोग से एक आदर्श सौन्दर्य लोक की कल्पना की गयी है । वस्तुत: ये दोनों प्रवृत्तियाँ अतीत की ओर प्रत्यावर्तन और भविष्य की स्वर्णिम कल्पना, पुनर्जागरण काल की दो मुख्य प्रवृत्तियाँ हैं । इन दोनों की सीमा यह है कि इन में कल्पना प्राय: परिवेशगत वास्तविकता का अतिक्रमण कर के अतीत के धुँधले सपनों और भविष्य के सुनहले भाव-लोक में भटकती रह जाती है । वह अतीत, वर्तमान और भविष्य को विकास की एक सम्बद्धता में नहीं देख पाती । पर भूत और भविष्य के बहाने उस युग के कवियों ने अपने युग की वास्तविकता को एक नये पहलू से देखा । इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप उन्हें एक ऐसी अन्तर्दृष्टि मिल गयी जो तात्कालिकता के आर-पार देख सकती थी ।

स्वच्छन्द कल्पना का एक अधिक सूक्ष्म और अन्तर्दृष्टिमूलक रूप रहस्य-परक कविताओं में पाया जाता है । वहाँ काव्य का सारा मूर्तीकरण एक प्रकार की सांकेतिक

गरिमा से भर उठता है। रहस्यवादी कवि के निकट प्रत्यक्ष वस्तु एक प्रतीकात्मक सत्ता के रूप में होती है जो निरन्तर अपने से परे किसी बृहत्तर सत्य की ओर इंगित करती रहती है। उस के लिए वह सूक्ष्म इंगित ही सब कुछ होता है, स्वयं वस्तु अथवा उस का रूपाकार कुछ भी नहीं। पर अन्ततः रूपाकार को स्वीकार किये बिना उस का काम चलता भी नहीं। जीवन और जगत् के इन्हीं परिचित रूपाकारों के द्वारा वह अपनी सूक्ष्म अनुभूति को मूर्त और प्रेषणीय बनाता है। तात्पर्य यह हुआ कि ऐसे कवियों के प्रत्यक्षीकरण की सीमा केवल दृश्य, स्पृश्य, श्रव्य तथा आस्वाद्य वस्तुओं तक ही सीमित नहीं होती। वे उन के परे, उन के आर-पार देखने का प्रयास करते हैं और धीरे-धीरे अनुभूति के उस उच्चतम धरातल पर पहुँच जाते हैं जहाँ अनुभूत वस्तु अमूर्त और अतीन्द्रिय हो जाती है। बाह्य रूपाकारों से उस का सम्पर्क टूट जाता है और अनुभव-कर्ता एक ऐसी शब्दातीत मनोदशा में पहुँच जाता है जहाँ वह अपने समानधर्मा मनुष्यों के बीच नितान्त अकेला होता है। ऐसी अवस्था में दैनिक व्यवहार की सुपरिचित भाषा से उस का काम नहीं चलता। उसे नयी मर्मच्छवियों (बिम्बों) और संकेतों की आवश्यकता होती है। फलतः रहस्यवादी कवि की कल्पना प्रत्यावर्तन-पद्धति का आश्रय ग्रहण करती है। वह परोक्ष अनुभूति से चल कर पुनः स्थूल रूपाकारों की ओर लौटने के लिए विवश होता है। अमूर्त से मूर्त की ओर लौटने की यह पद्धति एक नये प्रकार के बिम्बविधान को जन्म देती है जिस में प्रत्येक बिम्ब अन्ततः उस अमूर्त भाव-दशा के प्रति समर्पित होता है। इस प्रकार दैनिक व्यवहार की घिसी-पिटी भाषा नये रूपाकारों में ढल कर नयी भंगिमा और दूरव्यापी व्यंजना शक्ति प्राप्त कर लेती है। प्रकृति के जाने-पहचाने व्यापार एक नया अर्थ देने लगते हैं और सम्पूर्ण रूपात्मक सृष्टि एक भावात्मक सौन्दर्यसत्ता में विलीन होती-सी जान पड़ती है। छायावादी कविता के अन्तर्गत इस प्रकार के बिम्बों का एक बहुत बड़ा भाग है जिसे 'प्रतीकवाद' अथवा 'चित्रभाषा' कह कर अलग कर दिया जाता है। उच्चतर अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में एक ऐसी स्थिति आती है जहाँ प्रेषणीयता की प्रत्यक्ष पद्धति व्यर्थ हो जाती है। अतः वैसी अवस्था में कवि विरोधाभास की शैली अपनाने के लिए विवश होता है। जैसे पंतजी की यह मंगल-कामना :

सुख-दुख के मधुर मिलन से
यह जीवन हो परिपूरण,
फिर घन में ओझल हो शशि
फिर शशि से ओझल हो घन।[१]

या फिर महादेवीजी की ये पंक्तियाँ :

शलभ मैं शापमय वर हूँ।
किसी का दीप निष्ठुर हूँ।

---

१. गुंजन; पृ० १६.

ताज है जलती शिखा
चिनगारियाँ शृंगार-माला,
ज्वाल अक्षय कोष-सी
अंगार मेरी रंगशाला।
नाश में जीवित किसी की साध सुन्दर हूँ।[1]

इस प्रकार के विरोधी बिम्बों में तीव्रतम अनुभूति को अभिव्यक्त करने की अद्भुत क्षमता होती है। पर यह अन्तर्दृष्टिमूलक कल्पना की केवल एक अभिव्यंजना-पद्धति है। जहाँ रहस्यानुभूति अधिक सच्ची और तीव्र होती है वहाँ रूप-विन्यास की प्रक्रिया भी अधिक सहज और स्वाभाविक हो जाती है। जैसे—

सघन मेघों का भीमाकाश
गरजता है जब तमसाकार
दीर्घ भरता समीर निःश्वास
प्रखर झरती जब पावस-धार,
न जाने, तपक तड़ित में कौन
मुझे इंगित करता तब मौन।[2]

इस प्रकार के बिम्बों में उन का दृश्य सौन्दर्य गौण होता है और वह संकेत मुख्य हो जाता है जो सभी बिम्बों के पारस्परिक सम्बन्ध से ध्वनित होता है। अन्तर्दृष्टि-मूलक बिम्बों के अन्यतम अन्वेषक महाकवि 'निराला' के अनुसार एक विराट् भावना में इन चित्रों का क्रमशः विलीन होते जाना ही इन की श्रेष्ठता का प्रमाण है: "वहाँ उन तमाम चित्रों को अनादि और अनन्त सौन्दर्य से मिलाने की चेष्टा रहती है। बर्फ़ में जैसे तमाम वर्णों की छटा, सौन्दर्य आदि दिखला कर उसे फिर किसी ने वाष्प में विलीन कर दिया हो या असीम सागर से मिला दिया हो। ··· इस प्रकार चित्रों की सृष्टि असीम सौन्दर्य में पर्यवसित की जाती है। और यही जाति के मस्तिष्क में विराट् दृश्यों के समावेश के साथ ही साथ स्वतन्त्रता की प्यास को भी प्रखरतर करते जा रहे हैं।"[3]

मनुष्य के वृत्तिगत साधनों में सब से पहला स्थान सौन्दर्य वृत्ति का है। सौन्दर्य की रहस्यमय प्रेरणा उसे प्रकृति के आभ्यन्तर रूप की खोज के लिए विकल करती है। सौन्दर्य के मूल की यही खोज जब सार्थक बिम्बों में रूपान्तरित हो कर अभिव्यक्ति पाती है तो उस से रहस्यप्रधान ऋचाओं, सूक्तियों, पदों और गीतों का जन्म होता है। छाया-वादी कवियों ने ऐसे बिम्बों की अवतारणा प्रायः एक अस्पष्ट और धूमिल वातावरण में की है। जीवन की गोधूली, रजनी का पिछला पहर, निशीथ की शान्ति और प्रत्यूष वेला की जागरण से पूर्व की निस्पन्द जनशून्यता—रहस्यवादी कविताओं की ये परिचित

---

१. आधुनिक कवि १; पृ० ६०.
२. पल्लव; पृ० ९०.
३. परिमल; (भूमिका भाग); पृ० १८.

पृष्ठभूमियाँ हैं। इन के अतिरिक्त स्वप्न, सन्ध्या, नक्षत्र, प्रभात, पवन, वसन्त इत्यादि के चित्र भी प्रायः मिलते हैं। कवि की अन्तर्दृष्टि इन चित्रों पर एक अनुराग-रंजित व्यक्तित्व का आरोप कर लेती है और इस प्रकार आत्मनिवेदन के लिए एक मूर्त कल्पना का आधार मिल जाता है। फलतः बिम्बों का स्वरूप भी छायात्मक हो जाता है। उन का एक पक्ष तो पाठकों की रस-संवेदना को तृप्त करने में समर्थ होता है। पर एक दूसरा पक्ष भी होता है जो केवल उन की दृष्टि को विस्मय-विमुग्ध और चमत्कृत कर के छोड़ देता है। तात्पर्य यह कि अन्तर्दृष्टि-प्रेरित बिम्बों का पूर्ण प्रत्यक्षीकरण कभी नहीं हो पाता। 'कुछ' ऐसा होता है जो हर बार पाठक की संवेदन-क्षमता की परिधि से बाहर रह जाता है। यहाँ तक कि रहस्यवादी कविता का एक दृश्य बिम्ब (विज़ुअल इमेज़) भी चक्षु का विषय उतना नहीं होता, जितना भावना या सूक्ष्म संवेदना का। उदाहरण के लिए महादेवीजी का यह रहस्य-बिम्ब लीजिए :

रजत रश्मियों की छाया में धूमिल घन-सा बह आता।[१]

इस में सन्देह नहीं कि सौन्दर्य दृष्टि की सूक्ष्मता और बिम्ब की गहन रूपात्मक पृष्ठभूमि हमें प्रभावित अवश्य करती है। पर रजत रश्मियों की छाया और उस में धूमिल घन की कल्पना हमारे लिए सहज ग्राह्य नहीं होती। अतः इस प्रकार की कविताओं में बिम्बग्रहण ऐन्द्रिय स्तर पर न हो कर, मानसिक स्तर पर होता है। पहले मन अनुभव करता है और फिर इन्द्रियाँ उस अस्पष्ट अनुभव की पुष्टि करती हैं। इस प्रकार बिम्बों में एक संकेत ग्राह्य अस्पष्टता (ऐम्बिग्युइटी) का विकास होता है जो अर्थ की छायाओं को सूक्ष्म और दूरव्यापी बनाता है।

इन थोड़े से उदाहरणों से स्पष्ट है कि स्वच्छन्द कल्पना ने आधुनिक काव्य की भाव-भूमि को बहुत अधिक विस्तृत कर दिया। पर केवल उस ने भावों को विस्तृत पटभूमि ही नहीं दी, अनुभूतियों को तीव्रता और गहराई भी दी। वस्तु-स्वरूप के बाह्य चित्रण की पद्धति पुरानी पड़ गयी। कवियों ने चित्र-भाषा-पद्धति अथवा बिम्बविधान की शैली का आश्रय ग्रहण किया। दृश्य-चित्रण की प्रक्रिया बदल गयी। पुराने कवि दृश्यों को सूक्ष्म ब्यौरों के साथ संश्लिष्ट रूप में उपस्थित करने का प्रयास करते थे। आधुनिक कवियों ने चित्र को पूर्ण बनाने के लिए स्फुट ब्यौरों में जाना अनावश्यक समझा। वस्तु से अधिक वस्तु के रागात्मक सम्पर्क से उत्पन्न भावनाओं को महत्त्व दिया जाने लगा। डॉ० श्रीकृष्णलाल के शब्दों में, "आधुनिक कवि को वस्तु के प्रस्तुत उपादानों के वर्णन-मात्र से सन्तोष नहीं होता, वह वस्तु के सम्पर्क से जाग्रत् होने वाली सभी भावनाओं तथा उन के आधार पर मनःकल्पित सभी दृश्यों की अवतारणा करना चाहता है।"[२] इस प्रवृत्ति के कारण बिम्बों के संघटन में आसंग-पद्धति (ऐसोसियेशनल लॉ) का

१. आधुनिक कवि— १; पृ० २७.
२. आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास; पृ० ६.

अवलम्बन ग्रहण किया जाने लगा। एक बिम्ब को दूसरे विम्ब से जोड़ने के लिए तार्किक संगति अनावश्यक हो गयी। संवेदना का एक क्षीण सूत्र बिम्बों के विशाल समूह को संग्रथित करने के लिए पर्याप्त समझा गया। इस से कहीं-कहीं अस्पष्टता और उलझन भी बढ़ी। कुछ कविताओं में काल्पनिक रूप-निर्माण की पद्धति बौद्धिक क्रीड़ा की हद तक पहुँच गयी। पर छायावाद की सफलतम कविताओं में कल्पना का स्वाभाविक और रचनात्मक रूप अधिक उभर कर सामने आया है।

यों तो कल्पना का महिमागान सभी छायावादी कवियों ने किया है, पर प्रसाद सम्भवतः सब से पहले कवि हैं जिन्होंने कल्पना की ऐन्द्रजालिक शक्ति की ओर पहले-पहल ध्यान आकृष्ट किया था। सं० १९६६ (सन् १९०९) के 'इन्दु' में प्रकाशित उन की 'कल्पना-सुख' शीर्षक कविता छायावादी काव्य-धारणा के विकास में अपना ऐतिहासिक महत्त्व रखती है। उस कविता में भूत, वर्तमान और भविष्य के अबाध विस्तार में कल्पना के जितने भी कार्य और रूप हो सकते हैं उन सब का स्पष्ट वर्णन किया गया है। उस की आरम्भिक और अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

हे कल्पना सुखदान,
तुम मनुज जीवनप्रान !
तुम विशद व्योम-समान
तव अन्त नर नहिं जान।

तव शक्ति लहि अनमोल,
कवि करत अद्भुत खेल,
लहि तृण सविन्दुतुषार
गुहि देत मुक्ता-हार।[1]

पहले छन्द में कल्पना के मूल सृजनात्मक स्वरूप की ओर संकेत किया गया है और दूसरे में उस की बिम्बविधायक शक्ति की ओर 'लहि तृण सविन्दुतुषार, गुहि देत मुक्ताहार'—इस पंक्ति के अर्थ पर विशेष रूप से ध्यान देने की आवश्यकता है। वस्तुजगत् के सामान्य रूपों को ले कर कल्पना किस प्रकार उन्हें एक अर्थपूर्ण विम्बात्मक साँचे में ढाल देती है, इसी वैशिष्ट्य की ओर इस पंक्ति में संकेत किया गया है। यह पंक्ति हिन्दी-साहित्य के इतिहास में कल्पना के बिम्ब-विधायक स्वरूप की प्रथम काव्यात्मक घोषणा है। अन्य कवियों ने उस की दैवी शक्ति और ऐक्य-विधायक पक्ष की ओर अधिक ध्यान दिया। पंत कविता को कल्पना-तन्त्री की अस्फुट झंकार मानते हैं[2] और निराला उसे कल्पना-कानन की रानी कह कर सम्बोधित करते हैं। इन दोनों कवियों की कविताओं में 'कल्पना' शब्द की इतनी बार आवृत्ति हुई है कि वह उस युग की कविता की एक

१. इन्दु, किरण-१, सं० १९६६; पृ० ७७.
२. पल्लव; पृ० १३७.

विशेष काव्यरूढ़ि-सा बन गया है। वस्तुतः छायावादी काव्य की भावगत और रूपगत विशेषताओं को व्यंजित करने वाला 'कल्पना' से अधिक सार्थक शब्द कोई दूसरा है भी नहीं। उस युग की विचारधारा को निरूपित और निर्धारित करने में भी कल्पना का बहुत बड़ा हाथ है। इन का प्रभाव यह पड़ा कि तत्कालीन कविता का बिम्बविधान भी मनोमय और कल्पनाप्रधान हो गया।

काव्य-भाषा : नये शब्दों का आगमन

बिम्बविधान की शैली में परिवर्तन और परिष्कार लाने के लिए काव्य-भाषा को भी परिवर्तित और परिष्कृत करना आवश्यक था। द्विवेदीयुग की संवेदनशून्य इतिवृत्तात्मक भाषा नयी अनुभूतियों को सम्प्रेषित करने में असमर्थ थी। उस युग का कवि अपनी मर्यादावादी दृष्टि के अनुसार प्रत्येक शब्द को उस के कोशगत अर्थ में ही प्रयुक्त करता था। वह शब्द-चयन को कल्पना-व्यापार के अन्तर्गत नहीं मानता था। शब्दों के चुनाव और उन में काव्यात्मक अर्थों का प्रक्षेपण वह अपनी मर्यादित विवेक-बुद्धि से ही करता था। स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन का आगमन ही वस्तुतः अनुशासित काव्य-दृष्टि और मर्यादित विवेक-बुद्धि के विरुद्ध हुआ था। अतः काव्य-भाषा के निर्माण की दिशा में भी छायावादी कवियों ने स्वच्छन्द कल्पना का भरपूर उपयोग किया। उन्होंने असंख्य नये शब्दों का अन्वेषण किया। बहुत से पुराने शब्दों का पुनरुद्धार कर उन में नवीन अर्थों का प्रक्षेपण किया। कुछ अति प्रचलित रूढ़ शब्दों को नये सन्दर्भों में रख कर उन के परम्परागत अनुषंग को बदलने का प्रयास किया। कुछ अनावश्यक संयुक्त क्रियाएँ छोड़ दी गयीं और कुछ परिचित क्रियापदों पर स्वराघात दे कर उन में नयी व्यंजना और अर्थवत्ता भरने का प्रयास किया गया। यह सब कुछ एक अत्यन्त परिष्कृत रुचि और आधुनिक सौन्दर्य-चेतना के हाथों सम्पन्न हुआ। वस्तुतः प्रेषणीयता का व्यापार भी एक प्रकार का काल्पनिक व्यापार ही है, और काव्यगत शब्द में कोशगत शब्द से जो अधिक चारुता और ध्वन्यात्मकता आ जाती है उस के पीछे भी सृष्टि-विधायिनी कल्पना का ही हाथ होता है। काव्यगत अर्थ की विलक्षणता और वैशिष्ट्य के सूक्ष्म विवेचन आई० ए० रिचर्ड्स ने भी पुराने शब्दों में नये अर्थों के प्रक्षेपण की क्रिया को कल्पना का ही व्यापार माना है।[१] नवीन अर्थ-प्रक्षेपण का यह कल्पनात्मक व्यापार कहीं-कहीं अति की सीमा पर भी पहुँच गया है। फलतः कविता शाब्दिक क्रीड़ा और अर्थबोझिल हो गयी है। पर उस युग की अधिकांश कविताओं में भाषा का सुरुचिपूर्ण, बिम्बात्मक और स्वाभाविक रूप ही प्रधान है। अलंकरण और अर्थस्फीति की प्रवृत्ति छायावाद के अन्तिम दिनों में आयी थी। अपने आरम्भिक दिनों में जैसी सूक्ष्म शब्दचेतना का परिचय पंत ने दिया था, वैसा पूरे हिन्दी-साहित्य के इतिहास में कठिनाई से मिलेगा। नये

---

१. "Projection of meaning into words is itself an imaginative process." *Coleridge on Imagination*; 86.

शब्दों के निर्माण के प्रति सब से अधिक आग्रह पंत और निराला ने दिखाया। प्रसाद ने पुराने शब्दों का पुनरुद्धार अधिक किया और महादेवीजी जाने-पहचाने आत्मीय शब्दों को संगीत और व्यंजना का नया सौन्दर्य प्रदान किया। यहाँ इन चारों प्रतिनिधि कवियों के प्रमुख शब्दों की एक सूची उपस्थित की जाती है जिन से उन के बिम्ब-निर्माण की दिशा और स्वरूप को पहचानने में सुविधा होगी :

प्रसाद

मधु (का० १२); माधव (का० ९७); गोधूली (का० ९७); बेला (ल० ५९); बिम्ब (ल० ५६); खील (ल० १५); सलील (ल० १५); अतलान्त (ल० १५); पिंगल (ल० १५); क्षितिज (ल० १०); विभु (ल० १०); सिकता (ल० ९); वंशीरव (ल० ५९); धीवर (ल० ५९); अन्तरिक्ष (ल० ६०); चन्द्रकान्त मणि (ल० ६२); अवभृथ स्नान (ल० ६३); शरभ (ल० ८०); यामिनी (ल० ७४); अरुणिमा (ल० १०); विश्रम्भकथा (ल० ६०); दिगन्त (ल० ७२); मकरन्द (ल० ६२); मल्लिका (ल० ६२); वल्लरी (ल० ६२); इन्द्रनीलमणि (का० २४); अग्निहोत्र (का० ३८); सौदामिनीसन्धि (का० १९); प्रालेय (का० १३); तिमिंगल (का० १२); यजन (का० १३); उल्का (का० १४); पवमान (का० ३); जलप्लावन (का० ४); मर्मवेदना (का० ४); ग्रहकक्षा (का० ५); करका (का० ५); हविष्य (का० ७); सूत्रधारिणी (का० ५); ज्योतिरिंगण (का० १७); अट्टहास (का० १९); सविता (का० २५); पूषा (का० २५); सोम (का० २५); वरुण (का० २५); वीरुध (का० २६); ऊर्जस्वित् (का० ४); विष्कम्भ (का० १८); अभिषेक (का० ४५); परमाणु (का० १५७); अंस (का० ४७); स्तूप (का० ४९); प्रतिध्वनि (का० ६३); अन्त:सलिला (का० ६७); अवगुण्ठन (का० ६८); कल्लोल (का० ६८); मादकता (का० ७०); अवसाद (का० ७०); कुंकुम (का० ७३); उत्सव (का० ७३); विद्युत्कण (का० ७३); कुसुमोत्सव (का० ७३); कोरक (का० ६३); रंगस्थल (का० ७५); कल्पवृक्ष (का० ११); हिमानी (का० १८); ताण्डवनृत्य (का० २०); उद्गीत (का० ३४); निशीथ (का० ३४); इन्द्रजाल (का० ९७); जादू (का० ९७); जयघोष (का० १०२); आवर्जना (का० १०२); यायावर (का० १९९); वेदी (का० २१४); धूमकेतु (का० २०२); महाशून्य (का० २७३); वनलक्ष्मी (का० २९२); रेणु-रन्ध्र (का० २९२); कौशेय (का० २९३); विस्मृति (का० २९३); शैलेय (का० १८३); पुरोडाश (का० ११६)।

पंत

पल्लवबाल (प० ५३); मधुपकुमारि (प० ८०); मरुताकाश (प० ५४); मधुरिमा (प० ५७); सिड़ी (प० ६२); जगन (प० ६७); इन्द्रधनुष (प० ६६);

तडित (प० ६६); टंकार (प० ६८); स्वर्गाभास (प० ७१); भग्नहृदय (प० ७४); मधुपान (प० ८१); वीचि (प० ८३); सकाल (प० ९१); आँखमिचौनी (प० ९४); निद्रावन (प० ९४); सलिलवालिका (प० ९७); अनजान (प०१०२); निशिभोर (प० १०२). नभचर (प० १०२); हिमजल (प० १००); फेन (प० १०५); चटुल (प० १०५); ज्योत्स्ना (प० १०६); शिलोच्चय (प० १०६); छायानुवाद (प० १०८); कुड्मल (प० ११३); लयमान (प० ११४); ऊर्मि (प० ११८); क्षेमिल (प० १२८); स्वप्निल (प० ९५); फेनिल (प० ९५); धूम-धुँआरे (प० १३४); सहचरि (प० ११९); प्राण (प० ११९); शरदाकाश (प० १४९); अपलक (प० १४९); उच्छ्वास (प० १५०); दिङ्मण्डल (प० १५०); रंगिणि (प० १२५); पांशुल (प० ११३); मेघाडम्बर (प० १५२); उन्मन (गुं० ९); कम्पन (गुं० ३९); मृदुर्मिल (गुं० ४३); मर्म-पुकार (गुं० ४६); सौरभश्लघ (गुं० ५१); व्रतति (गुं० ५५); मधुवाल (गुं० ५५); प्रतति (गुं० ५८); चीनाडाल (गुं० ५८); पुलिन (गुं० ७१); मृण्मरण (गुं० ७९); विपण्ण (गुं० ८१); मर्मर (गुं० ८४); गोपथ (गुं० ८४); जिह्म (गुं० ८४); रक्तोत्पल (गुं० ८४); दिशि-पल (गुं० ८८); छुईमुई (गुं० ८९); तन्द्रा (गुं० ९३); रूपाभास (गुं० ९३); उडुवाल (गुं० ९४); स्वर्णिम (गुं० ९८); रलमल (गुं० १०४); रजत (गुं० १०४); चिर (गुं० २०); सौरभवाह (प० ६१)।

निराला

नव (परि० ३८); नवल (अना० २३); मुद्रित (परि० ३८); दिनमान (परि० ४२); स्वर-सप्तक (परि० ४२); कम्प (परि० ४३); मंजीर (परि० ५०); उद्दाम (परि० ५३); संकुल (परि० ५३); टलमल (परि० ५४); लुप्तमधु (परि० ५४); रागिनी (परि० ६०); देवदूत (परि० ६१); परिमल (परि० ७०); रंजोगम (परि० ७२); ऋजु (परि० ७७); मण्डलाकार (परि० ८०); शैवाल (परि० ८०); मिलन-मुखर (परि० ८१); ऊर्ध्वंग (परि० ८३); नाद-वेद (परि० ८६); ओंकार (परि० ८६); चकचौंधी (परि० ८७); यूथिका (परि० ९०); मुक्तकुन्तल (परि० ११०); प्रत्यूष (परि० १२०); नीलांचल (परि० १३१); नैशगन्ध (परि० २२४); क्रीड़नक (परि० १६९): अगम-अनर्गल (परि० १७७); विप्लव (परि० १७७); इमन (परि० १८२); स्वरारोह (परि० १८३); निरंजन परि० १८४); अंजन (परि० १८४); रणतरी (परि० १८६); पत्रांक (परि० १९१); नम्रमुखी (परि० १९३); सैंधव (परि० २०२); प्रस्रवण (अना० २); अर्र-बर्र (अना० ११); वीक्षण अराल (अना० १८); दिग्देशकाल (अना० १८); अनामिका (अना० २१); मीनार (अना० ६३); मक़बरे (अना० ६३); चिनगी (अना० ८०); पार्श्वच्छवि (अना० ११४); ज्योतिस्तरणा (अना० ११७); चीनां-

शुक (अना० ११८); वलाहक (अना० ४); सैकत (अना० १२१); घूर्ण (अना० ११९); तूर्ण (अना० ११९); तरुण (अना० १४३); दिशाकाश (अना० १४६); हूह (अना० १४८); विपर्यस्त (अना० १४९); कौस्तुभ (अना० १५३); दिग्विजय (अना० १५३); नर्गिस (अना० १८७); वारिदझर (अना० १९४); इरण (अपरा, १७६); सुरधुनी (अपरा, १७६)।

महादेवी वर्मा

अपरिचित (आ० क० ३); संकल्प (आ० क० ३); निर्माण-उन्मद (आ० क० ३); अंकसंसृति (आ० क० ३); हाट (आ० क० ३); मेला (आ० क० ३); दुकेला (आ० क० ३); तूलिका (आ० क० २); निर्वाण (आ० क० ३); शयनागार (आ० क० ४); असीम (आ० क० ९); सीमा (आ० क० ९); ढरकीला (आ० क० १०); दीपावलियाँ (आ० क० १७); शून्य (आ० क० १८); शृंगार (आ० क० २२); नीलम (आ० क० २३); तितली (आ० क० २४); केसर (आ० क० २४); खुमार (आ० क० २४); चितेरा (आ० क० २४); मोम (आ० क० २५); जुगनू (आ० क० ३१); सीप (आ० क० ३१); यवनिका (आ० क० ३१); वारिदघोप (आ० क० ३२); अभिसार (आ० क० ३३); आसव (आ० क० ३५); दीपशिखा (आ० क० ३९); शलभ (आ० क० ८८); चित्रपटी (आ० क० ४१); आविल (आ० क० ४७); पंकिल (आ० क० ४७); वेणीबन्धन (आ० क० ४८); शीशफूल (आ० क० ४८); अंजलि (आ० क० ४८); दुकूल (आ० क० ४८); पदचाप (आ० क० ४८); शेफाली (आ० क० ४९); मौलश्री (आ० क० ४९); प्रवालकुंज (आ० क० ४९); हर्रसिगार (अ० क० ४९); वानीर (आ० क० ४९); रजनीगन्धा (आ० क० ८२); पाटल (आ० क० ८२); वकुल (आ० क० ८२); घनसार (आ० क० ५२); टकसाल (आ० क० ५३); लीलाकमल (आ० क० ५३); रेखाक्रम (आ० क० ५७); स्वरसंगम (आ० क० ५७); दृग्जल (आ० क० ६०); मेंहदी (आ० क० ६२); दर्पण (आ० क० ६३); अंगराग (आ० क० ६३); लोरी (आ० क० ७०); अर्चन (आ० क० ७३); कैरववन (आ० क० ७४); अश्रुमाल (आ० क० ७८); आलोकयान (आ० क० ७९); पुलकपंखी (आ० क० ८१); रंगशाला (आ० क० ८८); अगरुधूम (आ० क० १०२); आरतीवेला (आ० क० १०३)।

प्रसाद के शब्दों में एक अभिजात गरिमा है जो प्राचीन संस्कृत साहित्य के अध्ययन और मनन से प्राप्त हुई है। उन के शब्दकोश में 'मधुमाधव' इत्यादि शब्दों की बहुलता है। पर यह 'मधु' केवल लाक्षणिक विशेषण मात्र न हो कर अनुभूति की गाढ़ता और मांसलता का द्योतक है। संयोगवश 'मधु' शब्द का प्रयोग प्रायः सभी छायावादी कवियों ने किया है। पंत की कविता में वह प्रायः विशुद्ध आलंकारिक रूप में आया है। महादेवीजी के काव्य में वह भावना की कोमलता का सूचक है और

निराला के काव्य में 'मधु' प्रायः 'लुप्तमधु' हो गया है। यदि कहीं आया भी है तो संज्ञा बन कर और अपने मूर्त तथा वस्तुगत अर्थ में—

निराला— मौन मधु हो जाय
भाषा मूकता की आड़ में,
मन सरलता की बाढ़ में
जलबिन्दु-सा बह जाय।[१]

पंत— जीवन-मधु संचय को उन्मन
करते प्राणों के अलि गुंजन।[२]

महादेवी— कितनी बीतीं पतझारें
कितने मधु के दिन आये,
मेरी मधुमय पीड़ा को
कोई पर ढूँढ़ न पाये।[३]

प्रसाद— कुसुम-कानन अंचल में मन्द
पवन-प्रेरित सौरभ-साकार,
रचित परमाणु-पराग शरीर
खड़ा हो ले मधु का आधार।[४]

वस्तुतः मधु-मिश्रित पदावली की बहुलता आनन्दवादी प्रसाद की प्रवृत्ति के सर्वथा अनुकूल है। वैदिक साहित्य का उन्होंने प्रगाढ़ अध्ययन किया था। फलस्वरूप उन के काव्य में यजन, अग्निहोत्र, अवभृथ स्नान और पुरोडाश जैसे शब्द भी यदा-कदा मिल जाते हैं। कुछ ऐसे प्रवाहच्युत शब्दों का भी उन्होंने प्रयोग किया है जो अब प्रचलित नहीं हैं। जैसे—तिमिंगल, शरभ इत्यादि। उन की कुछ अत्यन्त सफल उपमाएँ नाटकों के परिवेश से लायी गयी हैं। मनु के लिए 'अधमपात्रमय-सा विष्कम्भ' उपमा इसी प्रकार की है। इसी तरह इन्द्रजाल और जादू-टोना वाले शब्द भी उन के यहाँ बहुत मिलते हैं। वस्तुतः इसी कोटि के शब्दों की खोज में उन की स्वच्छन्द कल्पना का सर्वाधिक उपयोग हुआ है। कुल मिला कर प्रसाद ने नये शब्दों का निर्माण अपेक्षाकृत कम किया है। उन की प्रतिभा ने या तो कुछ प्रसंग-गर्भ पुराने शब्दों का पुनरुद्धार किया है या कुछ अल्प परिचित शब्दों को काव्यात्मक साँचे में ढाल कर उन्हें नयी गति और व्यंजना दे दी है। फलस्वरूप प्रसाद के सर्वोत्तम बिम्ब या तो ऐतिहासिक और सांस्कृतिक अनुषंगों को जगाने वाले हैं या फिर रूमानी भावनाओं और स्वच्छन्द कल्पनावृत्ति को उद्रिक्त करने वाले। उन के बिम्बों में क्षणिक संवेदनाओं की अभिव्यक्ति

---

१. परिमल; पृ० २६.
२. गुंजन; पृ० १०,
३. आधुनिक कवि : भाग १; पृ० २०.
४. कामायनी; पृ० ४८.

उतनी नहीं है जितनी संचित स्मृतियों की। उन के बिम्बविधान की इस विलक्षणता का रहस्य उन के शब्दों के प्राचीन सन्दर्भों में ढूँढ़ा जा सकता है।

पंत का शब्द-भाण्डार अपेक्षाकृत नया है। उन्होंने शब्दों का आविष्कार अथवा पुनरुद्धार नहीं किया है। उन में नवीनता का आग्रह अधिक था। अतः उन्हें नये भावों के अनुकूल शब्दों का निर्माण करना पड़ा। इस दिशा में उन्होंने अत्यन्त परिष्कृत और सूक्ष्म कलादृष्टि का परिचय दिया। पुराने शब्द भी लिये तो नये संस्कार के साथ। इस कार्य में उन्हें संस्कृत के प्रत्ययों और उपसर्गों की पूरी सहायता लेनी पड़ी। पर उन्होंने व्याकरण की सीमाएँ नहीं स्वीकार कीं। भावगत सन्दर्भ के अनुसार शब्दों के रूप और लिंगादि भी परिवर्तित किये। इस निर्माण-कार्य में उन्होंने पूर्ण स्वच्छन्द-दृष्टि का परिचय दिया जो उन के भाववादी दर्शन के सर्वथा अनुकूल है। रवीन्द्रनाथ की पदावली से भी उन्होंने पर्याप्त प्रभाव ग्रहण किया। पर केवल पदावली लेने से ही हिन्दी-भाषा को आधुनिक नहीं बनाया जा सकता था। उस के मूलभूत ढाँचे में परिवर्तन आवश्यक था। पंत ने प्रभाव चाहे जहाँ से लिया हो, पर उन्होंने हिन्दी की अपनी प्रकृति को सदैव ध्यान में रखा। उन की दृष्टि अर्थ से अधिक शब्दों की ध्वनि अथवा राग-पक्ष पर केन्द्रित थी। इसीलिए उन्होंने शब्द के दो पक्ष माने हैं। वह शरीर से तो व्याकरण की सीमा में बद्ध होता है, पर उस की आत्मा राग के आकाश में पक्षियों की तरह स्वतन्त्र होती है।[1] शब्दों के इस स्वतन्त्र-पक्ष को उन्होंने बराबर ध्यान में रखा। मत्स्य, भ्रू, हिलोर, लहर, तरंग, वीचि, ऊर्मि, पंख, स्पर्श, अनिल, वायु, श्वसन, प्रभंजन, समीर आदि शब्दो के सूक्ष्म रागतत्त्व के निर्णय में उन्होंने अद्भुत शब्द-संवेदना का परिचय दिया है। शब्दों के प्रति ऐसा आत्मीय भाव किसी अन्य छायावादी कवि में नहीं पाया जाता। नये शब्दों के निर्माण के अतिरिक्त पंत ने जो सब से क्रान्तिकारी कार्य किया वह था अनावश्यक संयुक्त क्रियाओं का बहिष्कार। उन की पूर्ति उन्हें संस्कृत के कृदन्त विशेषणों से करनी पड़ी। विशेषण-प्रधान होने के कारण उन की भाषा स्वभावतः बिम्ब-बहुल हो गयी। स्वप्निल, फेनिल, रोमिल, ऊर्मिल, रक्तिम, स्वर्णिम आदि अनेक बिम्बधर्मी विशेषण उन्होंने हिन्दी को दिये। रलमल, टलमल आदि ध्वन्यर्थ-व्यंजक शब्द भी उन्होंने ही पहले-पहल प्रयुक्त किये। मधुबाल, पल्लवबाल, सलिलबालिका जैसे नये समास और रंगिणि, प्राण, पांशुल और शिलोच्चय जैसी नयी व्यंजनाओं वाले शब्द उन को मौलिक सृजनात्मक शक्ति के स्थायी स्मारक हैं। इन के अतिरिक्त उन्होंने शब्दों के कुछ नये युग्म भी गढ़े जिन्हें उस पूरे युग ने अपना लिया। 'निशिभोर' और 'दिशि-पल' ऐसे ही शब्द हैं। अवकाश (स्पेस) और काल (टाइम) जैसे भारी-भरकम शब्दों के लिए 'दिशिपल' शब्द कितना हलका-फुलका और सार्थक है। कोमलता, व्यंज-कता और ऐन्द्रियता—उन के द्वारा निर्मित और आविष्कृत शब्दों के ये तीन विशिष्ट

---

१. पल्लव (प्रवेश); पृ० २९.

गुण हैं। पर उन का सब से बड़ा योगदान बिम्बधर्मी विशेषणों के क्षेत्र में है, जिन के आगमन से क्रिया-प्रधान हिन्दी भाषा कृदन्त-बहुल और विशेषण-प्रधान हो गयी।

निराला के शब्द अधिक स्वतःस्फूर्त और अयत्नज हैं। उन में खोज अथवा आविष्कार की प्रवृत्ति कम पायी जाती है। अनुभूति की सहज लपेट में जो शब्द आ गये हैं उन्हें उन्होंने ज्यों-का-त्यों अपना लिया है। इसीलिए कभी-कभी अप्रचलित और अकाव्यात्मक शब्द भी उन के यहाँ मिल जाते हैं। पर उन के शब्दों की सब से बड़ी विशेषता यह है कि उन से केवल कवि की तत्कालीन मनःस्थिति और भावना का ही बोध नहीं होता, बल्कि वे उस के विचारों की दिशा को भी सूचित करते हैं। नवीनता और औदात्यबोधक शब्द उन के यहाँ अधिक हैं—जैसे नव, नवल, कम्प, विप्लव, उद्दाम, ऊर्ध्वग, मण्डलाकार आदि। इसी प्रकार रंजोग़म, मीनार और मक़बरे जैसे चलते हुए उर्दू शब्दों को भी उन्होंने अपनी तत्सम-प्रधान हिन्दी के बीच उदारतापूर्वक स्थान दिया है। व्यापकता और क्षेत्र की दृष्टि से उन के शब्दों में विस्तार और वैविध्य अधिक हैं। पन्त की तरह उन्होंने विशेषणों के प्रति अधिक झुकाव नहीं दिखाया। उन की दृष्टि वाक्य के सम्पूर्ण सौन्दर्य पर केन्द्रित रहती थी। इसीलिए उन के बिम्बों की स्थिति अलग-अलग शब्दों में न हो कर, सम्पूर्ण वाक्य की सम्बद्धता में पायी जाती है। शब्दों के चुनाव में उन्होंने अधिक वस्तुपरक दृष्टि से काम लिया है। पत्रांक, पार्श्वच्छवि और सैकतविहार जैसे कुछ नये काव्यात्मक मुहाविरे भी उन के यहाँ मिल जाते हैं। उन के शब्दों में ऐन्द्रियता कम और आवेग अधिक है। रूपदक्ष शिल्पी की भाँति उन्होंने अपने शब्दों को बहुत तराशा नहीं है। उन में कहीं-कहीं एक अकृत्रिम खुरदुरापन और अनगढ़ता मिल जाती है। पर उन के शब्दों की सब से बड़ी विशेषता यह है कि उन में एक ऐसी भावात्मक सच्चाई होती है जो प्रत्येक शब्द को अपने स्थान पर अनिवार्य और अद्वितीय बना देती है। निराला के शब्द अपनी सम्पूर्ण अर्थवत्ता क्रिया से संयुक्त होने के बाद ही प्रकट करते हैं। क्रिया से विमुक्त कर देने पर उन के शब्दों की शोभा क्षीण और संकुचित हो जाती है। चूँकि उन के शब्दों में अर्थभूमि का विस्तार और वैविध्य अधिक है अतः उन के बिम्ब भी जीवन को अनेक भूमियों और दिशाओं का स्पर्श करते हैं। वाक्य की सम्पूर्ण इकाई के प्रति समर्पित होने के कारण उन के शब्द सज्जात्मक न हो कर, स्वभावगत और क्रिया-विधायक अधिक हैं। फलतः उन के बिम्ब भी अधिक वस्तुपरक और गत्यात्मक हैं।

महादेवीजी के शब्दों की सीमा उन की अपनी सुरुचि और व्यक्तिगत परिवेश की सीमा है। अन्य छायावादियों की तरह शब्दों और बिम्बों की खोज में उन्हे अपने घर की सीमा के बाहर बहुत कम जाना पड़ा है। जिन वस्तुओं से एक सुरुचि-सम्पन्न नारी अपने घर और आसपास को अलंकृत और आकर्षक बनाती है उन्हीं वस्तुओं के कलात्मक उपयोग से उन्होंने अपने काव्य को मूर्त और भास्वर रूप प्रदान किया है। वही दीपशिखा, अंगराग, घनसार, दर्पण, केसर, अगरुधूम, वेणीबन्धन, शीशफूल, अलक्तक और

दुकूल आदि कुछ ऐसे शब्द हैं जो उन की रहस्यात्म कविताओं को भी एक घरेलू स्पर्श से मुक्त कर देते हैं। इन परिचित शब्दसंकेतों से उन्होंने एक अत्यन्त मोहक और आत्मीय वातावरण तैयार किया है। स्वभाव से कलाकार होने के कारण उन्होंने चित्र के वाह्य उपकरणों का भी काव्यात्मक उपयोग किया है। तूलिका, प्याली, चित्रपटी, मोम, रेखाक्रम इत्यादि शब्द उन के यहाँ प्रायः मिल जाते हैं। इसी कलाप्रियता ने उन्हें दीप्त और आकर्षक रंगों की ओर आकृष्ट किया। मरकत, नीलम, मोती और प्रवालकुंज जैसे शब्द इसी सौन्दर्य-दृष्टि की उपज हैं। प्राकृतिक वस्तुओं में वे शेफाली, मौलश्री, हरसिंगार और वकुल की परिधि के बाहर बहुत कम गयीं और यदि गयीं भी तो अधिक से अधिक वानीरकुंज तक। व्यापकता की दृष्टि से महादेवीजी का शब्दकोश छायावाद के अन्य बड़े कवियों की तुलना में बहुत सीमित है। पर उन्होंने अपने गिने-चुने शब्दों को भी तराश कर एक ऐसी दीप्ति और कलात्मक गरिमा दे दी है जो दूर से ही पाठक को अपनी ओर आकृष्ट करती है। परिष्कृत और प्रांजलता की दृष्टि से उन का शब्द-वैभव सम्पूर्ण छायावादी काव्य में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। उन्होंने शब्दों के संचयन और पद-विन्यास में अत्यधिक सतर्कता से काम लिया है। उन की बिम्ब-योजना में भी चेतन कला-पद्धति की प्रवृत्ति स्पष्ट है। इस अत्यधिक कलात्मक सतर्कता के कारण उन के बिम्बों में स्वतःस्फूर्तता कम और अलंकृति अधिक है।

इन कुछ थोड़े से उदाहरणों से स्पष्ट हो गया होगा कि छायावादी कवियों ने किस प्रकार हिन्दी के शब्द-भाण्डार को विकसित और समृद्ध किया। यह एक ऐतिहासिक कार्य था जिस के अभाव में आधुनिक हिन्दी कविता का स्वस्थ विकास असम्भव था। पर भाव-रंजित और कल्पना-स्फीत पदावली का मोह धीरे-धीरे बढ़ता गया और इस का प्रभाव काव्य के वस्तु-पक्ष पर भी पड़ा। अन्त तक जाते-जाते शब्द-सौन्दर्य इतना प्रधान हो उठा कि सूक्ष्म शब्दशिल्पी पंत को भी वह गहन भावापन्न काव्य की अपेक्षा 'अलंकृत संगीत' के अधिक निकट जान पड़ा।[१] इस का कारण यह था कि छायावादियों ने पश्चिम के प्रतीकवादियों की तरह 'उपयुक्ततम' और 'एकमात्र' शब्द के पीछे अपनी कल्पना को उतना नहीं दौड़ाया जितना 'सुन्दर' और 'आकर्षक' शब्दों के पीछे। परिणाम यह हुआ कि उन का काव्य सुन्दर और चुने हुए शब्दों की एक रागमाला बन गया। शब्द के राग-पक्ष पर उन्होंने इतना अधिक ध्यान दिया कि उस का मूर्त और वस्तुगत पक्ष दब-सा गया। पंत और निराला की आरम्भिक कविताओं में यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है। निराला ने तो बाद में अपने को कल्पना स्फीत पदावली के मोह से मुक्त कर लिया, पर पंत के 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्णधूलि' नामक संग्रहों में यह प्रवृत्ति और अधिक विकसित और कलात्मक रूप में सामने आयी। छायावादी कवियों की शब्द चेतना की सब से बड़ी सीमा यह थी कि उन्होंने शब्द को प्रायः सन्दर्भमुक्त और वायवी

---

१. आधुनिक कवि—भाग २; पृ० १०.

छायावादी बिम्बविधान

रूप में ही अधिक देखा। परिणामतः इस ऐतिहासिक तथ्य को नहीं लक्ष्य कर पाये कि शब्द अपने-आप में आकर्षक अथवा विकर्षक नहीं होते। उन का सौन्दर्य उन के अर्थगत सन्दर्भ पर ही निर्भर करता है। आई० ए० रिचर्ड्स ने बहुत तर्कपूर्ण ढंग से इस मत की स्थापना की है कि काव्यगत शब्द की ध्वनि तो पाठक के मनोवेग के साथ ही बदल जाती है, पर उस के संगीत-तत्त्व का अन्तिम निर्धारण स्वयं उस के मूलभूत अर्थ के द्वारा ही होता है।[१] अलंकृत संगीत की प्रधानता के कारण छायावादी काव्य-भाषा की मूर्तता क्रमशः कम होती गयी और उस में अमूर्त (ऐब्सट्रैक्ट) शब्दों का समावेश होता गया। इस स्थिति का प्रभाव कविता के बिम्बविधान पर भी पड़ा। उस में अनावश्यक स्फीति और अलंकृति बढ़ती गयी। पर छायावाद युग के अन्तिम चरण में 'कामायनी' और 'राम की शक्ति-पूजा' जैसी श्रेष्ठ कृतियों ने बिम्बविधान की दिशा में एक नया मोड़ लिया। यह मोड़ आकस्मिक नहीं था। ध्यान से देखा जाये तो इन कृतियों की शब्दावली भी छायावाद की आरम्भिक मोहक पदावली से बहुत बदली हुई और वैविध्यपूर्ण है। यह इस बात का सूचक है कि अपने अन्तिम दिनों में छायावादी काव्य यथार्थ के विषम धरातल पर उतरने का प्रयास कर रहा था।

पुराने शब्दों में नये अर्थों का प्रक्षेपण

छायावाद ने हिन्दी कविता को केवल नये शब्द ही नहीं दिये, उस ने बहुत से पुराने शब्दों को अपनी कल्पना के स्पर्श से पुनर्जीवित किया। ऐसे शब्दों की संख्या बहुत अधिक है। इस वर्ग के शब्दों को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं। पहले प्रकार के शब्द वे हैं जो सामान्य व्यवहार में कुछ और अर्थ रखते थे, पर छायावादी कवियों ने उन के अर्थगत अनुषंग को एक नयी दिशा में मोड़ दिया। दूसरे प्रकार के शब्द वे हैं जिन्हें साहित्य अथवा इतिहास के रूढ़िबद्ध सन्दर्भों से मुक्त कर के पहली बार नयी व्यंजना और नया जीवन प्रदान किया गया। छायावादी काव्य के रूप-विन्यास को अभिनव सौन्दर्य प्रदान करने में इन शब्दों का बहुद बड़ा हाथ है। 'क्षितिज' शब्द साहित्य में पहले भी था और पुराने कवियों ने भी पृथ्वी को घेरने वाली इस धुँधली-सी रहस्यमय परिधि को देखा अवश्य होगा। पर छायावादी कवि ने जब पहली बार एक नयी अर्थ-भंगिमा के साथ 'मेरा क्षितिज' कहा तो यह अमूर्त शब्द सहसा मूर्त हो उठा :

---

१. "There are no gloomy and no gay vowels or syllables, and the army of critics who have attempted to analyse the effects of passages into vowels and consonantal collocations have, in fact, been merely amusing themselves. The way in which the sound of a word is taken, varies with the emotion already in being. But further, it varies with the sense." —*Principles of Literary Criticism*; 137.

तुम हो कौन, और मैं क्या हूँ
इस में क्या है धरा, सुनो।
मानस-जलधि रहे चिरचुम्बित
मेरे क्षितिज उदार बनो।[1]

अथवा—

इस अचल क्षितिज-रेखा से
तुम रहो निकट जीवन के,
पर तुम्हें पकड़ पाने के
सारे प्रयत्न हों फीके।[2]

'कमल' शब्द का भारतीय काव्य-जगत् में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारतीय काव्य की सम्पूर्ण जातीय विशेषताओं को सूचित करने के लिए यह एक शब्द पर्याप्त है। परम्परागत साहित्यिक रूढ़ि के अनुसार छायावाद के पूर्व तक इस शब्द का उपयोग नायिका के मुख-सौन्दर्य के उपमान के रूप में होता रहा। मुख के अतिरिक्त नेत्र, कर और चरण के उपमान के रूप में भी 'कमल' का प्रयोग प्रायः मिलता है। पर निराला ने जब इस शब्द को पहली बार परम्परागत रूढ़ि से निकाल कर आधुनिक वास्तविकता के सन्दर्भ में रखा तो जो 'कमल' केवल नायिका के मुख का प्रतीक था, वह सम्पूर्ण मानवता का प्रतीक हो उठा :

मानव मानव से नहीं भिन्न,
निश्चय, हो श्वेत, कृष्ण अथवा,
वह नहीं क्लिन्न,
भेद कर पंक
निकलता कमल जो मानव का
वह निष्कलंक,
हो कोई सर।[3]

इसी प्रकार 'गोधूली' शब्द अपने सामान्य रूढ़ अर्थ में छायावाद से पहले भी प्रचलित था। इस शब्द का मौलिक अर्थ तो है दिन का वह समय जब चर कर लौटती हुई गायों के खुरों से उड़ी हुई धूल वायुमण्डल में भर जाती है। अर्थात् सूर्यास्त। पर छायावादी कल्पना ने अपनी रहस्यात्मक प्रवृत्ति के अनुसार इस शब्द में एक अद्भुत मोहकता भर दी। वस्तु-जगत् की चिरपरिचित गोधूली-कवि-कल्पना से छन कर एक अधिक जटिल और रहस्यात्मक गोधूली बन गयी :

---

१. लहर; पृ० १०.
२. आधुनिक कवि—भाग १; पृ० २६.
३. अनामिका; पृ० १८-१६.

शशि-मुख पर घूँघट डाले
अंचल में दीप छिपाये ।
जीवन की गोधूली में
कौतूहल से तुम आये ।

प्रसाद के काव्य में इस प्रकार की नयी अर्थवत्ता वाले पुराने शब्द बहुत मिल सकते हैं । मधुवन, अन्तरिक्ष और इन्द्रजाल आदि इसी कोटि के शब्द हैं । पर उन्होंने कुछ अत्यन्त दुर्लभ शब्दों को भी विस्मृति के गर्त से निकाल कर पहली बार आधुनिक जीवन के सन्दर्भ में रखा है । ऐसे शब्दों की संख्या बहुत हो सकती है । परन्तु यहाँ हम केवल उन्हीं शब्दों की चर्चा कर रहे हैं जिन के द्वारा छायावादी कविता के बिम्ब-विधान में कोई भिन्नता या विशिष्टता आयी है । प्रसाद ने कुछ ऐसे शब्दों में भी नया अर्थ डालने का प्रयास किया है जिन के साथ एक विशेष प्रकार का ऐतिहासिक अनुषंग जुड़ा हुआ है । 'स्तूप' एक ऐसा ही शब्द है जो बौद्ध धर्म के साथ अभिन्न रूप से सम्पृक्त होने के कारण हमारे मन में एक विशेष प्रकार की सांस्कृतिक चेतना उत्पन्न करता है । इस शब्द में एक अद्भुत प्रतीकात्मक शक्ति है जिस की ओर पहले किसी कवि का ध्यान नहीं गया था । प्रसाद ने पहली बार उस को पहचाना और उस के रूढ़ अर्थ से मुक्त कर के उसे एक सर्वथा नये रूप में प्रस्तुत किया :

एक विस्मृति का स्तूप अचेत
ज्योति का धुँधला-सा प्रतिबिम्ब,
और जड़ता की जीवन-राशि
सफलता का संकलित विलम्ब ।[१]

महा-जलप्लावन के बाद एकाकी बचे हुए मनु के लिए 'विस्मृति का स्तूप' जैसा अर्थपूर्त और अछूता बिम्ब प्रसाद की ऐतिहासिक कल्पना का सर्वोत्तम उदाहरण है । पर यह 'स्तूप' शब्द का नया और प्रक्षिप्त अर्थ है जो उस की घनीभूत प्रतीकात्मकता के कारण उसे मिस्र देश के 'पिरैमिडों' के निकट ले जाता है । इस सूची को और आगे तक बढ़ाया जा सकता है । पर यहाँ विस्तार में जाना हमारा उद्देश्य नहीं । छायावादी कविता के पद-विन्यास की विशिष्टता को सूचित करने के लिए ये उदाहरण पर्याप्त होंगे ।

अमूर्त शब्द

इस मूर्त और संवेदनशील शब्दों के साथ-साथ सम्पूर्ण छायावादी काव्य में कुछ ऐसे अमूर्त और मूल्यपरक शब्द भी मिलते हैं जिन का उपयोग उस युग के लगभग सभी कवि समान रूप से करते हैं । ऐसे अमूर्त शब्दों से छायावादी कविता का रूप-विधान बहुत दूर तक प्रभावित हुआ है । यहाँ इस प्रकार के कुछ शब्द दिये जाते हैं :

---

१. कामायनी; पृ० ४६.

कल्पना, चेतना, अर्चना, साधना, स्वप्न, सत्य, सीमा, असीम, अनन्त, प्रणय, स्नेह, करुणा, मोह, सुषमा, शोभा, सौन्दर्य, प्रकाश, आलोक, जागृति, परिवर्तन, विवर्तन, उत्थान-पतन, कल्प-कल्पान्तर, प्रेरणा, भावना, मर्म, सुधि, पाथेय, वेदना, व्यथा, विषाद, पीड़ा, ज्वाला, बीज, विकास, विसर्जन, सुख-दुःख, साकार-निराकार, हास-अश्रु, मिलन-विरह, छलना, भ्रान्ति, सिद्धि, समृद्धि, पतझर-मधुमास, आशा-निराशा, मुक्ति, बन्धन, इच्छा, स्पृहा, अभिलाषा, रूप, अरूप, ब्रह्म माया, ज्ञान, शून्य, कौतूहल, निमन्त्रण, छाया, मादकता, उन्माद, जड़, चेतन, वरदान, अभिशाप, निर्माण, सृजन, रहस्य, आनन्द, प्रकाश-अन्धकार, अस्तित्व-अनस्तित्व, इस पार, उस पार, सृष्टि, प्रलय, चिति, शक्ति, मंगल, आनन्द, संवेदन, अवकाश, विश्रान्ति, संज्ञा, विस्मृति, मूर्च्छा, जागरण, ज्योति, संस्कृति, मानवता ।

सामान्यतः इस प्रकार के अमूर्त शब्दों का प्रयोग सभी छायावादी कवियों ने किया है । परन्तु महादेवीजी के काव्य में इस वर्ग के शब्द सब से अधिक मिलेंगे और निराला के काव्य में सब से कम । रहस्यपरक कविताओं में अमूर्त शब्दों की बहुलता स्वाभाविक ही है । जहाँ अनुभूतियाँ अधिक स्पष्ट और वस्तुपरक होंगी वहाँ अमूर्त शब्दों का समावेश कम से कम होगा । निराला की अनुभूतियाँ इसी कोटि की हैं । प्रसाद के काव्य में जो अमूर्त शब्द मिलते हैं वे अन्य कवियों से कुछ भिन्न हैं । वे या तो उन की अनुभूति का अंग बन कर आते हैं या उन के जीवन-दर्शन का सूक्ष्म संकेत बन कर । इसीलिए उन के अमूर्त शब्दों से भी कभी-कभी एक अद्भुत रूप खड़ा हो जाता है । जैसे—

> मनु का मन था विकल हो उठा
> **संवेदन से खाकर चोट ।**
> संवेदन ? जीवन जगती को
> देता जो कटुता से घोंट ।[1]

इन पंक्तियों को पढ़ कर संवेदना की चोट से आहत मनु का एक अस्त-व्यस्त-सा चित्र आँखों के आगे खड़ा हो जाता है । इस का कारण यह है कि प्रसाद के अमूर्त शब्द महादेवीजी के 'स्वप्न-सत्य' और 'वरदान-अभिशाप' जैसे शब्दों की तरह नितान्त भावात्मक नहीं होते । वे जब 'सौन्दर्य' और 'आनन्द' शब्द का प्रयोग करते हैं तो उन के सामने इन शब्दों का एक अस्पष्ट-सा अनुभूति चित्र भी होता है । अतीत-आनन्द का यह नादानुकृत बिम्ब देखिए—

> निश्चिन्त आह ! वह था कितना
> उल्लास, काकली के स्वर में ।

---

१. कामायनी; पृ० ३६.

आनन्द-प्रतिध्वनि गूँज रही
जीवन-दिगन्त के अम्बर में ।[1]

उत्तरकालीन छायावादी कवियों में अमूर्त शब्दों की यह सूची और लम्बी हो गयी है। फलस्वरूप कविता का मूर्तरूप दब-सा गया है और वह क्रमशः सूक्ष्म और जटिल होती गयी है। बच्चन, नरेन्द्र और अंचल आदि कवियों में इस प्रवृत्ति के विरुद्ध एक स्वस्थ प्रतिक्रिया भी देखी जा सकती है। इन कवियों के ऐतिहासिक महत्त्व पर हम आगे विचार करेंगे।

बिम्बधर्मी विशेषण

वाक्य में बिम्ब की स्थिति कहाँ मानी जाये—इस पर बहुत विवाद है। मुख्यतया वाक्य के तीन भाग हो सकते हैं : संज्ञा, क्रिया और विशेषण। इन में बिम्ब की स्थिति किस में होती है, यह प्रश्न विचारणीय है। सामान्यतः वह कहीं भी, किसी भी रूप में हो सकता है। उस की स्थिति संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया और विशेषण—इन सब में एक साथ अन्तर्मुक्त भी हो सकती है। विशेष रूप से उस की सत्ता विशेषण और क्रिया में ही मानी जाती है। कारण यह है कि वाक्य के वैशिष्ट्य को जितना विशेषण और क्रियाएँ व्यक्त करती हैं उतना सज्ञा अथवा सर्वनाम नहीं। संज्ञा प्रत्यक्ष वस्तु को, सर्वनाम परोक्ष वस्तु को तथा विशेषण और क्रिया क्रमशः वस्तु के गुण और धर्म को व्यक्त करते हैं। जिस प्रकार विशेषण से विशेष्य की कोई विलक्षणता उद्घाटित होती है, उसी प्रकार क्रिया अथवा क्रिया-विशेषण से भी। अतः बिम्ब की स्थिति मुख्यतः इन्हीं तीनों में देखी जाती है। प्रायः कल्पनाशील कवि अनुभूति को मूर्त और सहजग्राह्य बनाने के लिए विशेषणों की सहायता लेते हैं। पर जहाँ अनुभूति अधिक तीव्र और गहन होती है वहाँ वाक्य सीधे-सादे निकलते हैं—जैसे कबीर के अनुभूतिप्रवण दोहे। पर जहाँ कल्पना अधिक स्वच्छन्द और आवेगशील होती है वहाँ स्वभावतः विशेषणों की भरमार हो जाती है। कल्पना-वृत्ति की इसी प्रमुखता के कारण छायावादी काव्य में विशेषणों की बहुलता पायी जाती है। पर सभी विशेषण मूर्त अथवा बिम्बधर्मी नहीं होते। जैसे 'सुन्दर फूल' कहने से फूल की न तो कोई विशिष्टता ही व्यंजित होती है न उस का कोई रूप ही खड़ा होता है। सामान्य व्यवहार की भाषा में विशेषण इसी रूप में पाये जाते हैं। पर कविता का काम ऐसे विशेषणों से नहीं चलता। वहाँ उस में नवीनता, मूर्तिमता और ध्वन्यात्मकता—ये तीनों ही विशेषताएँ आवश्यक होती हैं। ये गुण उस में तभी आ सकते हैं जब विशेषण और विशेष्य का सम्बन्ध ऐन्द्रिय स्तर पर स्थापित किया गया हो। सामान्य बोलचाल के विशेषणों—जैसे अच्छा, सुन्दर, सफल आदि में—यह विशेपता नहीं होती हैं। अतः कवि को नये, अकल्पित विशेषणों की उद्भावना करनी

१. कामायनी; पृ० ६३.

पड़ती है। छायावादी कवियों ने विशेषणों के चुनाव में विशेष सतर्कता से काम लिया है। उन्होंने प्रायः अमूर्त और अस्पष्ट वस्तुओं के लिए भी ऐन्द्रिय विशेषण ही चुने हैं। इस से उन के विशेषणों में एक अद्भुत संवेदनशीलता और तीव्रता आ गयी है। विशेषणों का प्रयोग पहले के कवियों ने भी किया है। रीतिकालीन कवियों ने तो आँख, मुख, वक्षोदेश और नायिका के शरीर की कान्ति के लिए अनेक नये विशेषणों की कल्पना की है। पर घनानन्द को छोड़ कर किसी अन्य कवि ने इस दिशा में कोई साहसिक प्रयास नहीं किया है। छायावादी कवियों ने विशेष्य (वस्तु) के विस्तार के साथ-साथ विशेषणों के क्षेत्र का भी विस्तार किया। फलतः अनेक सूक्ष्म-जटिल वस्तुओं की विशेषताएँ पहली बार उद्घाटित हुईं। जीवन और जगत् के अलग-अलग पड़े हुए असंख्य विशेष्य और विशेषण पहली बार एक दूसरे के निकट लाये गये। इस कार्य में सृष्टि-विधायिनी स्वच्छन्द कल्पना का पूरा उपयोग किया गया। परिणाम यह हुआ कि कुछ ऐसे विशेष्य और विशेषणों के बीच भी सम्बन्ध स्थापित किया गया जिन में ऊपर से देखने पर कोई समानता अथवा निकटता नही थी। अनेक विशेषणों को उन के चिरपरिचित सन्दर्भ से स्थानान्तरित कर के नये अपरिचित सन्दर्भों से संयुक्त किया गया। आधुनिक समीक्षा की भाषा में यह पद्धति 'विशेषण-विपर्यय' के नाम से पुकारी जाती है। हिन्दी कविता के रूप-विन्यास के विकास में छायावादियों की यह देन बहुत महत्त्वपूर्ण मानी जायेगी। कदाचित् काव्य के रूप-विधान में विशेषण को इतना महत्त्व कभी दिया भी नहीं गया। यह छायावाद कवियों के भाववादी दृष्टिकोण और उर्वर कल्पनाशीलता का ही परिणाम है कि उन्होंने विशेष्य से अधिक विशेषणों को महत्त्व दिया। नीचे छायावाद के प्रमुख कवियों द्वारा प्रयुक्त कुछ महत्त्वपूर्ण विशेषणों के उदाहरण दिये जाते है :

पंत

स्वप्निल मुस्कान (पल्लव-पृ० ५३); निःस्वन राग (पृ० ५४); गुंजित मधु-मास (पृ० ५४); नीरव घोष (पृ० ५५); सुरीले अधर (पृ० ५६); नीरव भाषण (पृ० ६०); सुरभित उच्छ्वास (पृ० ६४); गूढ़ गर्जन (पृ० ६६); पीन पुकार (पृ० ६९); झीनी झनकार (पृ० ६९); दुहरे स्वर (पृ० ६९); गुंजित ज्या (पृ० ८३); ऊँघता संसार (पृ० ९१); स्तब्ध ज्योत्स्ना (पृ० ९१); कनक छाया (पृ० ९१); सुरभि-पीड़ित मधुप (पृ० ९१); जीवित छाया (पृ० ९४); तुतलामय (पृ० १०७); अवाक् भारति (पृ० ११०); नीरव उत्सुकता (पृ० १११); हर्षोज्ज्वल दिन (पृ० १२१); ज्योतित स्मृति (पृ० १२१); फेनिल हास (पृ० १२५); रोमिल पंख (पृ० १२८); तरल रसाल (पृ० १३१); नग्न गगन (पृ० १३२); पांशुल श्रम (पृ० १३३); पृथुल सरलपन (पृ० १३६); पीला परिवर्तन (पृ० १३७); वृद्ध विश्व (पृ० १४०); तुतला उपक्रम (पृ० १४३); नग्न सुन्दरता (पृ० १४७) मंजरित यौवन (पृ० १६१); उन्मन गुंजन (गुं०, ९); नीरव नयन (गुं० २४);

गूढ़ सरलयन (गुं० २८); गुंजित भाव (गुं० ३३); नीरव प्रणयाख्यान (गुं० ४४); पुलकित पीपल डाल (गुं० ४६); गूढ़, नीरव, गम्भीर प्रसार (गुं० ४९); स्वर्ण मरन्द (गुं० ५४); गन्ध-गुंजित कुंज (गुं० ६१); निसंग आकाश (गुं० ६५); नील झंकार (गुं० ७४); हरित द्युति (गुं० ७८); मुक्तालोकित सीप (गुं० ८५); एकाकी व्यथा (गुं० ८६); स्वर्णिम स्वप्न (गुं० ९८); अपलक, अनन्त, नीरव भूतल (गुं० १०१); नीला विकास (गुं० १०४); नीली चुप्पी (आ० क० ४८); मांसल रग (आ० क० ६३); नीली-पीली लो (अ० क० ६३); स्वरमयी वेदना (आ० क० ६४) ।

प्रसाद

मधुमय निश्वास (का० पृ० ८); सुरभित अंचल (का० ८), मदमत्त प्रवाह (का० ८); सुरभित दिगन्त (का० १०); पुलकित प्रेमालिंगन (का० १०); मूर्च्छित तान (का० १०); सुरभित भाप (का० १०) आलोक-अधीर अन्तरिक्ष (का० ११); विलोड़ित गृह (का० १६); घनीभूत पवन (का० १७); अलस विषाद (का १७); हरी-भरी दौड़धूप (का० ५); मधुमय अभिशाप (का० ५); जर्जर अवसाद (का० १८); दीन प्रतिध्वनि (का० १९); त्रस्त प्रकृति (का० २३); नव एकान्त (का० २४); शीतल दाह (का० २७); शुभ उत्साह (का० २७); करुणामय मौन (का० ४५); अभिलाषा-कलित अतीत (का० ४९); विलम्ब (का० ४९); सोया सन्देश (का० ५१); शिथिल सुरभि (का० ६३); नील कुंज (का० ६५); नृत्यशिथिल निश्वास (का० ६६); उद्‌बुद्ध क्षितिज (का० ६७); मधुर भार (का० ६९); दुहरी चेतना (का० ७१); हेमाभ रश्मि (का० ७८); उद्‌भ्रान्त उत्तेजना (का० ९२); सुरभित लहर (का० ९७); नीरव निशीथ (का० ९७); पुलकित कदम्ब (का० ९८); उज्ज्वल वरदान (का० १०२); मूर्च्छित नीरवता (का० २१५); मधुपिंगल तरल अग्नि (का० २०७); हठीला बचपन (ल० ९); नर्तित पदचिह्न (ल० ९) व्यंग्य-मलिन उपहास (ल० ११); भोली आत्मकथा (ल० ११); अधीर यौवन (ल० २२); निस्वन किलकारी (ल० २३); संगीत-निनादित गाथाएँ (ल० २६); स्मितिमय चाँदनी (ल० ३७); अभिनव कलरव (ल० ३९); अरुण करुण बिम्ब (ल० ५६); चित्रित तरल चित्रसारी (ल० ५६); थका हुआ दिन (ल० ५९); नीली किरणें (ल० ५९); ऊर्जित आलोक (ल० ६३); मूक घण्टा-ध्वनि (ल० ६३); सजीव उल्लास (ल० ६५); क्षणगन्ध धूमरेखा (ल० ७६) ।

निराला

निरंजन अंजन (अना० ५); पृथुल प्रणय (अना० ५); नीरव चुम्बन (अना० २६); तरंगित सृष्टि (अना० ३१); अविकच जीवन (अना० ४४); मूर्च्छित वसन्त (अना० ५१); निस्तब्ध मीनार (अना० ६३); मौन मक़बरे (अना० ६३); शिथिल

चुम्बन (अना० ६४); चंचल आकाश (अना० ६७); तान-तरल कम्पन (अना० ७०); मूर्तराग (अना० ७४): सैकत विहार (अना० १२१); ज्योत्स्ना चुम्बित वन (अना० १४४); उत्कण्ठित प्यार (परि० ४६); व्याकुल पनघट (परि० ४६); कातर झंकार (परि० ४६); फेनिल शय्या (परि० ४८); अधीर गन्ध (परि० ४९); अधीर नूपुर (परि० ५०); उदास आकाश (परि० ५१); क्रन्दन मलिन पुलिन (परि० ५१); व्यथित अभिमान (परि० ५४); नीरव समाज (परि० ५५); नग्न वेदना (परि० ५५); नृत्य-चपल अधर (परि० ५६); इंगित-मुखरित मुख (परि० ५६); उदार संवाद (परि० ५७); शिथिल घूँघट (परि० ५७); हास्यमधुर उक्ति (परि० ५७); पीन उभार (परि० ५८); मलिन मर्म (परि० ५९); प्रगल्भ धारा (परि० ६०); द्रवनीहार (परि० ६०); अस्त आकाश (परि० ५२); मिलन-मुखर तट (परि० ८१); तन्द्रालस लालसा (परि० १२१); निरंजन आशीर्वाद (परि० १६५); तरुण किरण (परि० १९८); रूपक्षीण महिमा (अपरा, १६५); ज्योतिर्मय प्रपात (अपरा, १६६); उन्मन उपवन (अपरा, १७४); किसलयों-तुली शाखा (अपरा, १७५); दीन नमस्कार (अना० १४०)।

महादेवी वर्मा

दीवानी चोटें (आ० क० ७); ढरकीला श्रम (आ० क० १०); मीठी याद (आ० क० १४); स्वप्निल हाला (आ० क० १५); मधुमय पीड़ा (आ० क० २०); अरुण बान (आ० क० २४); स्वप्निल घन (आ० क० २५); व्यथासिक्त चितवन (आ० क० २६); बेसुध नर्तन (आ० क० ४०); गर्वीला जग (आ० क० ४५); तरल रजत (आ० क० ४८); मूक प्यास (आ० क० ५५); सस्मित चुम्बन (आ० क० ५५); निष्फल दिन (आ० क० ६०); मूक परिचय (आ० क० ६४); चौंकी रजनी (आ० क० ६९); तन्द्रिल पल (आ० क० ७५); सुरभित साँस (आ० क० ६७); पुलकित स्वप्न (आ० क० ४८); पुलकित अवनी (आ० क० ४८); सलज शेफाली (आ० क० ४९); अस्फुट मर्मर (आ० क० ४२); चित्रित पंख (आ० क० ४०); पथहीन तम (आ० क० ७२); कण्टकित मौलश्री (आ० क० ७८); धूपछाँही विरह-बेला (आ० क० ९४) चित्रमय क्रीड़ा (आ० क० ९४); दिग्भ्रान्त झंझा (आ० क० १०३); उजला दुःख (आ० क० ७७); स्पन्दित व्यथा (आ० क० ९१); शिथिल कारा (आ० क० ९१); रसमय प्रस्तर (आ० क० ९३); सुनहला हास (आ० क० ९४); स्निग्ध सुधि (आ० क० १०४); एकाकिनी बरसात (आ० क० १०४)।

पंत में नये विशेषणों के निर्माण की अद्‌भुत क्षमता है। ये आधुनिक हिन्दी कविता के इतिहास में बिम्बधर्मी विशेषणों के पुरस्कर्ता कहे जा सकते हैं। स्वप्निल, स्वर्णिम, फेनिल आदि लाक्षणिक विशेषण उन्होंने ही पहले-पहल हिन्दी को दिये। गूढ़

गर्जन तथा नीरव भाषण जैसे विरोधमूलक विशेषणों की योजना भी उन्हीं के यहाँ सब से पहले देखी जाती है। उन्होंने अधिकतर ऐन्द्रिय विशेषणों का ही चुनाव किया है। ऐन्द्रिय विषयों में भी वर्ण, गन्ध तथा ध्वनि की चेतना उन में सब से अधिक है। अतः वे 'झंकार' जैसे अमूर्त विषय को 'सुनते' नहीं, 'देखते' हैं। और देखते भी हैं तो अपने प्रिय 'नोले रंग' में। यहाँ तक कि चुप्पो भी उन्हें 'नीली' लगती है। पर वस्तुतः यहाँ नीले रंग का आरोप नहीं किया गया है। 'नीला' तो आकाश है। कवि-कल्पना ने उस पर 'झंकार' और 'चुप्पी' का आरोप किया है। पहले से आकाश का दूरव्यापी विस्तार सूचित होता है और दूसरे से उस की घनीभूत गहनता। इस से इस बात का पता चलता है कि छायावादी कविताओं में केवल कल्पित विशेषण ही नहीं मिलते, बल्कि कभी-कभी उस कल्पित विशेषण की सार्थकता सिद्ध करने के लिए उन्हें तदनुरूप विशेष्य का भी आरोप करना पड़ा है। पंत में यह प्रवृत्ति सब से अधिक है। विशेषण-निर्माण की इस अद्भुत क्षमता के कारण उन्होंने कुछ नितान्त अमूर्त विषयों को भी एक मूर्त और ऐन्द्रिय-रूप दे दिया है। 'भय' और 'उपक्रम' ऐसे ही शब्द हैं। इन शब्दों से केवल अर्थग्रहण किया जा सकता है, बिम्बग्रहण कराने की क्षमता इन में है ही नहीं। पर छायावादो कवियों ने यह सिद्ध कर दिया कि कोई भी शब्द अमूर्त नहीं होता। अमूर्तता उस में तभी तक है जब तक योग्य और समर्थ विशेषण से उस का साक्षात्कार नहीं हो जाता। 'तुतला भय' और 'तुतला उपक्रम' कहने से एक भयभीत और लड़खड़ाते हुए शिशु की कातर मूर्ति हमारे सामने खड़ी हो जाती है। पंत के विशेषणों में एक और विशेष प्रवृत्ति देखी जाती है जो अन्यत्र नहीं दिखाई देती। वे केवल विशेषणों का ही विपर्यय नहीं करते। कभी-कभी ऐन्द्रिय विषयों में एक चमत्कारपूर्ण व्यतिक्रम अथवा विपर्यय ला देते हैं—जैसे गन्ध-गुंजित कुंज। 'गन्ध' घ्राण का विषय है और 'गुंजन' श्रुति का। पर इन तोनों संवेदनाओं को मिला कर उन्होंने एक अभूतपूर्व बिम्ब खड़ा कर दिया—'गन्ध-गुंजित'। इस पद्धति को हम 'संवेदनाओं का सम्मिश्रण' कह सकते हैं। छायायादी कवियों में केवल पंत की कृतियों में ही इस प्रकार के उदाहरण मिलते हैं। पर इस पद्धति का पूर्ण विकास छायावादोत्तर कविता, और विशेषतः प्रयोगवादी अथवा नयी कविता में पाया जाता है।

ऐन्द्रियता का गुण प्रसाद के विशेषणों में भी मिलता है। पर पंत से उन का अन्तर इस बात में है कि उन की ऐन्द्रियता का आधार अधिक मूर्त और मांसल है। इसी लिए उन के ऐन्द्रिय विशेषणों में कलात्मकता और सूक्ष्मता चाहे न हो पर तीव्रता अधिक है। कपोलों पर पड़ती हुई मुख की 'सुरभित भाप' और 'नृत्यशिथिल निश्वासों' की कल्पना में यह मांसलता देखी जा सकती है।[१] सामान्यतः उन के विशेषणों की दो कोटियाँ निर्धारित की जा सकती हैं। पहले प्रकार के विशेषणों में मधु, मधुमय, मधुर

---

१. कामायनी.

और पुलकित आदि आनन्दमूलक शब्दों की प्रधानता है। दूसरे प्रकार के विशेषणों में एक थकान और उदासी का भाव अधिक मुखर है। जैसे मूर्च्छित तान, अलस, विषाद, दीन प्रतिध्वनि, करुण बिम्ब आदि। अभिनव विशेषणों की कल्पना की दृष्टि से 'प्रलय की छाया' और 'कामायनी' का लज्जा सर्ग अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। यहाँ इतना कह देना आवश्यक है कि प्रसाद की कविता का बिम्ब विधान विशेषणों के सौन्दर्य पर उतना अवलम्बित नहीं है जितना विशेष्य की मोहकता और विलक्षणता पर। अधिकतर विशेषणों का प्रयोग वे कल्पना के सहज आवेग में कर गये हैं। इसलिए कभी-कभी एक ही वस्तु के लिए दो-दो, तीन-तीन विशेषणों की योजना भी हो गयी है। पर ऐसा उन्होंने प्राय: कथ्य के अनुरूप एक मोहक वातावरण की सृष्टि करने के लिए ही किया है। कुल मिला कर प्रसाद के विशेषण हमें विशेष्य से बहुत दूर नहीं ले जाते, जैसा कि पंत के विशेषणों के साथ होता है। वे अधिक से अधिक हमें एक ऐसे बिन्दु पर ले जा कर छोड़ देते हैं जहाँ से प्रस्तुत वस्तु कुछ विलक्षण और अस्पष्ट दिखाई दे। उन के बिम्बों की मोहकता का यही रहस्य है।

निराला की अधिकांश प्रतिनिधि कविताओं में विशेषणों का अभाव है। तीव्र अनुभूतियों के कवि होने के कारण वे कथ्य को बहुत सजाते-सँवारते नहीं। वे मानो उसे इस विश्वास पर छोड़ देते हैं कि वह अपने आन्तरिक उद्वेग और सहज आवेग से चाहे जैसी भंगिमा प्राप्त कर ले। इसी लिए उन की कविताओं में एक अद्भुत प्रवाह मिलता है। वे आकाश की 'नग्न नीलिमा' की तरह सहज और अनलंकृत अभिव्यक्ति को अपना आदर्श मानते हैं। कवि के शब्दों में :

> अलंकार लेश-रहित, श्लेषहीन,
> शून्य विशेषणों से,
> नग्न नीलिमा-सी व्यक्त
> भाषा सुरक्षित वह वेदों में आज भी।[1]

छायावादी कवि की कला-चेतना को समझने के लिए इस से अच्छा उदाहरण नहीं मिल सकता। कवि ने बड़ी ईमानदारी के साथ वेदों की अलंकाररहित, श्लेषहीन और विशेषणों से शून्य भाषा की महत्ता स्वीकार की है। पर यह रॅमैण्टिक प्रवृत्ति की विलक्षणता ही मानी जावेगी कि उस विशेषणशून्य भाषा के आदर्श रूप को स्पष्ट करने के लिए भी कवि को एक नूतन विशेषण की कल्पना करनी पड़ी—'नग्न नीलिमा-सी व्यक्त'। पर यह निराला के काव्य की सामान्य प्रवृत्ति नहीं है। उन की श्रेष्ठतम कविताओं—जैसे राम की शक्ति-पूजा, सरोज-स्मृति, तुलसीदास आदि—में चित्रोपम विशेषणों की संख्या बहुत कम है। यदि कोई विशेषण आता भी है तो वह वस्तु की किसी मूलभूत विशेषता को उद्घाटित करता है। उस पूरे युग में निराला ही ऐसे कवि हैं जिन के यहाँ

---

१. परिमल; पृ० २६४.

कभी-कभी जीवन की गति और वस्तुगत मानवीय स्थितियों को सूचित करने वाले विशे-षण भी मिल जाते हैं—जैसे नग्न वेदना, व्यथित अभिमान, क्रन्दनमलिन-तुहिन आदि। विशेषणों की बहुलता की दृष्टि से 'यमुना के प्रति' शीर्षक कविता अपना अलग महत्त्व रखती है। वास्तविकता यह है कि वह कविता निराला की अन्य कविताओं की मुख्य धारा से कुछ अलग-सी लगती भी है। अपनी अनुभूति-प्रेरित रचना-प्रक्रिया की पद्धति से हट कर निराला ने उस कविता में काल्पनिक चित्रों और विशेषणों की भरमार लगा दी है। ऊपर उन के प्रमुख बिम्बधर्मी विशेषणों की जो सूची दी गयी है उन में अधि-कांश 'यमुना के प्रति' कविता से ही लिये गये हैं। इस कविता की एक-एक पंक्ति अनेक विशेषणों से लदी हुई है, जब कि दूसरी कविताओं में चित्र-विधायक विशेषणों को प्रयत्न-पूर्वक खोजना पड़ता है। इस से यह सिद्ध होता है कि निराला की कविता में अन्य प्रमुख छायावादी कवियों की तरह सज्जात्मक बिम्ब (डिकोरेटिव इमेज) देने की प्रवृत्ति अपेक्षाकृत कम है। वे 'क्रिया-विधायक' बिम्बों को ही अधिक महत्त्व देते हैं। कविता के रूप-विन्यास की पद्धति पर इस प्रवृत्ति का प्रभाव यह पड़ा कि उन के अधिकांश बिम्ब विशेषण से हटकर क्रियापद में अन्तर्मुक्त हो गये। इसी लिए पंक्ति की मुख्य क्रिया पर वे प्रायः स्वराघात देते हैं। यहाँ दो-एक उदाहरण दिये जाते हैं। पहले सूर्योदय का यह मार्मिक चित्र देखिए—

> जीवन-प्रसून वह वृन्तहीन
> खुल गया उषा-नभ में नवीन।[1]

या वसन्त-शेष का यह चित्र :—

> सुमन भर न लिये,
> सखि, वसन्त गया।[2]

पहले छन्द में 'खुल गया' क्रिया को हटा कर जीवन-प्रसून की कल्पना कीजिए। आँखों के आगे कोई मूर्त रूप नहीं खड़ा होगा। पर 'खुल गया उषा-नभ में नवीन' कहने से जैसे उस की सारी गत्वरता मूर्त हो उठती है। इसी प्रकार सुमन के साथ 'भर न लिये' क्रियापद का प्रयोग भी साभिप्राय समझना चाहिए। सामान्यतः सुमन चुना जाता है, 'भरा' नहीं जाता। पर यहाँ 'भर न लिये' में एक विशेष संकेत निहित है : मानो वसन्त वसन्त न हो कर मधु की कोई लहर या धारा हो जो आयी और आ कर निकल गयी। इस पूरी कल्पना को क्रियापद की एक सूक्ष्म भंगिमा से व्यक्त कर दिया गया है। इस प्रकार के क्रिया-प्रधान बिम्बों की संख्या निराला के काव्य में बहुत अधिक है। वे सज्जात्मक विशेषणों का काम प्रायः क्रियापदों से ही ले लेते हैं।

महादेवीजी के विशेषणों में अधिक चमक और कलात्मक सूक्ष्मता पायी जाती

---

१. परिमल; पृ० ३८.
२. परिमल; पृ० ४०.

है। अपनी जैवी प्रकृति के अनुसार उन्होंने नारी-सुलभ विशेषणों का प्रयोग अधिक किया है—जैसे सलज शेफाली, तन्द्रिल पल, दीवानी चाटें, इत्यादि। चूँकि उनका आगमन छायावाद के प्रौढ़िकाल में हुआ था अतः उन्होंने पूर्वप्रचलित चित्रोपम विशेषणों को भी ज्यों का त्यों अपना लिया है। 'स्वप्निल घन' और 'मधुमय पीड़ा' आदि विशेषण ऐसे ही हैं। अत्यधिक प्रयोग के कारण ये लाक्षणिक विशेषण भी अपनी मूर्तिमत्ता खो चुके हैं। अतः इस प्रकार के विशेषण केवल एक अतिरिक्त अलंकृति का काम करते हैं। महादेवीजी की निजी विशिष्टता की झलक हमें दूसरे प्रकार के विशेषणों में मिलती है—जैसे धूप-छाँही विरहवेला, निष्फल दिन और एकाकिनी बरसात। इन में से अन्तिम विशेषण विशेष ध्यान देने योग्य है। बरसात को 'एकाकिनी' कह कर उन्होंने उस की सारी करुणा को जैसे मूर्त कर दिया है। उन के अधिकांश विशेषण व्यथा अथवा वेदना-प्रधान हैं। यह उन के दुःखवादी जीवन-दर्शन के अनुकूल ही है। ताज़गी और नवीनता की दृष्टि से महादेवीजी के विशेषण पंत और निराला के विशेषणों की तरह स्वतःस्फूर्त नहीं हैं। उन में कल्पनाजनित आवेग कम और कलात्मक सतर्कता अधिक है। उन के विशेषणों का क्षेत्र बहुत विस्तृत नहीं है। इस लिए स्वप्निल, सुरभित और शिथिल जैसे विशेषणों की बार-बार आवृत्ति हुई है।

अप्रस्तुतविधान

छायावादी कवियों के वक्तव्यों को पढ़ने से ऐसा लगता है कि उन का सीधा विरोध अपनी पूर्ववर्ती काव्यधारा से न हो कर, रीतिकालीन प्रवृत्तियों से था। इस लिए उन्होंने सब से पहले प्रचलित काव्य-रूढ़ियों और उस युग की संकुचित सौन्दर्यदृष्टि का विरोध किया। वस्तुतः नयी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति पुरानी रूढ़ियों के माध्यम से हो भी नहीं सकती थी। अतः औपम्य-विधान की परम्परागत प्रणाली और रूप-विधि को छोड़ कर, नवीन परम्परा का सूत्रपात करना आवश्यक था। रीतिकालीन कवियों के लिए अलंकार केवल बाह्य सजावट का साधनमात्र था। पर छायावादी कवियों को ऐसे स्वतःस्फूर्त और अनुभूति-प्रेरित अलंकार चाहिए थे जो कविता का सहज अंग बन सकें। पंतजी के शब्दों में : "अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिए, राग की परिपूर्णता के लिए आवश्यक उपादान हैं, वे वाणी के आचार-व्यवहार, रीति-नीति हैं, पृथक् स्थितियों के पृथक् स्वरूप; भिन्न आस्थाओं के भिन्न चित्र हैं। जैसे वाणी की झंकारें विशेष घटना से टकरा कर फेनाकार हो गयी हों....।"[1] तात्पर्य यह कि छायावादी कवि चन्द्रमा के समान मुख, कमल के समान नेत्र और हाथी के समान मेघ की एकरस कल्पना में एक प्रकार के अर्थसंकोच का अनुभव कर रहा था। वह लक्षण-ग्रन्थों के सीमित घेरे से निकल कर जीवन के अबाध विस्तार में विचरण करना चाहता था। प्रकृति और

---

१. पल्लव--प्रवेश; पृ० ३२.

जीवन के बीच घुल-मिलकर उस की दूरदर्शी कल्पना ने अनेक नये उपमानों और अप्रस्तुतों का आविष्कार कर लिया था। अतः वह मुख, नेत्र और मेघ की 'पृथक् अवस्था के पृथक् चित्र' देना चाहता था। तात्पर्य यह कि वह 'विशेष' का चित्रण करना चाहता था, सामान्य का नहीं। परिणाम यह हुआ कि उसकी वृत्ति विशेषोन्मुख हो गयी। इस से उस की दृष्टि में गहराई आयी और अनुभूति के स्तरों में वैविध्य। मुख सदा चन्द्रमा की तरह नहीं लगता, न नेत्र ही सदा कमल की तरह दीखता है। मेघ भी किन्हीं विशेष क्षणों में हाथी अथवा काजल के पर्वत के समान न दीख कर, अधिक कोमल और सुकुमार रूप में दिखाई दे सकता है। जो मुख रीतिकालीन कवियों के लिए 'चन्द्रमा' था, वह प्रसाद के मनु को उस के ठीक विपरीत 'अरुण रवि-मण्डल' के समान दिखाई देता है :

आह, वह मुख पश्चिम के व्योम—
बीच जब घिरते हों घनश्याम,
अरुण रवि-मण्डल उन को भेद
दिखाई देता हो छविधाम।[१]

पर मनु की स्वच्छन्द कल्पना यहीं रुक नहीं जाती। उस को एक उपमान से सन्तोष नहीं होता :

या कि नव इन्द्रनील लघुशृंग
फोड़ कर धधक रही हो कान्त,
एक लघु ज्वालामुखी अचेत
माधवी रजनी में अश्रान्त।[२]

इसी प्रकार नेत्र को भी छायावादी कवियों ने अनेक रूपों में देखा। उस के भीतर का नीला प्रसार पंत जी को नीले आकाश के समान दीख पड़ा :

तुम्हारी आँखों का आकाश
सरल आँखों का नीलाकाश,
खो गया मेरा खग अनजान,
मृगेक्षिणि ! मेरा खग अनजान।[3]

यह तो विस्तार की बात हुई। प्रसादजी ने नेत्रों की नीली गहराई को एक दूसरे ही रूप में देखा :

नयनों की नीलम की घाटी
जिस रस-घन से छा जाती हो।

---

१. कामायनी; पृ० ४६.
२. कामायनी; पृ० ४७.
३. गुंजन; पृ० ४८.
४. कामायनी; पृ० १०१.

पर इन सब से विलक्षण कल्पना महादेवीजी की है। उन्होंने आँसू-भरे नेत्रों के लिए एक अभूतपूर्व बिम्ब की कल्पना की :

नयन की नीलम तुला पर मोतियों से प्यार तोला,
कर रहा व्यापार कब से मृत्यु से यह प्राण भोला।[१]

मुख और नेत्र छायावादी कविता के प्रासंगिक विषय हैं। उस की कल्पना का उन्मुक्त प्रसार प्रकृति-सम्बन्धी कविताओं में हुआ है। प्राकृतिक वस्तुओं में भी बादल कदाचित् छायावादियों का सब से प्रिय विषय है। अकेले बादल के सम्बन्ध में उस युग में नये उपमानों की जितनी सृष्टियाँ हुईं, सम्भवतः सभी युगों की बादल-सम्बन्धी कल्पनाओं को एकत्र कर देने पर भी उतनी न हों। निराला ने उसे 'सिन्धु का अश्रु'[२] कहा और उस के मुक्त व्योम-विचरण के लिए घर से निकले हुए 'क्रीड़ारत बालक'[३] की उपमा दी। हरे-भरे खेतों पर तैरते हुए बादल उन्हें ऐसे लगे जैसे 'अस्थिर सुख पर दुख की छाया।'[४] पंतजी की कल्पना ने बादल को अनेक रूपों में और अनेक कोणों से देखा है। कभी वह चौकड़ी भरते मृग के समान दिखाई देता है[५], तो कभी सागर के धवल हास, जल के धूम, गगन की धूल, अनिल-फेन, ऊषा के पल्लव, मारुत के फूल, व्योम-बेलि और ज्योत्स्ना के हिम के रूप में।[६] प्रत्येक उपमा एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न और बादल की किसी विशेष अवस्था को सूचित करनेवाली है। कभी वह आकाश में भूतों के समान विकट आकार धारण कर लेता है और कभी :

फिर परियों के बच्चों-से हम
सुभग सीप के पंख पसार,
समुद पैरते शुचि ज्योत्स्ना में
पकड़ इन्दु के कर सुकुमार।[७]

छायावादी कवियों ने जीवन और जगत् के अनेक क्षेत्रों से उपमानों का संग्रह किया। इस से उन की विस्तृत संवेदना और उर्वर कल्पना-शक्ति का पता चलता है। पर इस से भी अधिक जिस बात से पाठक सहज अभिभूत हो जाता है वह है छायावादी कवियों की सूक्ष्म कलादृष्टि। उन के अनुभव करने की दिशा और अभिव्यक्त करने की प्रणाली, दोनों में अन्योन्य सम्बन्ध है। उन के अधिकतर उपमानों का निर्माण अनुभव-गम्य प्रभाव-साम्य के आधार पर हुआ है, प्रत्यक्ष दीखनेवाले स्थूल आकार-साम्य

---

१. आधुनिक कवि—भाग १; पृ० ८५.
२. परिमल; १७६.
३. वही; १८२.
४. वही; १८६.
५. पल्लव; पृ० १२६.
६. वही; पृ० १३३.
७. पल्लव; पृ० १२६.

के आधार पर नहीं। इसी लिए ये उपमान केवल दृष्टि को ही चमत्कृत नहीं करते, उस के साथ-साथ अन्य इन्द्रियों को भी प्रभावित करते हैं। पंतजी जब निर्जन की निस्तब्ध शान्ति का चित्रण करते हैं तो उस में भी उन्हें एक अनवरत गूँज-सी सुनाई पड़ती है :

गुंजित अलि-सा निर्जन अपार,
मधुमय लगता घन अन्धकार
हलका एकाकी व्यथा-भार।[1]

कहीं-कहीं साम्य का आरोप अत्यन्त स्वाभाविक और परिचित रूपों में भी व्यक्त हुआ है। पर ये ऐसे 'परिचित रूप' हैं जो छायावाद से पहले के काव्य में नहीं पाये जाते। धूप में घुल कर विलीन होते हुए कुहरे को सब ने देखा होगा, पर उस के सूक्ष्म सौन्दर्य को पहचाना छायावादी दृष्टि ने ही :

कुहरा जैसे घन आतप में
यह संसृति मुझ में लय होगी।[2]

अथवा कपूर की यह अछूती उपमा—

वह सुनहला हास तेरा—
अंक भर घनसार-सा
उड़ जायगा अस्तित्व मेरा।

कहाँ घनसार (कपूर) और कहाँ मानवीय अस्तित्व ! यहाँ साम्य का केवल एक ही आधार है : दोनों की क्षण-भंगुरता अथवा विलयन-धर्म। छायावादी काव्य का अप्रस्तुत-विधान ऐसे ही सूक्ष्म और आन्तरिक साधर्म्य के आधार पर निर्मित हुआ है। पुराने सादृश्यमूलक उपमानों से छायावादी उपमानों को अलगाते हुए आचार्य शुक्ल ने उन की नवीनता की व्याख्या इन शब्दों में की है : 'छायावाद बड़ी सहृदयता के साथ प्रभाव-साम्य पर ही विशेष लक्ष्य रख कर चला है। कहीं-कहीं तो बाहरी सादृश्य या साधर्म्य अत्यन्त अल्प या न रहने पर भी आभ्यन्तर प्रभाव-साम्य ले कर ही अप्रस्तुतों का सन्निवेश कर दिया जाता है। ऐसे अप्रस्तुत अधिकतर उपलक्षण के रूप में या प्रतीकवत् होते हैं—जैसे सुख, आनन्द, प्रफुल्लता, यौवनकाल इत्यादि के स्थान पर उन के द्योतक ऊषा, प्रभात, मधुकाल; प्रिया के स्थान पर मुकुल; प्रेमी के स्थान पर मधुप; श्वेत या शुभ के स्थान पर कुन्द, रजत; माधुर्य के स्थान पर मधु; दीप्तिमान या कान्तिमान के स्थान पर स्वर्ण; विषाद या अवसाद के स्थान पर अन्धकार, अँधेरी रात, या सन्ध्या की छाया; पतझड़, मानसिक आकुलता या क्षोभ के स्थान पर झंझा, तूफ़ान, भाव-तरंग के लिए झंकार, भाव-प्रवाह के लिए संगीत और मुरली के स्वर इत्यादि।[4]

१. गुंजन; पृ० ८६,
२. आधुनिक कवि—भाग १; पृ० ७१.
३. आधुनिक कवि—भाग १; पृ० ६४.
४. हिन्दी साहित्य का इतिहास; पृ० ६७१.

इस प्रकार छायावाद ने औपम्य-विधान की एक नयी पद्धति का सूत्रपात किया जिस में तुलना का बाह्य आधार गौण हो गया और संवेदना अथवा भावना का सूक्ष्म आधार प्रधान। एक प्रकार से आधुनिक बिम्बविधान की शैली का आरम्भ यहीं से हुआ। जब तक उपमान और उपमेय के बीच तुलना का आधार प्रमुख था तब तक कविता के क्षेत्र में अलंकारों की प्रधानता थी। जब तुलना का स्थान आन्तरिक प्रभाव-साम्य ने ले लिया तो उपमान और उपमेय के बीच की स्थूल दूरी कम हो गयी। संवेदना के सूक्ष्म तन्तु से दोनों इस प्रकार जुड़ गये कि उन को जोड़ने वाली बौद्धिक गाँठ भी उन के पारस्परिक सम्बन्ध के अपरोक्ष तम में खो-सी गयी। यहीं आधुनिक काव्यात्मक बिम्ब का जन्म हुआ। ऐसा नहीं कि छायावादी कविता में पुराने अलंकार मिलते नहीं। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, स्मरण, विरोधाभास आदि अलंकार उस में प्राय: मिल जाते हैं। पर ये अलंकार उस में कहीं भी इतने प्रमुख नहीं हो जाते कि अनुभूति अथवा संवेदना दब-सी जाये। इसी लिए उन की स्वतन्त्र सत्ता की ओर पाठक का ध्यान बहुत कम जाता है। जिस बात की ओर ध्यान जाता है वह है छायावादी कविता की चित्रात्मकता। छायावादी पदावली को 'चित्रभाषा' कहने का यही अभिप्राय है। किसी अन्य युग की काव्य भाषा को आज तक 'चित्रभाषा' की संज्ञा नहीं दी गयी। इस से इस ऐतिहासिक तथ्य का पता चलता है कि छायावाद के आगमन के साथ-साथ हिन्दी कविता में रूपविन्यास की एक नयी प्रणाली का आरम्भ हुआ, जो उस से पूर्व के साहित्य में प्रचलित नहीं थी। यह नयी प्रणाली थी, शुक्लजी के शब्दों में : "बाचक पद के स्थान पर लक्षक पद का व्यवहार तथा प्रस्तुत के स्थान पर उस की व्यंजना करने वाले अप्रस्तुत चित्रों का विधान।"[1] धीरे-धीरे ये अप्रस्तुत चित्र इतने सहज स्वाभाविक हो गये कि प्रस्तुत को अलग से जानना पाठक के लिए अनावश्यक हो गया। तात्पर्य यह कि इन चित्रों में यथार्थ (प्रस्तुत) और कल्पित (अप्रस्तुत) के बीच का भेद समाप्त हो गया। प्राचीन अलंकारविधान से आधुनिक बिम्बविधान का यही अन्तर है। पुराना कवि जब मुख को चन्द्रमा कहता था तो वह प्रकारान्तर से यह भी कह देता था कि चन्द्रमा मुख नहीं है, केवल वैसा लगता है। पर आधुनिक कवि जब कहता है—

तारिका-सी तुम दिव्याकार
चन्द्रिका की झंकार।[2]

तो वह अपने कल्पित चित्र—'चन्द्रिका की झंकार' में यथार्थ को पूर्णतः समाहित कर लेना चाहता है। यथार्थ के समानान्तर कल्पित को यह महत्त्व किसी अन्य युग में नहीं मिला था। वस्तुत; इसे छायावादी कवियों के भाववादी दर्शन का ही परिणाम समझना चाहिए।

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास; पृ० ६६६.

२. गुंजन; पृ० ६४.

अप्रस्तुतविधान की इस आधुनिक प्रणाली को ही आज की समीक्षात्मक पदावली में बिम्बविधान की संज्ञा दी जाती है। हिन्दी कविता में पंत और निराला इस नयी रूपविधि के प्रवर्तक और उन्नायक कहे जा सकते हैं। प्रसाद में इस प्रवृत्ति का विकास धीरे-धीरे हुआ। आरम्भ में उन की कविता में तुलनामूलक अलंकारों की प्रधानता थी। 'कामायनी' तक पहुँचते-पहुँचते अलंकार-विधान का स्थान संवेदनात्मक बिम्बविधान ने ले लिया। जहाँ कहीं पुराने अलंकार लिये गये, उन में भी सृष्टिविधायिनी कल्पना के योग से नयी मूर्तिमत्ता लाने का प्रयास किया गया। पल्लव कोमल हाथों के लिए एक रूढ़ उपमान है। पर प्रसाद ने जब उस का प्रयोग किया तो वह एक परम्परागत रूढ़ि से कुछ अधिक सार्थक और जीवन्त हो उठा :

जलदागम-मारुत से कम्पित
पल्लव सदृश हथेली—
श्रद्धा की धीरे से मनु ने
अपने कर में ले ली।[१]

स्वच्छन्द कल्पना ने इन कवियों को एक ऐसी अन्तर्दृष्टि दे दी थी कि वे मूर्त को अमूर्त और अमूर्त को मूर्त आकारों में भी देख सकते थे। पुराने काव्य में भी इस प्रकार के उदाहरण मिल सकते हैं। पर उन कवियों की यह सहज प्रवृत्ति नहीं थी। चूँकि छायावाद की दृष्टि आभ्यन्तर प्रभावसाम्य पर अधिक थी, अतः उस ने सूक्ष्म मानसिक उपमानों को बहुत महत्त्व दिया। तरुवर की छाया पंतजी को ऐसी लगती है जैसे कोई भूली हुई स्मृति हो—

चिर अतीत की विस्मृत स्मृति-सी,
नीरवता की-सी झंकार।[२]

और स्वयं तरुवर दूर से ऐसे दिखाई देते हैं जैसे—

गिरिवर के उर से उठ-उठकर
उच्चाकांक्षाओं से तरुवर
हैं झाँक रहे नीरव नभ पर
अनिमेष, अटल, कुछ चिन्तापर।[३]

इस के विपरीत कहीं-कहीं अमूर्त वस्तु को भी मूर्त रूप में देखने का प्रयास किया गया है। सुख का कोई प्रत्यक्ष आकार नहीं होता। उसे केवल अनुभव किया जा सकता है। पर छायावादी कवि की सफलता इस बात में है कि वह सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु को भी आँखों का विषय बना देता है :

---

१. कामायनी; पृ० १२७.
२. पल्लव; पृ० १०८.
३. वही; पृ० ५८.

सुख, केवल सुख का वह संग्रह
केन्द्रीभूत हुआ इतना,
छायापथ में नव तुषार का
सघन मिलन होता जितना ।[1]

इन अप्रस्तुतों को ध्यान से देखा जाये तो पता चलेगा कि इन का निर्माण विशुद्ध ऐन्द्रिय स्तर पर हुआ है। इसी लिए उन्हें हम केवल 'पढ़ते' या 'सुनते' नहीं, 'देखते' भी हैं। जो वस्तु दिखाई देती है वही काव्यगत बिम्ब है। प्राचीन कविता में रूप-विन्यास का यह ऐन्द्रिय-पक्ष इतना प्रमुख नहीं होता था। यह आधुनिक कविता की अपनी विशेषता है। यह अनुभूति का वह स्तर है जो बिम्ब को चमत्कार-प्रधान अलंकारों से अलग करता है। इसी अर्थ में छायावादी कवियों ने अलंकारों का परित्याग किया था। तात्पर्य यह कि इन कवियों ने अप्रस्तुतों के निर्माण में जिस नयी रूपविधि का प्रयोग किया है. उस का समुचित अध्ययन प्राचीन अलंकारशास्त्र के आधार पर नहीं हो सकता। उस के लिए नये साहित्यिक मानदण्ड की आवश्यकता है। मेरी ऐसी धारणा है कि यदि काव्यात्मक बिम्ब को सृजनात्मक प्रतिभा की कसौटी बना कर इन कवियों की कृतियों का अध्ययन किया जाये तो इन की कला और सौन्दर्य-दृष्टि को अधिक गहराई के साथ समझा जा सकता है। पर इस से पहले कि हम छायावादी कविता में पाये जाने वाले बिम्बों का वर्गीकरण करें यह आवश्यक है कि उन बिम्बों के पीछे काम करनेवाले ऐन्द्रिय तत्त्वों और उन के विभिन्न स्रोतों की भी परीक्षा कर लें।

ऐन्द्रियता

ऐन्द्रियता काव्य का एक ऐसा तत्त्व है जो प्रत्येक युग के काव्य में किसी न किसी रूप में पाया जाता है। पर छायावादी काव्य-व्यक्तित्व का वह केन्द्रीय-तत्त्व है। वस्तुतः रॅमैण्टिक कविता का आरम्भ ही बाह्य यथार्थ के प्रति एक प्रकार की ऐन्द्रिय प्रतिक्रिया के रूप में होता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह एक कैशोरप्रवृत्ति है जो भावुकता की अतिशयता से उत्पन्न होती है और तब तक बनी रहती है जब तक कवि में विचारों की प्रौढ़ता न आ जाये। छायावादी कविता का आरम्भ भी इस कैशोर-प्रवृत्ति के साथ ही हुआ था, इस बात को पंतजी ने 'आधुनिक कवि' की भूमिका में स्वीकार किया है। अपनी आरम्भिक कृतियों के सम्बन्ध में लिखते हुए उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि "जब तक रूप का विश्व मेरे हृदय को आकर्षित करता रहा, जो कि एक कैशोर-प्रवृत्ति है, मेरी रचनाओं में ऐन्द्रिक चित्रणों की कमी नहीं रही। प्राकृतिक अनुराग की भावना क्रमशः सौन्दर्यप्रधान से भावप्रधान और भावप्रधान से ज्ञान-प्रधान होती गयी।"[2] स्वच्छन्दतावादी कविता के विकास के यही क्रमिक सोपान हैं।

१. कामायनी; पृ० ८.
२. आधुनिक कवि-भाग २, पृ० ८.

प्रत्यक्ष ऐन्द्रिय संवेदना ही जटिल भावों में परिणत होकर सूक्ष्म विचारों का रूप धारण कर लेती है। पंतजी के काव्यात्मक विकास के क्रमिक अध्ययन से इस बात की पुष्टि हो सकती है। पर आरम्भ में प्रत्येक भाषा के रॅमैण्टिक काव्य में ऐन्द्रिय तत्त्वों की बहुलता पायी जाती है। कीट्स अपने ऐन्द्रिय चित्रों के लिए प्रसिद्ध हैं और शेली की कृतियों में भी ऐन्द्रियता और भावुकता का अद्भुत सम्मिश्रण पाया जाता है। इस तीव्र ऐन्द्रियता के कारण कवि जगत् के विभिन्न रूपों के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित कर लेता है और उन्हें इस प्रकार देखता है मानो वह उन रूपों का प्रथम द्रष्टा हो। फलतः उन रूपों के प्रति जो भावात्मक प्रतिक्रिया व्यक्त होती है उस में एक अद्भुत ताज़गी और जीवन्तता होती है। छायावाद की आरम्भिक कृतियों में जो ताज़गी और सहजता दिखाई देती है उस का यही रहस्य है। पर इस ताज़गी के अतिरिक्त ऐन्द्रिय तत्त्वों की बहुलता के कारण जो अभूतपूर्व विशेषता उन कविताओं में आ गयी, वह है उन की मूर्तिमत्ता। छायावादी कविताओं में चित्रों की प्रमुखता का मूलभूत कारण यह ऐन्द्रियता ही है। उस में प्रायः सभी इन्द्रियग्राह्य विषयों के चित्र मिल जाते हैं। वर्ण और गन्ध छायावादी कवियों के प्रिय विषय हैं। पर इन के अतिरिक्त स्वाद, स्पर्श, ध्वनि और गति के भी कुछ दुर्लभ चित्र इन कवियों ने अंकित किये हैं। इन चित्रों की एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि इन में हमें प्रायः ऐन्द्रिय प्रभावों की मिश्रित रूप-योजना मिलती है। यह छायावाद की विकसित संवेदनशीलता और तीव्र ग्रहणशीलता का प्रमाण है। ऐन्द्रिय विषयों में सबसे पहले आती हैं वर्ण-सम्बन्धी अनुभूतियाँ। छायावादी कवियों के निकट यह अखिल विश्व ही वर्ण-गन्धमय था। अतः इन वस्तुओं का आकलन करने के लिए उन्हें अपनी संवेदनात्मक परिधि से बाहर नहीं जाना पड़ा। अनेक सम-विषम वर्णों से भरी हुई प्रकृति उन के सामने खुली पड़ी थी। अतः उन्होंने अपनी वर्ण-कल्पना का मुख्य आधार उसी को बनाया। महत्त्वपूर्ण यह नहीं है कि इन कवियों ने जीवन और जगत् के कितने व्यापक क्षेत्रों से वर्णों का चुनाव किया। महत्त्वपूर्ण यह है कि इन कवियों ने पहली बार स्वच्छन्द कल्पना की सहायता से सुपरिचित वर्णों के सूक्ष्म छायास्तरों को एक-दूसरे से अलग किया। जैसे—

रूपहले, सुनहले आम्रबौर
नीले, पीले, औ ताम्र भौंर।[1]

पर इस कल्पना में वर्णच्छायाओं की सूक्ष्मता नहीं है। केवल बौर और भौंरे के स्थूल वर्णभेदों की सूची दी गयी है। पंत की कल्पना जब अपने सर्वोत्तम रूप में होती है तो वह गहराई में उतर कर रंगों के ऐसे स्तरों को ढूँढ़ लाती है जो इस से पूर्व अदृष्ट और अनाम थे—

---

१. गुंजन; पृ० २.

विद्रुम औ मरकत की छाया, सोने चाँदी का सूर्यातप,
हिम-परिमल की रेशमी वायु, शतरत्नछाय, खग-चित्रित तन।[1]

वर्णों की यह सूक्ष्म चेतना प्रसादजी की रचनाओं में भी देखी जाती है। मण्डप की क्षीण अग्निशिला के रंग को अन्य वर्ण-अनुषंगों से अलगाते हुए उन्होंने पीले रंग के एक सर्वथा नये स्तर का उद्घाटन किया है—

मधु-पिंगल उस तरल अग्नि में
शीतलता संसृति रचती।[2]

ऐसा जान पड़ता है कि पीले रंग के प्रति प्रसादजी के मन में कोई विशेष मोह था। इसी लिए महा-जलप्लावन के बाद हिम-संसृति पर पड़ने वाला प्रथम आलोक भी उन्हें 'पिंगपराग' के समान दिखाई दिया :

नव कोमल आलोक बिखरता
हिम संसृति पर भर अनुराग,
सित सरोज पर क्रीड़ा करता
जैसे मधुमय पिंगपराग।[3]

पर इस पीले रंग की अनेक सूक्ष्म परतों का उन्हें ज्ञान था। मातृत्व बोझ से झुकी हुई श्रद्धा के पीत मुख की यह वर्णच्छटा देखिए—

केतकी गर्भ-सा पीला मुँह
आँखों में आलस भरा स्नेह।[4]

वर्णों का मिश्रण

ऊपर जो उदाहरण दिये गये हैं उन में प्रायः रंगों की इकहरी अनुभूतियों के ही चित्र अंकित किये गये हैं। पर प्रत्यक्ष जगत् में कोई भी रंग अपने समीपी रंगों के अस्तित्व से सर्वथा असम्पृक्त नहीं होता। लाल प्रायः पीले को प्रभावित करता है, पीला हरे को और हरा नीले अथवा श्याम वर्ण को। रंगों का यह परस्पर अन्तरावलम्बन दृश्य जगत् का एक अति परिचित व्यापार है। पर सामान्य द्रष्टा केवल चटकीले रंगों को ही वास्तविक रंग समझता है। उस की दृष्टि उन रंगों के तल में काम करने वाली सूक्ष्म वर्ण-रेखाओं को नहीं पकड़ पाती। पर श्रेष्ठ कवियों की कल्पना मिश्रित वर्णों के उन विभिन्न सम-विषम स्तरों को अलगाने में समर्थ हो जाती है जो प्रत्यक्ष देखने पर सामान्यतः नहीं दिखाई देते। छायावादी कवियों ने इस दिशा में बहुत सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति

१. युगान्त; पृ० ६.
२. कामायनी; पृ० २०७.
३. वही; पृ० २३.
४. वही; पृ० १४२.

का परिचय दिया है। पंतजी ने निर्झर की उज्ज्वलता के लिए एक नया वर्ण-बिम्ब दिया है—

जलद-ज्योत्स्ना के गात।[1]

बादल (श्याम) और चाँदनी (हलका पीला) के मिश्रित वर्ण की कल्पना रंगों के इतिहास में बिलकुल नयी है। इस से पाठक के मन में निर्झर का एक सर्वथा नया वर्णचित्र उभरता है जो न सफ़ेद है न पीला, बल्कि दोनों के मध्य में कहीं स्थित है। यह तो दो भिन्न वर्णों का संघात हुआ। प्रसादजी ने अधरों की लाली में घुली हुई मुसकान की हलकी लाली को एक-दूसरे से अलगाते हुए एक अत्यन्त सूक्ष्म सौन्दर्यबिम्ब की कल्पना की है—

और उस मुख पर वह मुसकान।
रक्त किसलय पर ले विश्राम
अरुण की एक किरण अम्लान
अधिक अलसायी हो अभिराम।[2]

रक्त किसलय पर अलसायी हुई अरुण किरण ! अनुरूप वर्ण-मिश्रण का यह विरल उदाहरण है। 'अलसायी' विशेषण से 'किरण' शब्द में एक अद्‌भुत मूर्तिमत्ता आ गयी है जो समान वर्णवाले रक्तकिसलय से उसे अलग करती है। इन सूक्ष्म स्तरभेदों के अतिरिक्त कुछ ऐसी प्रत्यक्ष वर्णकल्पनाएँ भी मिल सकती हैं जिन्हें एक-दूसरे के पास रख देने मात्र से उन के बीच एक सहज सम्बन्ध स्थापित हो गया हो। महादेवीजी की निम्नलिखित पंक्तियों में वर्णों की यह परस्पर-सापेक्षता देखी जा सकती है—

अज्ञात पुलिन से उज्ज्वलतर
किरणें प्रवाल-तरणी में भर
तम के नीलम कूलों पर नित
जो ले आती ऊषा सस्मित।[3]

नीलम, प्रवाल और उज्ज्वल किरणें—इस छन्द में ये तीन वर्ण-संकेत हैं, जो समीप होने के कारण एक-दूसरे को प्रतिबिम्बित करते-से जान पड़ते हैं। लाल रंग की प्रवाल-तरणी में भरी हुई उज्ज्वल किरणों की कल्पना एक अभिनव वर्णसामंजस्य का उदाहरण उपस्थित करती है।

वर्ण-परिवर्तन

बाह्य परिवेश के परिवर्तन के साथ-साथ प्राकृतिक रंगों में भी परिवर्तन होता चलता है। एक ही वर्ण सूर्योदय के समय जिस रूप में होता है, मध्याह्न में एक दूसरा

१. पल्लव; पृ० १०६.
२. कामायनी; पृ० ४७.
३. आधुनिक कवि; पृ० ६१.

ही रूप धारण कर लेता है और सूर्यास्त के समय वह एक सर्वथा विरोधी वर्ण में परि-वर्तित हो जाता है। पर इस परिवर्तन के आन्तरिक रहस्य को पहले-पहल छायावादी कल्पना ने ही उद्घाटित किया। पंतजी का यह पारदर्शी वर्ण-चित्र देखिए—

गंगा के चल जल में निर्मल, कुम्हला किरणों का रक्तोत्पल
हैं मूँद चुका अपने मृदु दल।
लहरों पर स्वर्ण-रेख सुन्दर पड़ गयी, नील, ज्यों अधरों पर
अरुणाई प्रखर शिशिर से डर।[1]

सुनहले वर्ण का नीला रूपान्तरण एक चिरपरिचित प्राकृतिक व्यापार है। पर इस परिचित सौन्दर्य की सूक्ष्म वर्णच्छाया को शब्दों में रूपान्तरित करना कितना कठिन है, यह बताने की आवश्यकता नहीं। पंत में यह कौशल सब से अधिक पाया जाता है।

विरोधी वर्ण-योजना

वर्ण-संवेदना का एक स्तर विरोधी वर्णों की कलात्मक योजना में पाया जाता है। इस प्रकार की कल्पना के द्वारा एक विरोधमूलक वर्णबिम्ब की सृष्टि होती है जो वस्तु की संवेदना को तीव्रतर बनाती है। प्रसाद की रचनाओं में विरोधी वर्णों की योजना सब से अधिक मिलती है। उन्होंने सौन्दर्य के कोमलपक्ष की व्यंजना के लिए प्रायः विरोधी बिम्बों की सहायता ली है। मुखमण्डल के तेज की व्यंजना करनी हुई तो उस के समानान्तर एक हलके वर्ण वाला अनुभूति-चित्र रख देंगे। जैसे—

एक लघु ज्वालामुखी अचेत
माधवी रजनी में अश्रान्त।

ज्वालामुखी और माधवी-रजनी का विरोध स्पष्ट है। इसी प्रकार नील परिधान के बीच श्रद्धा के गोरे अंगों की वर्णच्छटा का यह प्रसिद्ध चित्र—

नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा है मृदुल अधखुला अंग
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघवन बीच गुलाबी रंग।

बिजली के लिए गुलाबी रंग की कल्पना यहाँ साभिप्राय की गयी है। वस्तुतः उस का रंग ऐसा होता नहीं। इस से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि छायावादी कवियों ने प्राकृतिक रंगों को ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं किया है। उन्होंने आवश्यकता-नुसार उन पर स्वतन्त्र उद्भावनाओं का आरोप भी किया है। यह उन की स्वच्छन्द कल्पनावृत्ति और आत्मनिष्ठ दृष्टिकोण का सूचक है। इसी के फलस्वरूप कहीं-कहीं वर्ण

---

१. गुंजन; पृ० ८४.
२. कामायनी; पृ० ४६,

का मिश्रण ध्वनि से और ध्वनि का मिश्रण गन्ध के साथ कर दिया गया है। संवेदनाओं के मिश्रण की यह प्रवृत्ति पंत की कृतियों में सब से अधिक देखी जाती है। इस से वस्तु का जो चित्र खड़ा होता है वह पाठक को दोहरे ऐन्द्रिय स्तरों से एक साथ प्रभावित करता है। वर्ण-ध्वनि मिश्रण के अनेक सफल उदाहरण 'कामायनी' में भी मिल सकते हैं। जैसे 'इड़ा' सर्ग की ये पंक्तियाँ—

> इस चिरप्रवास श्यामल पथ में छायी पिक प्राणों की पुकार
> घन नील प्रतिध्वनि आर-पार।[1]

छायावादी वर्णबिम्बों की यदि तुलनात्मक समीक्षा की जाये तो पता चलेगा कि इन कवियों की दृष्टि एकदेशीय रंगों की ओर कम है और मिश्रित रंगों की ओर अधिक। वे लाल, हरे और पीले रंगों को अलग-अलग नहीं देखते। उन के मन में इन सभी वर्णों के अचेतन अनुषंग एक साथ जगते हैं। इन कवियों के वर्ण-बिम्बों में जो एक ऐन्द्रिय सम्मिश्रण की प्रवृत्ति पायी जाती है उस का यही मूलभूत कारण है।

गन्ध

वर्णकल्पना के समान गन्ध के चित्रण में भी छायावादी कवियों ने अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिया हैं। फूलों की अनेकदेशी गन्धों का चित्रण तो प्राचीन कवि भी करते थे। परन्तु स्मृतियों में भी गन्ध होती है, इस सत्य की घोषणा पहले-पहल छायावादी कवि ने ही की—

> जग की स्मृतियों का गन्ध-धीर,
> सुरभित है जीवन-मृत्यु तीर।[2]

उस की स्वच्छन्द कल्पना ने विषम वस्तुओं से भी गन्ध की संवेदना प्राप्त की। यहाँ तक कि महादेवीजी को ज्वाला में भी घनसार की सुरभि का बोध होता है—

> आज ज्वाला से बरसता
> क्यों मधुर घनसार सुरभित ?[3]

पर इन काल्पनिक गन्धों के अतिरिक्त इन कवियों ने प्रकृति की सहज स्वाभाविक गन्धों के प्रति भी अपनी रागात्मक प्रतिक्रिया व्यक्त की है। गन्ध-संवेदना की तीव्रता निराला में सब से अधिक पायी जाती है। वनबेला की गन्ध उन के भीतर प्रेयसी के अलक की गन्ध-स्मृति जगा जाती है[4] और नरगिस की मन्द गन्ध इस जगत् और

---

१. कामायनी; पृ० १५६.
२. आधुनिक कवि—भाग १; पृ० ७४.
३. वही; पृ० ५२.
४. अनामिका; पृ० ८७

जीवन को श्रेष्ठता का बोध कराती है। 'नर्गिस' शीर्षक कविता में निराला ने गन्ध का एक अत्यन्त कलात्मक उदात्तीकरण प्रस्तुत किया है :

> स्वर्ग झुक आये यदि धरा पर तो सुन्दर
> या कि यदि धरा चढ़े स्वर्ग पर तो सुघर ?
> बही हवा नर्गिस की, मन्द छा गयी सुगन्ध,
> धन्य, स्वर्ग यही, कह किये मैं ने दृग बन्द।[1]

इन गन्धचित्रों को ध्यान से देखने पर छायावादी कविता के सम्बन्ध में एक विशेष तथ्य का पता चलता है। वह यह कि इन कवियों ने गन्ध का वस्तुगत चित्रण कम, और उस के प्रति उठने वाली मानसिक प्रतिक्रियाओं का चित्रण अधिक किया है। यही बात अन्य ऐन्द्रिय-चित्रों के बारे में भी समझनी चाहिए। पंत ने अपनी प्रवृत्ति के अनुसार गन्ध को भी ध्वनि तथा दृश्य-संवेदना के स्तर पर ग्रहण किया है। मिश्रित गन्ध-कल्पना के कुछ उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—

गन्ध-ध्वनि मिश्रण :

> गन्ध-गुंजित कुंजों में आज
> बँधे बाँहों में छाया लोक।[2]
> —शत हर्षित ध्वनियों से आहत
> बढ़ा गन्धवह नभ की ओर।[3]

गन्ध-ध्वनि-दृश्य मिश्रण :

> कनक-छाया में जब कि सकाल
> खोलती कलिका उर के द्वार
> सुरभि-पीड़ित मधुपों के बाल
> तड़प बन जाते हैं गुंजार।[4]

गन्ध में गूँज, तथा ध्वनियों से आहत गन्धवह की कल्पना सौन्दर्यबोध की एक नयी दिशा की ओर संकेत करती है, जो भक्ति अथवा रीतिकाल की कविता में नहीं पायी जाती। इन कविताओं पर कला के आधुनिक सिद्धान्तों का प्रभाव स्पष्ट है। अन्तिम छन्द में गाध्य तथा दृश्य संवेदना को एक ध्वनि-बिम्ब में रूपान्तरित किया गया है। ऐन्द्रिय प्रभावों के रूपान्तरण की यह पद्धति छायावाद की अपनी कलात्मक खोज थी।

---

१. अनामिका; पृ० १८८.
२. गुंजन; पृ० ६१.
३. पल्लव; पृ० ८४.
४. वही; पृ० ६१.

ध्वनि :

ऐन्द्रिय संवेदना का सब से सूक्ष्म स्तर ध्वनि है। ध्वनि शब्द का प्रणतत्त्व है। प्रत्येक शब्द जिस प्रकार किसी न किसी दृश्यचित्र का बोधक होता है उसी प्रकार ध्वनि-चित्र का भी। छायावादी कवियों ने ध्वनि-संवेदना के अत्यन्त सूक्ष्म स्तरों का उद्घाटन किया है। यहाँ एक स्पष्टीकरण आवश्यक है। प्रस्तुत प्रसंग में ध्वनि-कल्पना का उल्लेख एक सीमित अर्थ में किया जा रहा है। सामान्यतः नाद-बिम्ब और ध्वनि-बिम्ब को समानार्थक समझा जाता है। वस्तुतः दोनों में कोई मौलिक भेद है भी नहीं। पर गीतात्मक कविताओं में जो ध्वनि-चित्र मिलते हैं वे लम्बी कविताओं अथवा महाकाव्यों में पाये जाने वाले ध्वनिचित्रों से कुछ भिन्न होते हैं। पहले में सूक्ष्मता और गहराई होती हैं, दूसरे में व्यापकता और विस्तार। 'राम की शक्तिपूजा' के नादबिम्बों की यदि पंत के सूक्ष्म ध्वनिचित्रों से तुलना की जाये तो यह अन्तर स्पष्ट हो जायेगा। व्याख्या की सुविधा के लिए हम पहले को ध्वनिबिम्ब कहेंगे, दूसरे को नादबिम्ब। दोनों की निर्माण-प्रक्रिया में भी थोड़ा-सा अन्तर होता है। ध्वनिबिम्बों की रचना विशुद्ध संवेदना के स्तर पर होती है और नादबिम्बों की भावना और कल्पना के स्तर पर। यहाँ चूँकि ऐन्द्रिय अनुभूतियों की चर्चा हो रही है, अतः इस के अन्तर्गत केवल ध्वनिबिम्बों की ही व्याख्या की जायेगी। नादबिम्बों के सम्बन्ध में आगे विचार किया जायेगा। निराला मुख्यतः नाद-प्रधान बिम्बों के कवि हैं। पर उन के यहाँ कभी-कभी संक्षिप्त और घनीभूत ध्वनियों के चित्र मिल जाते हैं। जीवन की यह झंकारपूर्ण परिभाषा देखिए :

यही तो है जग का कम्पन—
अचलता में सुस्पन्दित प्राण
अहंकृति में झंकृति-जीवन।[1]

'अहंकृति में झंकृति'—कितना बोलता हुआ और सजीव बिम्ब है। जीवन की इतनी संक्षिप्त, सार्थक और सीधी परिभाषा निराला ही दे सकते थे। छायावादी कवियों ने जिस प्रकार वर्णों के सूक्ष्म स्तरों को अलगाया था, उसी प्रकार ध्वनियों के विभिन्न रूपों को भी एक-दूसरे से अलग किया, और उन्हें उपयुक्त विशेषणों से अलंकृत भी किया :

पपीहों की यह पीन पुकार
निर्झरों की भारी झरझर
झींगुरों की झीनी झनकार
घनों की गुरु गम्भीर घहर
विन्दुओं की छनती छनकार
दादुरों के वे दुहरे स्वर।

---

१. परिमल; पृ० ११२.

और सब से अन्त में पहाड़ों की प्रतिध्वनि का यह चित्र—

हृदय हरते थे विविध प्रकार
शैल-पावस के प्रश्नोत्तर।[1]

वर्षा ऋतु में पर्वत-प्रदेश की विभिन्न ध्वनियों का इतना सूक्ष्म और संश्लिष्ट वर्णन हिन्दी-कविता में सम्भवतः पहली बार हुआ। इन सहज स्वाभाविक ध्वनि-चित्रों के अतिरिक्त पंतजी ने कुछ ऐसी सजीव ध्वनियों को शब्दबद्ध किया है जो अन्यत्र दुर्लभ हैं। 'कलरव' की ये पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं :

बाँसों का झुरमुट
सन्ध्या का झुटपुट
—हैं चहक रही चिड़ियाँ
टी-वी-टी-टुट्-टुट्।[2]

यहाँ चिड़ियों के चहकने का जो अनुरणात्मक ध्वनिबिम्ब प्रस्तुत किया गया है वह पंत की ग्रहणशीलता और रचनात्मक प्रतिभा का सर्वोत्तम प्रमाण है। कोयल, पपीहा और सारस की बोलियों के काव्यात्मक रूपान्तर तो प्राचीन कवियों ने भी किये हैं, पर बाँसों के झुरमुट में चहकने वाली इस नन्हीं चिड़िया का चिरपरिचित संगीत अब तक शब्दों में नहीं बाँधा जा सका था। पंत की ध्वनिसंवेदना की यह सूक्ष्मता वर्ड्स्वर्थ के सफलतम ध्वनिबिम्बों की याद दिलाती है। वर्ण और गन्ध के समान उन्होंने ध्वनि-मिश्रण के भी कुछ अत्यन्त सफल उदाहरण प्रस्तुत किये है। 'वृक्ष-शिखर' से पृथ्वी पर गिरते हुए 'शत-शत मिश्रित ध्वनियों के निर्झर' का यह चित्र देखिए :

झूम-झूम झुक-झुक कर
नीम नीम तरु निर्भर
सिहर सिहर थर् थर् थर्
करता सर्-मर्
चर् मर्।

यदि यह चित्र केवल इतना ही होता तो केवल एक अनुरणात्मक प्रभाव उत्पन्न कर के रह जाता। व्यंजन-संगीत के ऐसे उदाहरण छायावाद में बहुत से मिल सकते हैं। पर पंत ने अपने ऐन्द्रिय-संवेदन की तीव्रता के द्वारा इस चित्र को व्यंजन-संगीत से कुछ अधिक विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण बना दिया है। आगे की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

लिप-पुत गये निखिल दल
हरित गुंज में ओझल,

---

१. पल्लव; पृ० ६६.
२. आधुनिक कवि—भाग २; पृ० ६७.

वायु-वेग से अविरल
धातु-पत्र से बज कल ।[1]

हरे पत्तों की सम्मिलित ध्वनि के लिए 'हरित गुंज' कितना सार्थक बिम्ब है। वायु-वेग की तीव्रता के कारण पत्ते इतने अस्त-व्यस्त हो गये हैं कि वे अलग-अलग इकाइयों में नहीं दिखाई देते। वे सब के सब उस 'हरित गुंज' में खो गये-से जान पड़ते हैं। तात्पर्य यह कि उन की सम्मिलित ध्वनि इतनी प्रमुख हो उठी है कि स्वयं पत्ते भी उस ध्वनि के सहज अंग-से जान पड़ते हैं। संवेदना के इतने स्तरों को एक साथ पकड़ने वाली कल्पना के उदाहरण छायावाद से पूर्व की कविता में नहीं पाये जाते। पर यहाँ इतना और कह देना आवश्यक है कि छायावादी कवियों ने व्यंजन-संगीत को अधिक महत्त्व दिया है और स्वर-संगीत को अपेक्षाकृत कम। स्वर-संगीत की ओर बढ़ने का प्रयास छायावाद के अन्तिम दिनों की कुछ कृतियों में दिखाई देता है—विशेषतः पंत और निराला में। यह आकस्मिक नहीं कि ऊपर पंत की ध्वनि-कल्पना के जो सफलतम उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं वे सन् १९३५-३६ के आसपास के हैं, जब छायावाद के विरुद्ध प्रतिक्रियाएँ आरम्भ हो गयी थीं।

स्वाद :

यह ऐन्द्रियबोध का अपेक्षाकृत स्थूल स्तर है। इसी लिए साहित्य में स्वाद-संवेदना की कलात्मक अभिव्यक्ति कम पायी जाती है। कालिदास ने 'मेघदूत' में 'जनपदवधूलोचनैः पीयमानः' कहकर मेघ के सौन्दर्य को स्वादबोध के स्तर पर अनुभव कराने का प्रयास किया है। पर दृश्य को स्वाद के स्तर पर अनुभव करना तथा कराना कल्पना-व्यापार का सब से कठिन कार्य है। विश्व के बहुत कम कवि इस प्रक्रिया में सफल हो सके हैं। जर्मन भाषा का प्रसिद्ध प्रतीकवादी कवि रेनर मारिया रिल्के इस क्षेत्र में एक विरल उदाहरण है। उस ने विभिन्न फलों के स्वादजन्य आनन्द का बड़ा मार्मिक चित्र खींचा है और अपनी एक प्रसिद्ध कविता में नारंगी की स्वाद-संवेदना के स्तर पर नृत्य की उल्लासपूर्ण मुद्राओं का अत्यन्त कलात्मक रूप खड़ा किया है। हिन्दी कविता में इस प्रकार के उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। तिक्त, मधुर, कड़वा, तीखा आदि स्वादों का लाक्षणिक उपयोग तो एक अति सामान्य प्रचलन हो गया है। पर प्रत्यक्ष स्वादबोध को जीवन के उच्चतर सौन्दर्य-मूल्यों में रूपान्तरित करने का प्रयास नहीं के बराबर हुआ है। छायावादी कवियों में सूक्ष्म के प्रति इतना तीव्र आकर्षण था कि स्वाद जैसे स्थूल ऐन्द्रियबोध की ओर उन का न ध्यान देना आश्चर्यजनक नहीं लगता। निराला इन सभी कवियों में वास्तविकता के सब से अधिक निकट माने जाते हैं। पर स्वाद-संवेदना के चित्र उन की कविताओं में भी बहुत कम मिलते हैं। उन की उत्तरकालीन

१. युगवाणी; पृ० ८७.

कृति 'अणिमा' में एक बंगला-कविता है—'श्रीमती विजयालक्ष्मी पण्डित के प्रति'।[1] इस में कवि ने प्रथम साक्षात्कार की उपमा पानी पीते समय सहसा कण्ठ में लगने वाले आघात से दी है और सहज ही इसे एक सर्वथा नये प्रकार की स्वाद-कल्पना का (अप्रस्तुत रूप में ही सही) उदाहरण माना जा सकता है। इस युग की सम्पूर्ण कविता में प्रत्यक्ष स्वाद-संवेदना का यह एकमात्र सफल चित्र है। दूसरा, अपेक्षाकृत अधिक रूढ़ उदाहरण, 'अनामिका' की पहली कविता में मिलता है :

देखते निमेषहीन नयनों से तुम मुझे
रखने को चिरकाल बाँधकर दृष्टि से
अपना ही नारी रूप....................
....
पीने को अमृत अंगों से झरता हुआ।[2]

सौन्दर्य के उदात्तीकरण की प्रवृत्ति छायावादी कविता का एक प्रमुख लक्षण है। निराला और प्रसाद में यह प्रवृत्ति सब से अधिक है। 'कामायनी' के नायक मनु के भीतर जीवन और प्रकृति के उदात्त सौन्दर्य के उपभोग की आकांक्षा अत्यन्त प्रबल रूप में पायी जाती है। अपनी एकान्त भाववादी प्रवृत्ति के अनुसार वे सम्पूर्ण दृश्य जगत् के रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि को स्वाद के स्तर पर अनुभव करते हैं :

पीता हूँ, हाँ मैं पीता हूँ
यह स्पर्श, रूप, रस, गन्धभरा।[3]

समस्त ऐन्द्रिय चेतनाओं को स्वादबोध के रूप में अनुभव करने के कारण मनु के इस कथन में एक अद्भुत तीव्रता और मांसलता आ गयी है। पर यहाँ भी 'पीना' क्रिया केवल एक लाक्षणिक सौन्दर्य की सृष्टि करती है। अतः इसे स्वादबोध का एक उदात्तीकृत चित्र कहना अधिक संगत होगा। एक अन्य प्रसंग में भी प्रसाद ने इस लाक्षणिक प्रयोग की सहायता से एक अत्यन्त सफल बिम्ब का निर्माण किया है :

पवन पी रहा था शब्दों को,
निर्जनता की उखड़ी साँस।[4]

'शब्द' के साथ 'पीना' क्रिया का प्रयोग जहाँ एक ओर सूक्ष्म संक्रमित अर्थ का बोध कराता है वहाँ दूसरी ओर ध्वनि तथा स्वाद के ऐन्द्रिय मिश्रण का भी सौन्दर्य उपस्थित करता है। उस युग के सम्पूर्ण काव्य-साहित्य से चुन कर स्वादबोध के ये कुछ थोड़े-से उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये गये हैं। इन उदाहरणों से एक बात स्पष्ट है कि छायावादी कवियों ने प्रत्यक्ष स्वाद-संवेदना को पकड़ने का प्रयास बहुत कम किया है।

---

१. अणिमा; पृ० ३७.
२. अनामिका; पृ० १.
३. कामायनी; पृ० ६६.
४. वही; पृ० १६.

वस्तुतः यह उन के भावबोध और जीवन-दृष्टि की सीमा है। इस सीमा को अतिक्रान्त करने का अर्थ था अपनी सम्पूर्ण दार्शनिक मान्यताओं को अतिक्रान्त करना। और यह ऐतिहासिक कारणों से उस समय सम्भव नहीं था।

स्पर्श :

ऐन्द्रियबोध का यह सब से प्रत्यक्ष और स्थूल स्तर है। स्वाद की भाँति स्पर्श की अनुभूतियों के प्रति भी छायावादी कवियों का झुकाव कम पाया जाता है। प्राकृतिक वस्तुओं की स्पर्श-संवेदना का वर्णन तो कहीं-कहीं मिल भी जाता है, पर मानवीय स्पर्श की मांसल अनुभूति के चित्रों का सर्वथा अभाव है। इस का कारण यह है कि उन की प्रेमभावना अन्तर्मुखी अधिक थी, बहिर्मुखी कम। फलतः उनके काव्य में नारी के मूर्त सौन्दर्य के प्रति विस्मय और कौतूहल का भाव अधिक मिलता है। उन की स्पर्श-संवेदना की अभिव्यक्ति में भी इसी विस्मय और कौतूहल की झलक पायी जाती है। श्रद्धा की निम्नलिखित उक्ति मानो स्पर्श के प्रति छायावादी कवियों की अन्तर्निहित धारणा को व्यक्त करती है :

छूने में हिचक, देखने में
पलकें आँखों पर झुकती हैं,
कलरव परिहास-भरी गूँजें
अधरों तक सहसा रुकती हैं।[१]

इसी अन्तर्मुखी प्रवृत्ति के फलस्वरूप प्रसाद ने स्पर्श को एक अस्पष्ट और ऐन्द्रजालिक अनुभूति के रूप में चित्रित किया है :

है स्पर्श मलय के झिलमिल-सा
संज्ञा को और सुलाता है,
पुलकित हो आँखें बन्द किये
तन्द्रा को पास बुलाता है।[२]

परन्तु यह स्पर्श की प्रत्यक्ष अनुभूति न हो कर, उस का एक भावमूलक मानसिक चित्रमात्र है। उस की संवेदना को 'मलय के झिलमिल-सा' कह कर प्रसाद ने स्पर्श की स्थूल अनुभूति को एक रहस्यात्मक रूप देने का प्रयास किया है। यहाँ भी उदात्तीकरण की प्रवृत्ति स्पष्ट है। उस युग के सभी कवियों में ऐन्द्रिय अनुभूतियों को उदात्त और आधिदैविक रूप में प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति सामान्य रूप से पायी जाती है। जैसे पंत की ये पंक्तियाँ—

तुम्हारे छूने में था प्राण
संग में पावन गंगा-स्नान।[3]

१. कामायनी; पृ० ६६.
२. वही; पृ० ६७.
३. पल्लव; ७२.

स्थूल ऐन्द्रियबोधों के प्रति इस रूमानी प्रवृत्ति के कारण छायावादी कविता में जीवन्त यौनबिम्बों का अभाव है। यौन आकर्षण भी उन के निकट एक रहस्यात्मक अनुभूति के रूप में था। पंतजी की 'भावी पत्नी के प्रति' शीर्षक कविता की ये पंक्तियाँ छायावाद की वायवी यौनभावना की सच्ची व्याख्या प्रस्तुत करती हैं :

न जिस का स्वाद-स्पर्श कुछ ज्ञात,
कल्पना हो, जाने, परिणाम,
प्रिये प्राणों की प्राण।[1]

यौनबिम्ब

अधिकतर छायावादी कवियों ने प्रेम की सूक्ष्म अनुभूतियों के ही चित्र अंकित किये हैं। उस के मूर्त भौतिक आधार की ओर कवियों की दृष्टि कम गयी है। छायावाद जिन ऐतिहासिक परिस्थितियों की उपज था उन में स्वच्छन्द और मांसल प्रेमानुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए सुविधाएँ कम थीं। भारतीय समाज का एक बहुत बड़ा भाग अब भी सामन्ती संस्कारों की छाया में जी रहा था। परिवर्तन के लिए जो प्रयास चल रहे थे उन पर भी कठोर नैतिकता का अंकुश था। फलतः छायावादी कवियों की प्रेम-भावना का एक अंश तो स्थानान्तरित हो कर रहस्यपरक अनुभूतियों में परिणत हो गया और शेष अनुभूतियाँ कला के अप्रत्यक्ष माध्यमों से प्रतीकों और अन्योक्तियों के रूप में व्यक्त होती रहीं। फिर भी कुछ कवियों में यथार्थ यौन-अनुभूतियों के मांसल चित्र यदा-कदा मिल जाते है। निराला की 'यमुना के प्रति' की ये पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं :

वह सहसा सजीव कम्पन द्रुत
सुरभि-समीर, अधीर वितान,
वह सहसा स्तम्भित वक्षस्थल,
टलमल पद, प्रदीप निर्वाण,
गुप्त रहस्य-सृजन-अतिशयश्रम,
वह क्रम-क्रम से संचित ज्ञान,
स्खलित वसन-तनु-सा तनु अमरण
नग्न, उदास, व्यथित अभिमान।[2]

सम्पूर्ण छायावादी कविता में इतने स्पष्ट और संश्लिष्ट यौन-बिम्ब कदाचित् अन्यत्र न मिलें। निराला इस क्षेत्र में अपवाद हैं। 'गीतिका' की 'स्पर्श से लाज लगी' कविता में भी यौन अनुभव के क्रमिक विकास का बड़ा भव्य और संयमित चित्र प्रस्तुत किया गया है। मांसल चुम्बन का ऐसा उदात्त और असाधारण चित्र निराला ही दे सकते थे :

---

१. गुंजन; पृ० ४०.
२. परिमल; पृ० ५४.

प्रेम चयन के उठा नयन नव,
विधु चितवन, मन में मधु कलरव,
मौन पान करती अधरासव
कण्ठ लगी उरगी ।[1]

अन्तिम पंक्ति में चुम्बन की कितनी तीव्र और मूर्त कल्पना है । 'उरगी' शब्द से नारी की सम्पूर्ण उत्तेजित वासना का एक जीवित चित्र-सा खड़ा हो जाता है । पर अभिव्यक्ति में एक ऐसा अपूर्व संयम है कि इतनी स्पष्ट यौन-कल्पना में भी अश्लीलता का नाम नहीं । प्रसाद की कल्पनाओं में निराला की अपेक्षा रॅमैण्टिक वृत्ति अधिक पायी जाती है । पर उन की प्रेम-सम्बन्धी अनुभूतियों में एक ऐसी प्रगाढ़ता है कि उन के श्रृंगार-चित्र केवल अमूर्त भावनाओं के उद्दीपक नहीं होते । उदाहरण-स्वरूप चिन्ता-सर्ग में, मनु के उपचेतन में उभरने वाला यह स्मृति-बिम्ब :

कुसुमित कुंजों में वे पुलकित
प्रेमालिंगन हुए विलीन,
मौन हुई हैं मूर्च्छित तानें,
और न सुन पड़ती अब बीन ।
अब न कपोलों पर छाया-सी
पड़ती मुख की सुरभित भाप,
भुजमूलों में, शिथिल वसन की
व्यस्त न होती है अब माप ।[2]

'मुख की सुरभित भाप' में अनुभूति की कैसी प्रखरता है । पर प्रसाद के सारे यौनबिम्ब केवल पूर्व स्मृतियों की छायाकृति मात्र नहीं हैं । उन में प्रत्यक्ष अनुभूतियों की सहज अकृत्रिम अभिव्यक्ति भी पायी जाती है । जैसे वासना-सर्ग का यह अनुभाव-बिम्ब :

गिर रहीं पलकें, झुकी थी नासिका की नोक,
भ्रू-लता थी कान तक चढ़ती रही बेरोक ।
स्पर्श करने लगी लज्जा ललित कर्ण-कपोल,
खिला पुलक कदम्ब-सा था भरा गदगद बोल ।[3]

पंत की प्रेम-कविताएँ विस्मयप्रधान अधिक हैं । अतः उन में अमूर्त कल्पनाओं का बाहुल्य है । उन की 'अनंग' शीर्षक प्रत्यक्ष यौन-संकेतोंवाली कविता भी ऐन्द्रिय अनुभूतियों की अभिव्यक्ति कम और मानसिक चित्रों की सृष्टि अधिक करती है । 'परिवर्तन' कविता में जो यौन-संकेत आये हैं उन में ऐन्द्रिय पर्युत्सुकता (सेन्शुअस रिस्पॉन्स) जगाने की शक्ति अपेक्षाकृत अधिक है । जैसे—

१. गीतिका.
२. कामायनी; पृ० १०.
३. वही; पृ० ६४.

अरे वे अपलक चार नयन
आठ आँसू रोते निरुपाय,
उठे रोओं के आलिंगन—
कसक उठते काँटों-से हाय ।[1]

तीसरी पंक्ति में आलिंगन का जो लाक्षणिक चित्र आया है, वह पंत के असाधारण अभिव्यक्ति-कौशल का जीता-जागता उदाहरण है। पर ऐसे तीव्र ऐन्द्रिय संकेत उन के यहाँ अधिक नहीं मिलते । वे मूलतः उच्छल कल्पनाओं के कवि हैं । एक विचित्र विरोधाभास है कि प्राकृतिक सौन्दर्य के चित्रण में जिस कवि ने सब से सफल ऐन्द्रिय-बिम्बों की सृष्टि की है उस के मानवीय सौन्दर्य के अंकन में ऐन्द्रियतत्त्वोंका अभाव-सा दिखाई देता है। स्वच्छन्दतावादी कविता की यह स्वाभाविक परिणति है। निराला में आरम्भ से ही रॅमैण्टिक भावनाओं और वास्तविक अनुभूतियों के बीच एक तीव्र संघर्ष का आभास मिलता है। अतः उन की अनुभूतियाँ क्रमशः अधिक प्रगाढ़ और परिपक्व होती गयीं । प्रसाद की ऐन्द्रिय-चेतना का विकास भी बहुत मन्थर और स्वाभाविक गति से हुआ । उन की आरम्भिक कृतियों में भावुकता का अंश अधिक है। पर जैसे-जैसे जीवन और जगत् की वास्तविकता से उन का परिचय घनिष्ठ होता गया वैसे-वैसे ऐन्द्रिय अनुभूतियाँ भी अधिक मांसल और घनीभूत होती गयीं। 'आँसू' की गलदश्रु भावुकता और 'कामायनी' के वासना-सर्ग की प्रगाढ़ ऐन्द्रियता की तुलना से यह अन्तर स्पष्ट हो जायेगा। समस्त छायावादी कवियों में महादेवीजी के काव्य-विकास का क्रमिक पथ सब से भिन्न और अलग है। एक अत्यन्तविकसित और प्रौढ़ भावुकता से उन का आरम्भ हुआ और विकास के अन्तिम उत्कर्ष तक भावबोध का वह स्तर ज्यों-का-त्यों बना रहा। प्रत्यक्ष ऐन्द्रिय अनुभूतियाँ न तो उन की आरम्भिक कृतियों में मिलती हैं न बाद की कृतियों में। यदि उन की रहस्यात्मक प्रेमानुभूतियों का अध्ययन तत्कालीन भारतीय नारी की सामाजिक स्थिति के परिपार्श्व में किया जाये तो उनके उदात्तीकृत सौन्दर्य-चित्रों का ऐतिहासिक (वस्तुगत) अर्थ अधिक अच्छी तरह किया जा सकता है। ऐन्द्रियता के इस एकान्त अभाव के कारण उनके सूक्ष्म और कलात्मक बिम्बों में संवेगात्मक तीव्रता अन्य कवियों की तुलना में बहुत कम है। छायावादी कवियों का ऐन्द्रियबोध, जहाँ अपने पूर्ववर्ती कवियों से बहुत विकसित और समृद्ध है, वहाँ उस की अपनी कुछ सीमाएँ भी हैं। उन की इन्द्रियानुभूति और विचार—या दूसरे शब्दों में अनुभव और चिन्तन—के बीच सदैव एक अन्तराल-सा रह जाता है। तात्पर्य यह कि वे अपने अनुभव को विचार में और विचार को अनुभव में नहीं परिणत कर पाते थे। एक तरह से यह सम्पूर्ण रॅमैण्टिक कविता की सीमा है। छायावादी कवियों के आरम्भिक ऐन्द्रिय-चित्रों के अध्ययन से इस बात को अधिक अच्छी तरह समझा जा सकता है। उन की

१. पल्लव; पृ० १४६.

कविताओं में जो केन्द्रापगामी प्रवृत्ति और रागात्मक असामंजस्य दिखाई देता है उस का कारण यह विश्लिष्ट संवेदना ही है। इस विश्लिष्ट संवेदना की सब से बड़ी पहचान कविता के अन्त में दिये जानेवाले सैद्धान्तिक निष्कर्ष अथवा दार्शनिक सूत्र हैं। निराला में, यह प्रवृत्ति सब से कम है और पंत में सब से अधिक। इसी के फलस्वरूप छायावादी कविता के अधिकांश बिम्ब हमें अलग-अलग खण्डों में प्रभावित करते हैं। उन का कोई सामूहिक व्यक्तित्व नहीं बन पाता। इस से यह निष्कर्ष निकलता है कि ऐन्द्रियता काव्य-गत बिम्वों को केवल रागात्मक प्रामाणिकता प्रदान करती है। उन्हें एकता के सूत्र में संग्रथित तथा समन्वित करने के लिए वैचारिक संगठन की आवश्यकता होती है।

छायावादी बिम्बयोजना

वैचारिक पृष्ठभूमि :

पहले कहा जा चुका है कि छायावाद का आगमन व्यक्ति के महत्त्व की घोषणा के साथ हुआ था। साहित्य के क्षेत्र में यह मध्य-युगीन कवियों की 'रूढ़िगत तटस्थता' और निर्वैयक्तिकता के विरुद्ध एक स्वस्थ प्रतिक्रिया थी। सम्पूर्ण छायावादी काव्य के केन्द्र में यह व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की भावना बद्धमूल पायी जाती है। प्रश्न हो सकता है कि अन्ततः उस युग का व्यक्ति किस से स्वतन्त्र होना चाहता था ? इस का सीधा उत्तर है : मध्ययुगीन सामन्ती व्यवस्था की जड़ सामूहिकता से। समाज में वह आत्मिक विकास के लिए समुचित सुअवसर और समान सुविधाओं का आकांक्षी था और साहित्य में रूढ़िमुक्त माध्यमों से स्वच्छन्द आत्माभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त मार्ग की तलाश कर रहा था। आगे चलकर व्यक्ति को स्वाधीनता की यह भावना बृहत्तर स्वाधीनता आन्दोलन के साथ एकाकार हो गयी और काव्य में मध्ययुग की चली आती हुई रूढ़ियों, अभिप्रायों और परिपाटी-विहित विभावों को अमूर्त 'सामान्यता' के विरुद्ध 'विशेष' की प्रतिष्ठा और परिकल्पना के रूप में परिवर्तित हो गयी। यह काव्यगत 'विशेष'—जिस की अभिव्यक्ति बिम्बों और प्रतीकों के रूप में हुई—नयी समाज-व्यवस्था के रूढ़िमुक्त आधुनिक व्यक्ति का ही प्रतिबिम्ब था। वस्तुतः मध्ययुगीन कविता में बिम्बों का अभाव इसलिए पाया जाता है कि उस युग की जीवन-दृष्टि और दार्शनिक मान्यताएँ ही बिम्ब-सिद्धान्त के विरुद्ध थीं। भक्त तथा शृंगारी कवियों की दृष्टि 'सामान्य' पर ही केन्द्रित थी—'सामान्य' मनुष्य अथवा 'सामान्य' अनुभूतियाँ। इस 'सामान्य' का कोई स्पष्ट रूप नहीं होता। अतः काव्य में उस की अभिव्यक्ति भी प्रायः अमूर्त पद्धतियों या रूढ़ियों के रूप में होती है। इस के विपरीत छायावाद ने 'विशेष' को महत्त्व देकर मूर्त और स्वानुभूत यथार्थ को महत्त्व दिया। छायावादी कविता में जो बिम्बों की बहुलता दिखाई देती है उस के मूल में यह 'विशेष' की प्रतिष्ठा ही है। ऐन्द्रियबोध की सीमा के बाहर होने के कारण सामान्य अनुभूति' अथवा 'सामान्य बिम्ब' कल्पना का विषय नहीं बन सकता। कल्पनावृत्ति के भीतर भी यह विशेषीकरण की प्रवृत्ति ही काम करती

है। जैसे अनुभूतियाँ किसी विशेष वस्तु, दृश्य अथवा क्षण से सम्बद्ध होती हैं उसी प्रकार बिम्ब भी किसी विशेष वस्तु, दृश्य, अथवा क्षण का बोधक होता है। छायावादी कवि की ऐन्द्रिय अनुभूतियों ने कल्पना को जन्म दिया और कल्पना ने बिम्ब को।

छायावाद के सामाजिक परिदृश्य की पहले चर्चा की जा चुकी है। यहाँ केवल उन आभ्यन्तर और बाह्य प्रभावों की चर्चा की जायेगी जिन्होंने छायावादी बिम्बविधान की दिशा और रूपविधि को निर्धारित किया। पहला और सब से महत्त्वपूर्ण प्रभाव तो उस ऐतिहासिक परिवर्तन-चक्र का ही था जो सम्पूर्ण भारतीय समाज मे घटित हो रहा था। मुख्यतः इस परिवर्तन के दो स्तर थे : राजनीतिक तथा सांस्कृतिक। राजनीतिक स्तर पर राष्ट्र की सम्पूर्ण विघटित शक्तियों को समन्वित और संघबद्ध करने का प्रयास किया जा रहा था और सांस्कृतिक स्तर पर एक व्यापक समन्वय की चेतना काम कर रही थी। पाश्चात्य विचारधारा और भारतीय संस्कृति के बीच का संघर्ष अब बहुत कुछ दब-सा गया था और उस के स्थान पर मध्ययुगीन प्रवृत्तियों और आधुनिक जीवन-दृष्टि का संघर्ष आरम्भ हो गया था। छायावाद आधुनिकता का आग्रही था। इसलिए उस ने अपने काव्य में आधुनिकता के भावपक्ष को प्रमुखता दी। पर जहाँ तक आधुनिकता के वस्तुगत पक्ष का प्रश्न है, छायावादी कवियों के मन में अभी उस के प्रति पूर्ण निर्भ्रान्त विश्वास का भाव नहीं आया था। फलतः औद्योगिक विकास और वैज्ञानिक सभ्यता के प्रति छायावादी काव्य में कोई विशेष उत्साह का भाव नहीं दिखाई देता। इस काल की कविता के भावपक्ष पर इस स्थिति का प्रभाव यह पड़ा कि वह आधुनिक युग की ऐतिहासिक जटिलताओं से बहुत-कुछ असम्पृक्त-सा रहा। इस स्थिति ने उस के बिम्ब के स्वरूप को भी बहुत दूर तक प्रभावित और निर्धारित किया। छायावादी कविता के अधिकांश बिम्ब एकान्त अनुभूतियों के वाहक सिद्ध हुए। अपने युग की बृहत्तर समस्याओं की प्रतिच्छाया उन में बहुत कम दिखाई देती है। इस प्रवृत्ति ने छायावादी बिम्बविधान के क्षेत्र को भी बहुत कुछ सीमित और निश्चित-सा कर दिया। जीवन की व्यापकता को छोड़ कर उस युग का कवि जो प्रकृति के चित्रित अंचल की छाया में गया था, उस के मूल में भी यही प्रवृत्ति काम कर रही थी। परिणाम यह हुआ कि छायावादी कविता ने हमें प्राकृतिक सौन्दर्य के तो असंख्य ऐन्द्रिय-बिम्ब प्रदान किये, पर आधुनिक जीवन की मानसिक जटिलताओं को व्यक्त करने वाले बिम्ब उस ने बहुत कम दिये। एक प्रकार से कहा जा सकता है कि छायावादी बिम्बविधान के सम्पूर्ण बाह्य और आभ्यन्तर को प्राकृतिक दर्शन ने ही शक्ति और रूप प्रदान किया था।

यह एकान्त प्राकृतिक दर्शन जब स्थूल यथार्थ की सीमाओं को अतिक्रान्त कर के सूक्ष्म और अतीन्द्रिय सत्य की ओर बढ़ा तो उस ने क्रमशः सर्वात्मवाद का रूप ले लिया। यह सर्वात्मवाद कई रूपों मे और कई प्रकार से व्यक्त हुआ। पर इस का सब से स्पष्ट रूप प्रकृति के मानवीकरण में पाया जाता है। वस्तुतः छायावादी कवियों की यह सर्वात्मवादी दृष्टि एक क्रमिक भाव-विकास की परिणति थी। औपनिषदिक सर्वात्मवाद से उसे

जोड़ने का प्रयास बाद में किया गया—विशेषत: महादेवीजी के निबन्धों में। कुछ आलोचकों के अनुसार यह सर्वात्मवाद–'प्रकृति के अन्तर में प्राणचेतना की भावना करना' ही छायावाद का मूल दर्शन है।[1] समाजशास्त्रीय दृष्टि से विचार करने पर सर्वात्मवाद वस्तुत: आधुनिक मानव की आत्मप्रसार की भावना का ही एक रूप जान पड़ता है। अत: प्रकृति पर मानवीय भावों अथवा अतिमानवीय छायाओं के आरोप की पद्धति को वैदिक ऋचाओं के सर्वात्मवादी दर्शन से अभिन्न समझना अनैतिहासिक है। मानवीकरण की प्रवृत्ति का विकास आधुनिक मानव की सर्वतोमुखी स्वच्छन्द कल्पना का विकास है। आध्यात्मिक छाया को भी अन्तर्दृष्टिमूलक कल्पना की ही सृष्टि समझना चाहिए। तात्पर्य यह कि सर्वात्मवाद यदि छायावाद का मूलदर्शन है तो अपने विकसित और आधुनिक अर्थ में। आरम्भ में यह प्रवृत्ति बहुत अस्पष्ट थी। धीरे-धीरे विकसित प्रयोगों के द्वारा उस की एक स्वतन्त्र पद्धति बन गयी। छायावाद के मध्य तक पहुँचते-पहुँचते आरम्भिक कृतियों की अस्पष्ट सर्वात्मवादी चेतना उस की अन्य सभी प्रवृत्तियों से अलग और विशिष्ट हो गयी। महादेवीजी की रचनाओं में उस ने वेदना अथवा दु:खवाद का रूप लिया और प्रसाद की कृतियों में भूमासिद्धान्त अथवा समरता का। निराला, पंत और रामकुमार वर्मा की चिन्तनप्रधान कविताओं में भी सर्वात्मवाद का स्वर ही प्रमुख रहा। छायावादी काव्य के बिम्बविधान पर इस दर्शन का प्रभाव दो रूपों में पड़ा। एक तो उस में रूपक और अन्योक्ति-पद्धति का प्रचुर विकास हुआ और दूसरे उस के अधिकांश बिम्ब सार्वभौम अनुभूतियों के बोधक अर्थात् सर्वश्लेषी हो गये। इस का कारण यह था कि सर्वात्मवादी भावनाओं से प्रेरित होने के कारण इन कवियों ने प्राय: 'सार्वभौम' के लिए 'विशेष' का अन्वेषण किया। 'विशेष' के भीतर 'सार्वभौम' को उद्घाटित करने का प्रयास बहुत कम किया गया। गेटे ने पहली को कृत्रिम और दूसरी को स्वस्थ और स्वाभाविक पद्धति कहा है।[2] छायावाद की उत्तरकालीन कृतियों में जो अमूर्तता और सामान्यीकरण का प्राधान्य हो गया है उस का कारण भी इस दार्शनिक पृष्ठभूमि में ही खोजा जा सकता है।

इस अन्तर्निहित दार्शनिक पृष्ठभूमि के अतिरिक्त कुछ बाह्य-प्रभावों ने भी छायावादी बिम्बयोजना को प्रभावित किया। इन में स्पष्ट रूप से मनोवैज्ञानिक मान्यताओं, और अस्पष्ट रूप से सम्पूर्ण वैज्ञानिक विचार-धाराओं, का प्रभाव परिलक्षित किया जा

---

१. (क) "वास्तव में·········छायावाद मूलतः भारतीय अद्वैतवाद का ही प्रोद्भास है।"–डॉ० नगेन्द्र : आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ; पृ० १२.

(ख) "मानव अथवा प्रकृति के सूक्ष्म किन्तु व्यक्त सौन्दर्य में आध्यात्मिक छाया का भान मेरे विचार में छायावाद की सर्वमान्य व्याख्या हो सकती है।"--आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : हिन्दी साहित्य–बीसवीं शताब्दी; पृ० १६३.

२ There is great difference between a poet who seeks the particular for the sake of the universal, and one who seeks the universal in the particular. The former method breeds Allegory······but the latter is the true method of poetry."—*Countries Of The Mind*, Second Series; 54. (जे० एम० मरी द्वारा उद्धृत)

सकता है। छायावाद ने बढ़ती हुई यान्त्रिक सभ्यता को प्रत्यक्ष रूप से प्रतिबिम्बित नहीं किया। 'कामायनी' का 'संघर्ष'-सर्ग इस दृष्टि से एक अपवाद ठहरता है। परन्तु इन कवियों का सौन्दर्यबोध जाने-अनजाने नवीन यान्त्रिक सभ्यता से प्रभावित अवश्य हुआ है। पंतजी ने शैली, वर्ड्सवर्थ, कीट्स और टेनिसन का ऋण स्वीकार करते हुए इस तथ्य की ओर संकेत किया है। उन्हीं के शब्दों में "इन कवियों ने उन्हे 'मशीन-युग' का सौन्दर्यबोध और मध्यवर्गीय संस्कृति का जीवन-स्वप्न दिया।"[1] मशीनयुग के सौन्दर्यबोध की तीन विशेष प्रवृत्तियाँ मानी जा सकती हैं: भौतिकता, का आग्रह, मध्ययुगीन अलंकरण की प्रवृत्ति के स्थान पर स्वाभाविकता की प्रतिष्ठा, और शाश्वत और सार्वकालिक आदर्शों के स्थान पर सामयिक और युगीन जीवन-मूल्यों का महत्त्व। सामान्यतः ये तीनों ही प्रवृत्तियाँ उस युग की कविता में पायी जाती हैं। प्रकृति की जडसत्ता को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देकर वस्तुतः उन कवियों ने जाने-अनजाने भौतिक जीवन-दृष्टि का ही समर्थन किया। चमत्कार-प्रधान अलंकारों को छोड़कर रूप-विन्यास की पद्धति में स्वाभाविकता लाने का प्रयास किया गया और शाश्वत प्रेम के स्थान पर इन कवियों ने अपने युग की प्रेम-सम्बन्धी जटिलता, कुण्ठा और निराशा को प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति दी। इन प्रवृत्तियों का प्रभाव छायावादी कविता के बिम्बविधान पर भी पड़ा। उस में भी मध्ययुगीन कविता की तुलना में सामयिकता और स्वाभाविकता का आग्रह अधिक दिखाई देता है। फ्रॉएड के मनोविश्लेषणशास्त्र का प्रत्यक्ष प्रभाव तो इन कवियों पर नहीं पड़ा, पर अचेतन रूप से वे उस से प्रेरित और प्रभावित अवश्य हुए थे। 'कामायनी' में मानव की आदिवासना अथवा निसर्गसिद्ध काम-वृत्ति को जो महत्त्व दिया गया है वह परोक्ष रूप से फ्रॉएड के यौन-सिद्धान्त की सूक्ष्म झलक लिये हुए है। प्रवृत्तिमूलक काम-कल्पना को यदि शैवागम का प्रभाव मान भी लें तो जिस रूप में उस की व्याख्या प्रस्तुत की गयी है वह मध्ययुगीन न होकर आधुनिक की है। बिम्ब-विधान पर इस स्थिति का प्रभाव बहुत अप्रत्यक्ष रूप से पड़ा। फ्रॉएड के उपचेतन-सिद्धान्त ने मानव-मन के एक सर्वथा अनुद्घाटित बिम्बकोश की ओर पहली बार ध्यान आकृष्ट किया। उस के अनुसार इन गहन मानसिक बिम्बों में कोई तार्किक क्रम नहीं होता। वे संवेगात्मक नियमों से (इमोशनल लॉज़) से एक-दूसरे से अनुस्यूत रहते हैं। छायावादी कविता के बिम्बों में जो तार्किक क्रम का अभाव दिखाई देता है उसे उप-चेतन सिद्धान्त की खोज का ही अप्रत्यक्ष प्रभाव समझना चाहिए। निराला की लम्बी कविताओं में यह प्रभाव सब से स्पष्ट रूप में देखा जाता है। उपचेतन की कुछ हलकी-फुलकी क्रियाओं को काव्यात्मक अर्थ देने का प्रयास भी उन्होंने ही पहले-पहल किया। 'सरोजस्मृति' में एक हताश और निरुद्देश्य मुद्रा में बैठकर यथाभ्यास सम्पादक का गुण गाते हुए अनायास घास की पत्तियों को नोचकर इधर-उधर फेंकने का जो प्रसंग आया है वह इस प्रवृत्ति का सब से अच्छा उदाहरण है :

---

१. आधुनिक कवि—भाग २; पृ० १३.

बैठा प्रान्तर में दीर्घप्रहार
व्यतीत करता था गुनगुनकर
सम्पादक के गुण यथाभ्यास
पास की नोचता हुआ घास
अज्ञात फेंकता इधर-उधर[1]

इसी प्रकार स्वप्नबिम्बों के प्रथम प्रयोक्ता भी निराला ही ठहरते हैं। इसे भी फ्रॉएड के स्वप्नसिद्धान्त का ही अप्रत्यक्ष प्रभाव समझना चाहिए। परिमल की 'स्वप्न-स्मृति' शीर्षक कविता का इस दृष्टि से ऐतिहासिक महत्त्व है। उस की आरम्भिक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

आँख लगी थी पलभर
देखा, नेत्र छलछलाये दो
आये आगे किसी अजाने दूर देश से चलकर।
मौन थी भाषा उन की किन्तु व्यक्त था भाव,
एक अव्यक्त प्रभाव।[2]

तात्पर्य यह कि छायावादी कविता अपने समकालीन पश्चिमी सिद्धान्तों और विचारधाराओं से सर्वथा असम्पृक्त नहीं थी। यहाँ तक कि पश्चिम की राजनीतिक और आर्थिक विचारधाराओं का प्रभाव भी उस की रचनाओं में खोजा जा सकता है। इन वैज्ञानिक तथा सामाजिक सिद्धान्तों के अतिरिक्त जिस कलागत और साहित्यिक विचारधारा ने उस की रचना-प्रक्रिया को सब से अधिक प्रभावित किया वह था अँगरेज़ी के परवर्ती रॅमैण्टिक कवियों का 'कला कला के लिए' (आर्ट फ़ॉर आर्ट्स सेक) का सिद्धान्त। आचार्य शुक्ल क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का प्रभाव परिलक्षित करते हुए छायावादी कविता की शुद्ध कलावादी प्रवृत्ति की ओर संकेत कर चुके हैं।[3] इस प्रभाव को दो रूपों में देखा जा सकता है। पहला, अन्तर्दृष्टि-प्रेरित कल्पना की प्रमुखता के रूप में, तथा दूसरा, तर्क और बौद्धिकता-विरोधी कलादृष्टि के रूप में। कल्पना के महत्त्व पर हम पहले विचार कर चुके हैं। महादेवीजी ने सदैव अपने वक्तव्यों में बुद्धि के तर्क से हृदय के तर्क को अधिक महत्त्व दिया है। बुद्धि और हृदय को अलग-अलग खानों में बाँट देने के कारण भी बहुत-सी भ्रान्तियाँ हुईं। छायावादी चिन्तन तथा संवेदना के बीच जो दरार रह गयी उस का कारण भी यह भेदमूलक भ्रान्ति ही है। इस प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि बिम्बों की कल्पना में सहज अबौद्धिक रागतत्त्व को सब से अधिक महत्त्व दिया गया। एक प्रकार से कहा जा सकता है कि रागतत्त्व की व्याख्या करने के लिए इन कवियों ने रागतत्त्व का माध्यम (बिम्बविधान) भी स्वीकार किया। इसी

---

१. अनामिका; पृ० १२२.
२. परिमल; पृ० १५८.
३. हिन्दी साहित्य का इतिहास; पृ० ५७१-७२.

लिए छायावादी कविता के कथ्य और रूपविधान को बौद्धिक स्तर पर एक-दूसरे से अलग करना सर्वथा असम्भव है। एक आधुनिक अँगरेज़ आलोचक ने रोमानी बिम्ब (रॅमैण्टिक इमेज) का स्वरूप-निर्देश करते हुए, उस के एक बहुत महत्त्वपूर्ण पक्ष की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। उस के अनुसार 'रॅमैण्टिक बिम्ब का बौद्धिक अर्थ के साथ वही सम्बन्ध है जो नर्तक का नृत्य के साथ।''[1] जिस प्रकार नृत्य में वस्तु (बौद्धिक अर्थ) और माध्यम (नृत्यशैली) में कोई भेद नहीं होता उसी प्रकार रॅमैण्टिक बिम्ब भी बौद्धिक अर्थ को अपने भीतर समोये रहता है। चित्रभाषा पद्धति (बिम्ब) की प्रमुखता के कारण कुछ आलोचकों को (आचार्य शुक्ल उन में प्रमुख हैं) जो छायावादी कविता में विषय-वस्तु अर्थात् बौद्धिक अर्थ का अभाव दिखाई दिया, वह रॅमैण्टिक बिम्ब के इसी वैशिष्ट्य को न समझ सकने के कारण।

तत्कालीन सामाजिक स्थिति और सांस्कृतिक परिवेश की झलक भी छायावादी बिम्बों में यत्र-तत्र देखी जा सकती है। पर इस झलक को कवियों ने अप्रत्यक्ष और अचेतन रूप से ही ग्रहण किया। छायावाद के पास जीवन और समाज के प्रति कोई निश्चित वैज्ञानिक दृष्टिकोण नहीं था, इसे 'आधुनिक कवि—भाग १' के वक्तव्य में महादेवीजी ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है।[2] इस में सन्देह नहीं कि किसी भी युग के यथार्थ को समग्रतः प्रतिबिम्बित करने के लिए इस प्रकार का वस्तुमूलक दृष्टिकोण आवश्यक होता है। पर यह भी उतना ही सत्य है कि इस प्रकार के वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अभाव में भी कवि का समकालीन यथार्थ उस की रचना में किसी न किसी रूप में प्रतिबिम्बित हो ही जाता है। यह अचेतन प्रतिबिम्ब चेतन दृष्टिकोण से कम महत्त्वपूर्ण नहीं होता। छायावाद-युग राष्ट्रीय आन्दोलनों और क्षिप्र सामाजिक परिवर्तनों का युग था। एक ओर सम्पूर्ण राष्ट्र एक महान् लक्ष्य के लिए अनवरत संघर्ष कर रहा था और दूसरी ओर राजनीतिक पराजयों और आर्थिक विघटन के कारण मध्यवर्ग के भीतर एक विक्षोभ और निराशा की भावना भरती जा रही थी। फलतः उस युग के रजनीतिक और साहित्यिक स्वर में समान रूप से भविष्य की स्वप्नमयी आशा और वर्तमान की वास्तविक निराशा की मिली-जुली अनुगूँज सुनाई देती है। यह छायावाद का बहुत बड़ा दुर्भाग्य था कि आगमन के साथ ही उसे देशव्यापी असहयोग आन्दोलन की करुण असफलता का मूक साक्षी बनना पड़ा। छायावादी कविता में आरम्भ से अन्त तक जो निराशा का एक क्षीण स्वर सुनाई देता है उसे केवल वैयक्तिक पीड़ा की अभिव्यक्ति मानना असंगत है। राष्ट्रीय जीवन की इस प्रत्यक्ष निराशा और असफलता के पीछे आने वाले नवयुग की जो एक धुँधली-सी पूर्वछाया दिखाई दे रही थी उस पर उस युग की सम्पूर्ण आस्था केन्द्रित थी। छायावादी काव्य में जो एक आशा और आह्लाद का पक्ष है उस को इसी भविष्योन्मुख आस्था का प्रतिबिम्ब समझना चाहिए। इस द्वन्द्वात्मक स्थिति

---

१. *Romantic Image*—Frank Kermode; 48.

२. आधुनिक कवि—भाग १; पृ० २२.

का ही यह प्रभाव है कि उस युग के एक ही कवि में आशा और निराशा के स्वर साथ-साथ सुनाई देते हैं। एक ओर वह गहरे निःश्वास के साथ कहता है :

> हो गया व्यर्थ जीवन,
> मैं रण में गया हार।[1]

और दूसरी ओर—

> मेरे जीवन का यह है जब प्रथम चरण
> इस में कहाँ मृत्यु
> है जीवन ही जीवन।
> अभी पड़ा है आगे सारा यौवन
> स्वर्ण-किरण कल्लोलों पर बहता रे यह बालक-मन।[2]

इस आधार पर सम्पूर्ण छायावादी बिम्बों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। पहला वर्ग उन बिम्बों का है जिन के रंग अधिक चटकीले हैं—जैसे प्रथम रश्मि, स्वर्णिम प्रभात, वसन्त आदि के चित्र। दूसरे वर्ग के बिम्बों में सन्ध्या की गहरी श्यामता और पतझर का फीका उदास पीलापन अधिक है। ये दोनों प्रकार के बिम्ब उस युग की सम्पूर्ण मनःस्थिति की सूक्ष्म और सच्ची झलक प्रस्तुत करते हैं। पर ध्यान से देखा जाये तो आशा और आह्लाद के चित्रों में भी एक उद्विग्न और अनिश्चित-सी मनःस्थिति का भावावेग ही अधिक दिखाई देगा। पर यह अनिश्चित मनःस्थिति बाद के प्रयोगवादी कवियों की अनिश्चित मनःस्थिति से बहुत भिन्न है। पर मूलतः रूमानी होने के कारण छायावादी कवियों की अनिश्चितता में भी अस्पष्ट आशा का एक धुँधला-सा संकेत था जिसे वे नक्षत्रों की ज्योति, ऊषा की लाली अथवा पल्लवों के रहस्यमय कम्पन के रूप में अनुभव करते थे।

बिम्बों के कुछ विशेष प्रकार

ऊपर उन वैचारिक पृष्ठभूमियों और परिवेशगत प्रभावों का एक संक्षिप्त सर्वेक्षण प्रस्तुत किया गया है जिन के बीच छायावादी बिम्बों का निर्माण हुआ था। यहाँ हम कुछ ऐसे बिम्बों की विशेषताओं का उल्लेख करेंगे जो प्रत्येक युग की कविता में किसी न किसी रूप में पाये जाते हैं। इस वर्ग के बिम्बों का प्रभाव किसी विशेष युग अथवा कालसीमा से बाधित नहीं होता। एक शब्द में, इन बिम्बों को मानवीय चेतना के उस अंश की अभिव्यक्ति कह सकते हैं जिसे युग की भाषा में 'सामूहिक अवचेतन' अथवा 'कलेक्टिव अन्कॉन्शस' कहा जाता है। सामान्यतः इन बिम्बों की तीन कोटियाँ

---

१. अपरा; पृ० ६२.
२. वही; पृ० १००.

निर्धारित की जाती हैं : आदिम विम्ब, पौराणिक विम्ब, तथा निजन्धरी विम्ब ।[1] छायावादी कविता में ये तीनों ही प्रकार के विम्ब सरलता से मिल जाते हैं । वैसे उस युग की ऐन्द्रजालिक कल्पना निजन्धरी बिम्बों के अधिक अनुकूल थी । 'सामूहिक अवचेतन' की गहराइयों में प्रवेश करने के लिए जिस निर्वैयक्तिक कल्पना की आवश्यकता होती है, वह भी उस युग के लिए सहजसाध्य नहीं थी । पर 'सामूहिक अवचेतन' तो प्रत्येक युग की मनोरचना का सहज अविभाज्य अंग होता है । अतः वह अनिवार्यतः प्रत्येक युग की कला में अपने लिए अभिव्यक्ति का मार्ग निकाल लेता है । इस 'सामूहिक अवचेतन' के भी दो स्तर होते हैं । उस का पहला स्तर मानव-मन में वासना रूप से स्थित प्राकृतिक संकेतों और बिम्बों से प्रगाढ़ भाव से सम्बद्ध रहता है और दूसरा स्तर रूपक-प्रधान आदिम गाथाओं की चिरसंचित अनुभूतियों का अन्तरंग भोक्ता होता है। पहले स्तर से आदिम बिम्बों की सृष्टि होती है और दूसरे से पौराणिक बिम्बों की ।

आदिम-बिम्ब :

छायावादी कवियों ने केवल उन्हीं आदिम-बिम्बों को ग्रहण किया है जो सहज-रूप से उन की कल्पना में आ गये । उन्होंने न तो प्रयत्नपूर्वक उन का अन्वेषण किया न उन के अन्तर्निहित प्रतीकात्मक अर्थ की ओर ही उन का ध्यान गया । कल्पना के स्वच्छन्द आवेग में जो आदिम अनुषंगों के सन्दर्भ लिपटे हुए आ गये उन्हें छायावादी कवि ने सीधे-सीधे ग्रहण कर लिया । आरम्भिक कृतियों में प्रत्यक्ष ऐन्द्रिय अनुभूतियों की प्रधानता के कारण गहन आदिम-बिम्बों का अभाव-सा पाया जाता है । वृक्ष, पवन, आकाश, समुद्र, नदी इत्यादि के चित्र तो तब भी मिल जाते हैं । पर उन में कोई दूरव्यापी निर्वैयक्तिक अर्थ-संकेत नहीं मिलता । इन परिचित आदिम सन्दर्भों में नया अर्थ भरने का प्रयास उत्तरकालीन रचनाओं में विशेष रूप से किया गया । छायावाद की दो श्रेष्ठतम उपलब्धियों—'कामायनी' और 'राम की शक्तिपूजा' के निर्माण में आदिम-बिम्बों का प्रमुख हाथ है । इस दृष्टि से इन दोनों ही कृतियों का अध्ययन बहुत रोचक सिद्ध हो सकता है ।

यों तो आदिम-बिम्बों की कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती । पर मुख्यतः पृथ्वी, आकाश, जल, पवन, अग्नि, मत्स्य, वृक्ष, पर्वत और समुद्र इत्यादि के प्रतीकात्मक चित्रों को इस के अन्तर्गत ग्रहण किया जाता है । 'कामायनी' की कथा चूँकि आदिमयुग की घटनाओं से सम्बन्ध रखती है इसलिए उस में ये सभी तत्त्व किसी न किसी रूप में मिल जाते हैं । 'राम की शक्तिपूजा' भी वन्य तथा पार्वतीय पृष्ठभूमि से सम्बद्ध है । अतः उस में भी आदिम अर्थ-संकेत प्रचुरता से मिल जाते हैं । यहाँ इन कृतियों में पाये जाने वाले कुछ विशेष आदिम-बिम्बों के उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं ।

---

१. Archetypal Image, Mythological Image, Legendary Image.(आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'legendary' की ध्वनि पर उस के समानार्थक 'निजन्धरी' शब्द का प्रयोग किया है)

पृथ्वी और आकाश का चिरन्तन युग्म सृष्टि के आरम्भ से ही मानव-मन को नये-नये प्रश्नों से व्याकुल और विक्षुब्ध करता रहा है। उन के प्रति हमारे मन में वंशानुक्रम से प्राप्त कुछ ऐसी प्रसुप्त वासनाएँ हैं जो संवेदना के हलके से हलके स्पर्श से भी अनायास जाग उठती हैं। महा-जलप्लावन में डूबती हुई पृथ्वी मनु को ऐसी दिखाई देती है जैसे क्रुद्ध लहरों के बीच महाकच्छप :

सबल तरंगाघातों से उस
क्रुद्ध सिन्धु के, विचलित-सी,
व्यस्त महाकच्छप-सी धरणी
ऊभ-चूभ थी विकसित-सी।[१]

इसी प्रकार हिमालय श्रद्धा को ऐसा लगता है मानो एक छोर से दूसरे छोर तक पृथ्वी में सिकुड़न पड़ गयी हो। हिमालय के लिए यह बिम्ब सर्वथा अछूता है :

दृष्टि जब जाती हिमगिरि और
प्रश्न करता मन अधिक अधीर,
धरा की यह सिकुड़न भयभीत
आह, कैसी है, क्या है पीर ?[२]

आकाश का नीलापन मनु को अनेक रूपों में दिखाई देता है और अपने प्रत्येक रूप में वह एक नये रहस्य-संकेत का सृजन करता है। हिमालय पर झुका हुआ आकाश ऐसा लगता है :

१. मानो तुंगतरंग विश्व की
हिमगिरि की वह सुढर उठान।
२. वह अनन्त नीलिमा व्योम की
जड़ता-सी जो शान्त रही।[४]
३. इन्द्रनीलमणि महा चषक था
सोम-रहित उलटा लटका।[५]
४. ओ नील आवरण जगती के।[६]

पंत ने पहाड़ी आकाश के लिए एक अत्यन्त मार्मिक आदिम-बिम्ब की कल्पना की है :

---

१. कामायनी; पृ० १५.
२. वही; पृ० ५१.
३. वही; पृ० ३०.
४. वही.
५. वही; पृ० २४.
६. वही; पृ० ६५.

विहंगम-सा बैठा गिरि पर
सुहाता था विशाल अम्बर।[1]

काव्य में पवन और जल की स्वतन्त्र सत्ता का वर्णन बहुत कम होता है। प्रायः वे मानवीय भावों की लपेट में उद्दीपन के रूप में लाये जाते हैं। पर आदिम कल्पना में इन वस्तुओं का महत्त्व केवल वस्तुरूप में न होकर स्वतन्त्र सत्ता-सम्पन्न शक्तिपुंजों के रूप में था। महा-जलप्लावन के समय केन्द्रच्युत शक्तिहीन पवन का यह चित्र देखिए :

नीरवता-सी शिला-चरण से
टकराता फिरता पवमान।[2]

और महा-जलप्लावन के बाद—

१. आज पवन मृदु साँस ले रहा
जैसे बीत गया खटका।[3]

२. शिला-सन्धियों से टकरा कर
पवन भर रहा था गुंजार।[4]

पवन की अपेक्षा जल के साथ मानव के जैवी विकास का अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। पर आज भी मानव-मन में जल-सम्बन्धी जो आदिम अनुषंग सोये हुए हैं वे उस के कोमल पक्ष की अपेक्षा भयानक रूप से अधिक सम्बन्ध रखते हैं :

१. बढ़ने लगा विलास वेग-सा
वह अति भैरव जल-संघात
तरल तिमिर से प्रलय-पवन का
होता आलिंगन प्रतिघात।[5]

२. शत घूणावर्त, तरंग-भंग, उठते पहाड़,
जल राशि-राशि जल पर चढ़ता, खाता पछाड़।[6]

पृथ्वी, आकाश, जल और पवन के बाद आदिम मानवीय अनुषंगों में अग्नि का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। सभ्यता के विकास का प्रथम उद्गम-स्रोत होने के साथ-साथ वह आदिम मानव के अनेक पवित्र संकल्पों और आन्तरिक सम्बन्धों की साक्षी रही है। देवसृष्टि के विध्वंस के बाद मनु द्वारा प्रथम अग्नि-शोध का यह चित्र देखिए :

पहला संचित अग्नि जल रहा
पास मलिन द्युति रवि-कर से[7]

---

१. पल्लव; पृ० ६६.
२. कामायनी; पृ० ३.
३. वही; पृ० २४.
४. वही; पृ० २६.
५. वही; पृ० १५.
६. अनामिका; पृ० १५३.
७. कामायनी; पृ० ३१.

इस तथ्य की ओर बहुत कम लोगों का ध्यान गया है कि 'कामायनी' की कथा के विकास के साथ अग्नितत्त्व का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। अनजाने ही प्रसाद ने कथा के सभी प्रमुख मोड़ों को अग्निसंकेतों के द्वारा व्यक्त किया है। 'प्रथम संचित अग्नि' के कुछ बाद ही श्रद्धा और मनु का प्रथम साक्षात्कार होता है। दोनों के पारस्परिक स्नेह-सम्बन्ध में प्रथम द्वन्द्व का संकेत भी अग्नि के द्वारा ही दिया गया है :

सूखी काष्ठ-सन्धि में पतली
अनल-शिखा जलती थी,
उस धुँधले गृह में आभा से
तामस को छलती थी।
किन्तु कभी बुझ जाती पा कर
शीत पवन के झोंके....[1]

और इस सम्बन्ध की समाप्ति भी अग्निशिखा के बुझ जाने के साथ होती है :

दो काठों की सन्धि-बीच
उस निभृत गुफा में अपने
अग्निशिखा बुझ गयी, जागने
पर जैसे सुख-सपने।[2]

और निर्वेद-सर्ग में श्रद्धा और मनु के पुनः साक्षात्कार की सूचना भी अग्निशिखा के द्वारा ही दी गयी है। आकस्मिक भेंट के बाद इड़ा को वहाँ ले जाती है जहाँ पहले से ही अग्निशिखा प्रज्वलित हो रही थी। और जब श्रद्धा वहाँ पहुँची तो—

सहसा धधकी वेदीज्वाला
मण्डप आलोकित करती,
कामायनी देख पायी कुछ
पहुँची उस तक डग भरती।[3]

इस प्रकार अग्नि को एक प्रतीकात्मक महत्त्व दे दिया गया है। अग्नि का यह सूक्ष्म सांकेतिक उपयोग प्रसाद की आदिम-कल्पना का सर्वोत्तम उदाहरण है। 'राम की शक्तिपूजा' में भी इस प्रकार का एक गहन सांकेतिक चित्र आता है :

है अमानिशा, उगलता गगन घन अन्धकार
खो रहा दिशा का ज्ञान, स्तब्ध है पवनधार
अप्रतिहत गरज रहा पीछे अम्बुधि विशाल
भूधर ज्यों ध्यानमग्न, केवल जलती मशाल।[4]

---

१. कामायनी; पृ० ११८.
२. वही; पृ० १३६.
३. वही; पृ० २१४.
४. अनामिका; पृ० १५०.

इस सम्पूर्ण चित्र में प्राकृतिक शक्तियों के चेतन व्यापारों का अद्भुत प्रभाव-बिम्ब प्रस्तुत किया गया है। इन सारी आधिभौतिक शक्तियों के विरुद्ध अकेली जलती मशाल का बिम्ब मानव की अदम्य जिजीविषा और संघर्ष का द्योतक है। निराला के आदिम-बिम्ब प्रसाद की अपेक्षा अधिक सांकेतिक हैं पर प्रसाद के आदिम-बिम्बों की पृष्ठभूमि चूँकि अधिक सहज और स्वाभाविक है अतः वे तत्कालीन मानसिक वातावरण को प्रस्तुत करने में अधिक समर्थ हैं। उन्हें यह सम्पूर्ण सृष्टि ही किसी आदिम-गुफा से "नभ, अनिल, अनल, क्षिति और नीर" के साथ एक झंझाप्रवाह की तरह निकली हुई जान पड़ती है।[१] मानव-जाति के आदिम अनुषंगों में मृगया का भी एक स्वतन्त्र स्थान है। जंगल से शिकार कर के लौटे हुए मनु का यह अस्त-व्यस्त चित्र देखिए :

मृग डाल दिया, फिर धनु को भी
मनु बैठ गये शिथिलित शरीर,
बिखरे थे सब उपकरण वहीं—
आयुध, प्रत्यंचा, शृंग, तीर।[२]

ऊषा की अरुणिमा सृष्टि के आरम्भ से ही मानव की कल्पना को अनेक रंगों में रँगती जा रही है। आज हमारे निकट उस का कोमल और रंगीन पक्ष ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। पर महा-जलप्लावन के बाद की प्रथम ऊषा को मनु की आदिम-कल्पना ने एक दूसरे ही रूप में देखा था :

उषा सुनहले तीर बरसती
जयलक्ष्मी-सी उदित हुई,
उधर पराजित काल-रात्रि भी
तम में अन्तर्निहित हुई।[३]

सुनहले तीर बरसती हुई ऊषा की इस मनोमूर्ति को हम सहज ही 'कामायनी' का सर्वोत्तम आदिम-बिम्ब कह सकते हैं। प्रभाव की समग्रता और सन्दर्भ की उपयुक्तता की दृष्टि से यह चित्र अन्यतम है। पर साथ ही एक अन्य विशेषता की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है। छायावाद के लगभग समस्त आदिम-बिम्बों में रँमैण्टिक तत्त्व की प्रधानता है। यही बात ऊषा और कालरात्रि की इस विरोधमूलक कल्पना में भी पायी जाती है। छायावादी आदिम-बिम्बों की यह एक बहुत बड़ी सीमा है। यही कारण है कि ये बिम्ब पाठक को केवल संवेदना के किसी विशेष स्तर पर प्रभावित करते हैं। ऐन्द्रिय अनुभवों को अतिक्रान्त कर के वे उसे अन्तर्दृष्टि और प्रज्ञा के लोक में नहीं ले जाते। इस दृष्टि से निराला के आदिम-बिम्बों में अधिक अर्थ-सामर्थ्य है।

---

१. कामायनी; पृ० १५७.
२. वही; पृ० १४१.
३. वही, पृ० २३.

पौराणिक बिम्ब

प्राचीन कविता का पुराण के साथ बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध था। पर इस विज्ञान-प्रधान बौद्धिक युग में आ कर पौराणिक कल्पना ने अपना धार्मिक और विश्वासपरक रूप खो दिया है और एक अधिक निश्चित प्रतीकात्मक अर्थ ग्रहण कर लिया है। इस लिए आधुनिक कवियों में पौराणिक कथाओं की अपेक्षा उन के सूक्ष्म सन्दर्भों का उपयोग अधिक किया है। ये सन्दर्भ प्रायः उपमा, रूपक, प्रतीक और बिम्ब के रूप में पाये जाते हैं। छायावादी कविता में पौराणिक कल्पना का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष, दोनों ही रूपों में उपयोग किया गया है। उस का सब से स्पष्ट रूप 'कामायनी' और 'राम की शक्तिपूजा' में पाया जाता है। पर यह ध्यान देने की बात है कि इन कवियों ने उस के विश्वास-परक रूप को अधिक महत्त्व नहीं दिया है। 'कामायनी' के कथानक का आधुनिकीकरण और 'राम की शक्तिपूजा' के राम के संशयग्रस्त मन का सूक्ष्म अंकन इस बात का प्रमाण है। तात्पर्य यह कि इन कवियों ने पौराणिक कथानक को केवल प्रतीकात्मक माध्यम के रूप में ग्रहण किया है। इसी लिए इन कृतियों में उस का बिम्बात्मक पक्ष अधिक उभर कर सामने आया है। 'कामायनी' के स्वरूप की तो सम्पूर्ण कल्पना ही पौराणिक बिम्बों से भरी हुई है। उस के पात्र, स्थितियों, महा-जलप्लावन, हिमालय, महामत्स्य, महावट से बँधी हुई मनु की नाव—इन सभी वस्तुओं का प्रभाव पाठक के मन पर एक विराट् बिम्ब के रूप में पड़ता है। इसी प्रकार 'राम की शक्तिपूजा' का सम्पूर्ण कलेवर पौराणिक बिम्बों द्वारा निर्मित हुआ है। इन के अतिरिक्त अप्रत्यक्ष रूप से सम्पूर्ण छायावादी कविता में उपमा अथवा उत्प्रेक्षा के रूप में पौराणिक बिम्ब प्रायः मिल जाते हैं। इस दृष्टि से सब से धनी प्रसाद हैं। उन की कल्पना अतीत के अज्ञात-अस्पष्ट लोकों में अधिक भ्रमण करती थी। अतः उन्होंने स्वभावतः वैदिक तथा पौराणिक संस्कृतियों से अधिक प्रत्यक्ष प्रेरणा ग्रहण की थी। एक तरह से उन की कल्पना अतीत में ही निवास करती थी। अतः उन के सम्पूर्ण बिम्बविधान पर अतीत की संस्कृतियों का बहुत गाढ़ा रंग है। निराला का काव्य-विकास आधुनिक संवेदना के स्तर पर हुआ है। पर कुछ लम्बी कथाप्रधान कृतियों में उन्होंने भी पुराण और इतिहास के क्षेत्रों में जा कर नये प्रतीकात्मक अर्थों और बिम्बों का आकलन किया है। पंत के काव्य में इस वर्ग की कुछ उपमाएँ और उत्प्रेक्षाएँ ही दिखाई देती हैं। उन्होंने पौराणिक कल्पना का प्रत्यक्ष उपयोग कहीं नहीं किया है। इस दृष्टि से महादेवी वर्मा की कृतियों का अध्ययन एक विचित्र विरोधाभास उपस्थित करता है। वैदिक साहित्य और प्राचीन संस्कृत काव्य का गहन अध्ययन करने के पश्चात् भी उन की रचनाओं में पौराणिक बिम्बों का एकान्त अभाव दिखाई देता है। सम्भवतः इस लिए कि गीतात्मक कृतियों का सम्बन्ध प्रत्यक्ष अनुभूतियों से होता है। अतः वहाँ कल्पना को अप्रस्तुतों की खोज के लिए वर्तमान की सीमा के बाहर जाने का बहुत कम अवसर रहता है। यहाँ छायावादी कविता में पाये जाने वाले कुछ प्रमुख पौराणिक बिम्बों के उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं।

पहले कहा जा चुका है कि प्रत्यक्ष पौराणिक कल्पना का सब से सफल उदाहरण 'कामायनी' है। उस में देवसभ्यता, महा-जलप्लावन, सारस्वतनगर, हिमालय और कैलास आदि के जो चित्र आये हैं वे स्पष्टतः पौराणिक कल्पना पर आधारित हैं। इस दृष्टि से 'कामायनी' का स्वतन्त्र अध्ययन होना चाहिए। यहाँ मूल कथानक के अतिरिक्त प्रासंगिक उद्भावना के रूप में जो पौराणिक बिम्ब आये हैं, उन्हीं का सर्वेक्षण प्रस्तुत किया जा रहा है। चिन्ता-सर्ग में ध्वस्त देवसंस्कृति का बड़ा मोहक चित्र उपस्थित किया गया है। सुरबालाओं के श्रृंगार का चित्रण करते हुए कवि ने अनेक सौन्दर्य-बिम्बों की कल्पना की है। कपोल के वर्ण-सौन्दर्य के लिए यह पौराणिक बिम्ब देखिए :

> कल कपोल था जहाँ बिछलता
> कल्पवृक्ष का पीत पराग।[1]

कल्पवृक्ष एक कल्पित वृक्ष है जो कविप्रसिद्धि के अनुसार स्वर्ग में होता है। उस कल्पनाजन्य देवोपम वृक्ष के पुष्प-पराग का उपमान कपोलों की अतिशय कोमलता और कान्ति को व्यंजित करता है। इसी प्रकार प्रलयकालीन बिजलियों की चकाचौंध के लिए एक दूसरा पौराणिक उपमान प्रस्तुत किया गया है :

> उल्का लेकर अमर शक्तियाँ
> खोज रहीं ज्यों खोया प्रात।[2]

अमर शक्तियों से यहाँ उन देवताओं की ओर संकेत है जिन के वैभव-विलास का स्वर्णिम प्रात प्रलय की लहरों में खो गया था। ऊपर के दोनों ही चित्र 'कामायनी' की प्रस्तुत घटना से किसी न किसी रूप में जुड़े हुए हैं। पर उस में कुछ ऐसे पौराणिक बिम्ब भी मिल सकते हैं जो केवल अप्रस्तुत के रूप में लाये गये हैं। कर्म-सर्ग में सन्ध्या का यह वर्णन देखिए :

> धीरे-धीरे जगत् चल रहा
> अपने उस ऋजु पथ में,
> धीरे-धीरे खिलते तारे
> मृग जुतते विधु-रथ में।[3]

चन्द्रमा के रथ में मृगों के जुतने की कल्पना पौराणिक किंवदन्तियों पर आधारित है। इस सन्दर्भ को जाने बिना इस पंक्ति का कोई अर्थ लगाना सर्वथा असम्भव है। पर यहाँ कवि केवल पौराणिक संकेत देकर रह गया है। उस ने चन्द्ररथ के बिम्ब को पूर्ण संश्लिष्ट रूप देने का प्रयास नहीं किया है। इस दृष्टि से ईर्ष्या सर्ग में गर्भवती श्रद्धा के लिए जिस पौराणिक बिम्ब की कल्पना की गयी है वह अधिक सफल है :

---

१. कामायनी; पृ० ११.
२. वही; पृ० १४.
३. वही; पृ० ११८.

सोने की सिकता में मानो
कालिन्दी बहती भर उसास
स्वर्गंगा में इन्दीवर की
या एक पंक्ति कर रही हास।[1]

चन्द्र रथ की भाँति स्वर्गंगा में इन्दीवर की पंक्ति की कल्पना भी पूर्णतः पौराणिक विश्वासों पर आधारित है। इस बिम्ब का प्रत्यक्षीकरण भी स्वर्गंगा-सम्बन्धी किंवदन्तियों के चिरसंचित मानसिक अनुषंगों के आधार पर ही सम्भव है। इन अप्रत्यक्ष अप्रस्तुत बिम्बों के अतिरिक्त प्रसाद ने कुछ प्रत्यक्ष पौराणिक बिम्ब भी दिये हैं। ऐसे स्थलों पर उन्होंने अपनी स्वच्छन्द कल्पना का भरपूर उपयोग किया है। शनिलोक की यह कल्पना देखिए :

शनि का सुदूर वह नील लोक
जिस की छाया-सा फैला है ऊपर-नीचे यह गगन-शोक,
उस के भी परे सुना जाता कोई प्रकाश का महा ओक।[2]

अँगरेज़ी में जिसे 'मिथ' कहते हैं, उस की दृष्टि से विचार करने पर शनिलोक की यह कल्पना अन्य सभी पौराणिक उपमानों से अधिक अर्थ-व्यंजक प्रतीत होगी। 'ऐसा सुना जाता है' कहकर कवि ने स्पष्ट ही लोक-कल्पना की ओर संकेत किया है, जिस के द्वारा 'मिथ' का निर्माण होता है। चरित्रों में मनु और श्रद्धा का चित्रण अधिक रॅमैण्टिक धरातल पर किया गया है। पर इड़ा के चरित्रांकन में आधुनिक युगबोध और पौराणिक कल्पना का अद्भुत मिश्रण है। उस के व्यक्तित्व की विशालता को व्यंजित करने के लिए एक उदात्त पौराणिक बिम्ब की सृष्टि की गयी है :

था एक हाथ में कर्म-कलश वसुधा जीवन-रस सार लिये,
दूसरा विचारों के नभ को था मधुर अभय अवलम्ब दिये,
मिली थी त्रिगुण तरंगमयी, आलोक वसन लिपटा अराल
चरणों में थी गतिभरी ताल।[3]

निर्वेद-सर्ग में नर्तित नटेश का जो चित्र आया है वह स्पष्ट ही शैवदर्शन की परम्परागत मान्यताओं पर आधारित है। पर कविकल्पना ने उस को इतना रहस्यात्मक रूप दे दिया है कि चाक्षुष बिम्ब के रूप में उस का पूर्णतः ग्रहण नहीं हो पाता। इस दृष्टि से 'राम की शक्तिपूजा' में पार्वती के सर्वव्यापी रूप की जो कल्पना की गयी है उस में बिम्बग्रहण कराने की अधिक क्षमता है :

---

१. कामायनी; पृ० १४२.
२. वही; पृ० १७०.
३. वही; पृ० १६८.

देखो बन्धुवर, सामने स्थित जो यह भूधर
शोभित शत-हरित-गुल्म-तृण से श्यामल सुन्दर,
पार्वती कल्पना हैं इस की, मकरन्द-विन्दु,
गरजता चरण-प्रान्त पर सिंह वह, नहीं सिन्धु,
दशदिक्-समस्त हैं हस्त, और देखो ऊपर,
अम्बर में हुए दिगम्बर अर्चित शशि-शेखर।[1]

पार्वती रूप की यह कल्पना निराला को बहुत प्रिय है। एक अन्य कविता में उन्होंने पतझड़ की सूखी डाल को तपस्यालीन पार्वती के रूप में देखा है :

रूखी री यह डाल, वसन वासन्ती लेगी।
देख, खड़ी करती तप अपलक,
हीरक-सी समीर-माला जप,
शैलसुता अपर्ण - अशना
पल्लव-वसना बनेगी-
वसन वासन्ती लेगी।

इसी प्रकार 'तुलसीदास' में भी नीलवसना शारदा के उदात्त रूप की कल्पना की गयी है। पर उस में रूपक-निर्वाह का प्रयास अधिक स्पष्ट है। निराला ने उपमा अथवा उत्प्रेक्षा के रूप में पौराणिक विम्बों का उपयोग बहुत कम किया है। इस कला के मर्मी पन्त हैं। उन्हें वृक्ष के नीचे सोयी हुई छाया भी दमयन्ती के रूप में दिखाई देती है और बादल भी स्वर्ण हंस के समान चाँदनी-रूपी दमयन्ती को सन्देश देता है :

दमयन्ती-सी कुमुद कला के
रजत करों में फिर अभिराम
स्वर्ण हंस से हम मृदु ध्वनि कर
कहते प्रिय सन्देश ललाम।[2]

पौराणिक कल्पना के अनुसार वसन्त कामदेव का मित्र माना जाता है। इस परम्परागत विश्वास के आधार पर पंत ने अनंग के लिए एक सर्वथा अछूते बिम्ब की कल्पना की है :

है त्रिलोकजित्, नव वसन्त की
विकच पुष्प शोभा सुकुमार
सहम तुम्हारे मृदुल करों में
झुकी धनुष-सी है साभार।[3]

---

१. अनामिका; पृ० १६०-६१.
२. पल्लव; पृ० १३०.
३. वही; पृ० ८७.

छायावादी पौराणिक बिम्बों को यदि बाद की प्रयोग-मूलक नयी कविता के समानान्तर रखकर देखा जाये तो उन की विशेषताएँ और साथ ही साथ सीमाएँ भी स्पष्ट हो जायेंगी। छायावादी कवियों ने पौराणिक सन्दर्भो को अधिक तोड़ा-मरोड़ा नहीं है, जब कि नयी कविता में उन्हें प्रयत्न-पूर्वक आधुनिक साँचे में ढालने का प्रयास किया गया है। उन्होंने जहाँ ऐसा करने का प्रयास भी किया है वहाँ भी प्राचीन अर्थ को वे सर्वथा छोड़ नहीं सके हैं। यही कारण है कि नयी कविता के पौराणिक बिम्बों की भाँति छायावादियों के पौराणिक बिम्ब समकालीन यथार्थ के जटिल स्तरों को प्रतिबिम्बित नहीं करते।

निजन्धरी बिम्ब

पौराणिक कथाओं की भाँति निजन्धरी कथाओं का सम्बन्ध भी लोक-कल्पना से ही है। पर दोनों की प्रकृति में एक मौलिक अन्तर है। पौराणिक कथाएँ धर्म और सामाजिक विश्वास के साथ अनिवार्यतः सम्बद्ध होती हैं, जब कि निजन्धरी कथाओं का सम्बन्ध मानवेतर विश्वासों और रहस्यों से होता है। मुख्यतः इस के अन्तर्गत परियों की कहानियाँ, नाराशंसी गाथाएँ, भावात्मक शिशु-कथाएँ, चमत्कारपूर्ण गल्प, भूत-प्रेत और जादू-मन्तर की कहानियाँ आती हैं। वास्तविकता की कसौटी पर ये कहानियाँ खरी नहीं उतरतीं। इन में प्रायः अबौद्धिक और भ्रममूलक तत्त्वों का समावेश अधिक होता है। पौराणिक कथाओं की तरह इन कहानियों का मुख्य स्वर उपदेशात्मक न होकर, विशुद्ध मनोरंजन-प्रधान होता है। लॉर्ड रेड्लॉन नामक एक विद्वान् ने निजन्धरी कल्पना की व्याख्या इन शब्दों में की है: 'दन्तकथाओं में प्रवृत्त होने वाली कल्पना का कार्य अभाव से भाव की सृष्टि करना नहीं है। बल्कि वह पहले से ही मन में स्थित वस्तुओं का केवल स्थानान्तरण करती हैं।'[1] तात्पर्य यह कि निजन्धरी कथाओं का भ्रम एक प्रकार का काव्यात्मक भ्रम होता है। उस में अनुभूतिगत यथार्थ का अंश होता अवश्य है। लोक-कल्पना केवल उसे उस के परिचित सन्दर्भ से स्थानान्तरित कर के किसी भिन्न अथवा अपरिचित सन्दर्भ में स्थापित कर देती है। गल्प की यह मौलिक प्रकृति है। रॅमैण्टिक प्रवृत्ति से निजन्धरी कल्पना का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। स्वच्छन्द भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए परियों की कहानियों और भावात्मक शिशु-कथाओं में अद्भुत प्रतीकात्मक क्षमता होती है। इसीलिए स्वच्छन्दताप्रिय रॅमैण्टिक कवि के भीतर उन कहानियों के प्रति एक स्वाभाविक झुकाव पाया जाता है। शेली की आरम्भिक कृतियों में निजन्धरी कल्पनाओं की भरमार है और कीट्स की पहली प्रसिद्ध कविता 'निर्मम सुन्दरी' का निर्माण भी एक प्रचलित निजन्धरी कथा के आधार पर ही हुआ है। यह आकस्मिक नहीं कि रॅमैण्टिक युग के सर्वश्रेष्ठ कवि गेटे की सर्वोत्तम कृति 'फ़ाउस्ट' की रचना भी एक प्रसिद्ध अतिमानवीय लोककथा पर भी आधारित है।

---

१. *The Hero*; 113.

हिन्दी में पंत और प्रसाद की कविताओं पर निजन्धरी कल्पनाओं और चित्रों की बहुत गहरी छाप है। वैसे सामान्यतः सभी छायावादी कवियों ने किसी न किसी रूप में निजन्धरी बिम्बों का उपयोग किया है। इस वर्ग के बिम्बों की सब से अधिक संख्या पंत में है और सब से कम निराला में। कुहुक, टोना और इन्द्रजाल सम्बन्धी बिम्बों का प्रयोग प्रसाद ने भी किया है, पंत ने भी। पर पंत का झुकाव बाल-कल्पना की ओर अधिक है और प्रसाद का पुष्ट और मांसल प्रौढ़ कल्पना की ओर। इस अन्तर को कुछ उदाहरणों के द्वारा अधिक अच्छी तरह समझा जा सकता है। पंत का यह ऐन्द्रजालिक चित्र देखिए :

मुकुलित पलकों के प्याले में
किस स्वप्निल मदिरा का राग
इन्द्रजाल-सा गूँथ रहा नव
किन पुष्पों का स्वर्ण-पराग ?[१]

इस के ठीक समानान्तर इस से मिलती-जुलती प्रसाद की एक ऐन्द्रजालिक रचना देखिए :

नीरव निशीथ में लतिका-सी
तुम कौन आ रही हो बढ़ती ?
कोमल बाँहें फैलाये-सी
आलिंगन का जादू पढ़ती।
किन इन्द्रजाल के फूलों से
लेकर सुहाग-कण रागभरे,
सिर नीचा कर हो गूँथ रही
माला जिस से मधुधार ढरे।[२]

पहले छन्द में भावात्मक वायवीयता अधिक है, जब कि दूसरे में उस वायवीय कल्पना को मूर्त और ऐन्द्रिय रूप देने का प्रयास किया गया है। इस में सन्देह नहीं कि पंत के चित्र में कलात्मक सूक्ष्मता अधिक है। पर प्रसाद के 'इन्द्रजाल के फूलों' का पाठक के मन पर अधिक गहरा प्रभाव पड़ता है। यह दोनों कवियों की मूलभूत संवेदना का अन्तर है। पर यह ध्यान देने की बात है कि इन कवियों ने इन्द्रजाल अथवा जादू-टोना का उपयोग केवल रॅमैण्टिक वातावरण की सृष्टि के लिए किया है। अँगरेजी के प्रसिद्ध प्रतीकवादी कवि डब्ल्यू० बी० यीट्स की तरह इन्होंने किसी बौद्धिक प्रयोजन के लिए जादू-टोना के पारिभाषिक प्रतीकों का प्रयोग नहीं किया है। निजन्धरी कल्पनाओं के प्रति पंत की कृतियों में अधिक गहरा आकर्षण दिखाई देता है। कहीं-कहीं इन कल्पनाओं के द्वारा प्रतीकात्मक अर्थ-सौन्दर्य की सृष्टि करने में भी वे सफल हुए हैं। जैसे—

१. पल्लव, पृ० ६५.
२. कामायनी, पृ० ६७.

सुनता हूँ, इस निस्तल जल में
रहती मछली मोती वाली
पर मुझे डूबने का भय है
भाती तट की चल जल-पाली ।[1]

प्रचलित लोक-कथाओं में मोती वाली मछली का उल्लेख प्रायः आता है। लोक-कल्पना के अनुसार उस तक पहुँचने के लिए जीवन की बाज़ी लगानी पड़ती है। इस लोक-सन्दर्भ के कारण इस छन्द में अद्‌भुत व्यंजकता आ गयी है। इसी प्रकार वन की देवी, वनबाला अथवा वन के राजकुमार की कल्पनाएँ भी प्रायः लोककथाओं में आती हैं। पंत की कल्पना ने इन स्रोतों का प्रचुर उपयोग किया है। विहग के प्रति उन की यह उक्ति देखिए :

दूर वन के ओ राजकुमार
अखिल उर-उर में तेरे गान ।[2]

स्वप्न की रहस्यमयता भी उन्हें 'वन्य देवियों की माया' के समान दिखाई देती है :

निद्रा के उस अलसित वन में
वह क्या भावी की छाया,
दृग्-पलकों में विचर रही या
वन्य देवियों की माया ।[3]

प्रसाद ने भी 'कामायनी' के स्वप्न-सर्ग में वसन्त की मादकता को व्यंजित करने के लिए इस निजन्धरी कल्पना का उपयोग किया है :

वनबालाओं के निकुंज सब
भरे वेणु के मधु स्वर से,[4]

और महादेवीजी को भी मधुमास इस निजन्धरी रूप में ही दिखाई देता है :

वनबाला के गीतों-सा निर्जन में बिखरा है मधुमास ।[5]

निजन्धरी कथाओं का एक बहुत बड़ा भाग परियों की कहानियों के रूप में पाया जाता है। छायावादी कवियों ने मोहक और अतिमानवीय वातावरण की सृष्टि करने के लिए इन परी-कल्पनाओं का प्रायः उपयोग किया है। पंत इस दिशा में अग्रणी हैं। पर सामान्यतः सम्पूर्ण छायावादी कविता में इस के उदाहरण पाये जाते हैं। इस से यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि परी-कल्पना स्वच्छन्द कल्पना का एक अविभाज्य तत्त्व है। यहाँ कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं :

१. गुंजन; पृ० ७१.
२. वही; पृ० ८३.
३. पल्लव; पृ० ६४.
४. कामायनी; पृ० १७८.
५. वही.

१. अरी वारि की परी किशोर ।[1]
२. परियों की निर्जल सरसी-सी ।[2]
३. प्रेम-पंखों में उड़ अनिवार
   अप्सरी-सी लघुभार[3]
४. छिपा छाया-वन में सुकुमार
   स्वर्ग की परियों का संसार ।[4]
५. सामने शुक्र की छवि झल-मल
   पैरती परी-सी जल में कल ।[5]
६. अप्सराएँ मानो वे सुगन्ध की पुतलियाँ[6]
७. हँसती अनंग बालिकाएँ अन्तरिक्ष में[7]
८. वह सन्ध्या-सुन्दरी परी-सी[8]
९. बीचियों में तैरती अप्सर-कुमारियाँ[9]
१०. करती समीर-परियाँ विहार[10]
११. स्वप्न-लोक की परियाँ उस में भूल गयीं मुस्कान[11]

निजन्धरी कल्पना की व्याख्या के लिए पंत की 'अप्सरा' शीर्षक कविता बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सकती है। एक प्रकार से उस में परी-कल्पना की सम्पूर्ण मानसिक प्रक्रिया की व्याख्या कर दी गयी है। शिशु की रहस्यमय मनोरचना का यह सूक्ष्म अंकन देखिए :

शैशव की तुम परिचित सहचरि,
जग से चिर अनजान
नव शिशु के संग छिप-छिप रहती
तुम, मा का अनुमान,
....
तन्द्रा के छायापथ से आ—
शिशु-उर में सविलास,

१. पल्लव; पृ० ७८.
२. वही; पृ० १०६.
३. गुंजन; पृ० ६४.
४. वही; पृ० ७४.
५. वही; पृ० १०३.
६. लहर; पृ० ६०.
७. वही;
८. परिमल; पृ० १३५.
९. वही; पृ० २०६.
१०. महादेवी वर्मा : आ० क०; पृ० २४.
११. वही; पृ० ३६.

अधरों के अस्फुट मुकुलों में
रँगती स्वप्निल हास ।[1]

तात्पर्य यह कि अप्सरा शैशवकालीन कल्पनाओं की सृष्टि है जिस की मानसिक स्मृति यथार्थ जीवन की विषमताओं के बीच भी उपचेतन में कहीं न कहीं बनी रहती है। मानव-मन का एक अंश बराबर उन अबौद्धिक कहानियों में रस पाता है। यही कारण है कि इस वैज्ञानिक युग में भी वन के राजकुमार अथवा परियों की कहानियों का काव्यात्मक महत्त्व कम नहीं हुआ है। पर छायावादी कवियों ने इन कथा-सन्दर्भों से केवल एक अपरिचित और कौतूहलमय वातावरण उत्पन्न कर ने का प्रयास किया है। इन अतिमानवीय और अबौद्धिक कथाओं में प्रतीकात्मक अर्थ भरने का प्रयास बहुत कम किया गया है। इस दृष्टि से 'राम की शक्तिपूजा' में निराला ने जिस निजन्धरी कल्पना का उपयोग किया है वह ऐन्द्रजालिक परी-कल्पनाओं से अधिक महत्त्वपूर्ण है। उस में देवीदह से जो एक सौ आठ कमल लाने का प्रसंग आया है वह लोककल्पना का उत्तम उदाहरण है। लोककथाओं का नायक किसी अभीष्ट की सिद्धि के लिए कमल की खोज में प्रायः अगम-अज्ञात सरोवरों की यात्रा करता है। राम की पौराणिक कथा के साथ यह निजन्धरी कथा निश्चय ही लोककल्पना के द्वारा बाद में जोड़ी गयी होगी। शक्ति-पूजा के बीच में एक सौ आठ इन्दीवरों में से अन्तिम एक का सहसा अदृश्य हो जाना भी उस के निजन्धरी स्वरूप की ही पुष्टि करता है। राम-रावण के 'अपराजेय समर' की कथा में इस निजन्धरी घटना को जोड़ कर निराला ने उस की प्रतीकात्मकता को और अधिक पूर्ण और मर्मस्पर्शी बना दिया है। इन्दीवर-लोप की घटना इस सम्पूर्ण कथा का चरमविन्दु है, जो वस्तुतः जीवन की जटिलता और दुर्बोधता का ही एक प्रतीक है :

राम ने बढ़ाया कर लेने को नील कमल
कुछ लगा न हाथ, हुआ सहसा स्थिर मन चंचल,
ध्यान की भूमि से उतरे, खोले पलक विमल,
देखा, वह रिक्तस्थान···· ···· ···[2]

इस कमलहीन 'रिक्तस्थान' के रूप में जीवन की असहायता और स्थायी अभाव का कितना मार्मिक चित्र उपस्थित किया गया है। निजन्धरी कल्पना का सर्वोत्तम उपयोग ऐसे ही स्थलों पर दिखाई देता है। पर इस प्रकार के अर्थगर्भ सांकेतिक उदाहरण छायावादी कविता में कम मिलते हैं। तात्पर्य यह कि छायावादी कवियों ने निजन्धरी बिम्बों के केवल रहस्यमय-पक्ष को अपनी कला में उतारने का प्रयास किया है। उन के गहन वस्तुपरक संकेतों को उन्होंने प्रायः छोड़ दिया है। पर सम्भवतः स्वच्छन्द (रॅमै-

---

१. गुंजन; पृ० ६३.
२. अनामिका; पृ० १६३.

ण्टिक) कल्पना के लिए यह सम्भव भी नहीं था। अँगरेज़ी कविता में भी यह कार्य रॅमैण्टिक युग के बहुत बाद, यीट्स और इलियट जैसे आधुनिकतावादी कवियों के द्वारा ही सम्भव हो सका। पर छायावाद का महत्त्व इस बात में है कि हिन्दी कविता के इतिहास में इसी धारा के कवियों ने पहले-पहल लोककल्पना के रहस्यमय क्षेत्रों में प्रवेश कर ने का प्रयास किया। इस से उन्हें ताज़े प्रभावपूर्ण बिम्बों का एक ऐसा उर्वर क्षेत्र मिल गया जो अब तक अनुद्‌घाटित और अछूता था।

वैयक्तिक भिन्नताएँ

ऊपर छायावादी बिम्बविधान की कुछ सामान्य विशेषताओं का उल्लेख किया गया है। इन ऊपरी समानताओं के तल में प्रत्येक कवि के बिम्बनिर्माण की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं जो उन्हें एक-दूसरे से अलग करती हैं। प्रसाद के बिम्बों में अतीत के गाढ़े रंगों का उभार अधिक है। उन्होंने अपनी आरम्भिक कृतियों में प्रायः परम्परागत अलंकारों को ही एक नया रूप दे कर आधुनिक साँचे में ढाल दिया है। 'आँसू' के श्रृंगार-चित्र इसी कोटि में आते हैं। पर क्रमशः उन के बिम्बों में निखार और घनत्व आता गया। 'कामायनी' में पहुँच कर उन की कला प्राचीन अलंकार-मोह से मुक्त हो कर विशुद्ध संवेदना के धरातल पर स्थित हो गयी। अब उन्होंने प्राचीन उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं के स्थान पर अतीत के गहन सन्दर्भों और संकेतों से भाषा की व्यंजना-परिधि को विस्तृत करना आरम्भ कर दिया। इस से एक ओर उन के बिम्बों में प्रसंग-गर्भत्व आया, दूसरी ओर कला में एक गहन अभिजात (क्लैसिकल) रंग। एक सफल नाटककार होने के कारण उन्हें कुछ ऐसी सुविधाएँ प्राप्त थीं जिन से अन्य कवि वंचित थे। अनुभूतियों को मूर्त रूप देने के लिए उन्होंने प्रायः नाटकीय तत्त्वों का उपयोग किया है। चिन्ता-सर्ग का तो सारा सौन्दर्य ही पृष्ठभूमि की नाटकीयता पर टिका हुआ है। मनु के मन में दौड़ने वाले सारे स्मृति-बिम्ब एक दीर्घ स्वगत-संलाप के रूप में उपस्थित किये गये हैं। इसी प्रकार लज्जा और इड़ा-सर्गों की बिम्बयोजना भी एक विशेष प्रकार की सन्दर्भगत नाटकीयता लिये हुए है। इस के फलस्वरूप प्रसाद के बिम्ब-विधान में एक दूसरी विशेषता आ गयी है। उन के बिम्ब कभी भी खण्डित रूप में नहीं आते। वे प्रायः बिम्बों की एक दूरव्यापी श्रृंखला तैयार करते हैं, जिन में एक माला की-सी सघनता और सम्बद्धता होती है। उन में से कोई एक बिम्ब स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखता। बल्कि स्वतन्त्र हो कर वह बिम्ब ही नहीं रह जाता। ऐसे स्थलों पर किसी एक चित्र को बिम्ब मानना असंगत जान पड़ता है। वस्तुतः कवि उस बिम्बश्रृंखला के द्वारा किसी विशेष मनःस्थिति अथवा जटिल भाव-व्यापार को रूपायित करना चाहता है। अतः वहाँ उस सम्पूर्ण श्रृंखला को एक घनीभूत बिम्ब-पुंज मानना चाहिए। 'कामायनी' में इस प्रकार के अनेक उदाहरण हैं। जैसे लज्जा-सर्ग का यह अंश :

अम्बरचुम्बी हिमश्रृंगों से
कलरव-कोलाहल साथ लिये,
विद्युत् की प्राणमयी धारा
बहती जिस में उन्माद लिये ।

मंगल कुंकुम की श्री जिसमें
निखरी हो ऊषा की लाली,
भोला सुहाग इठलाता हो
ऐसी हो जिस में हरियाली ।

हो नयनों का कल्याण घना
आनन्द सुमन-सा विकसा हो,
वासन्ती के वन वैभव में
जिस का पंचम स्वर पिक-सा हो ।

जो गूँज उठे फिर नस-नस में
मूर्च्छना समान [illegible]-सा,
आँखों के साँचे में आ कर
रमणीय रूप बन ढलता-सा,

नयनों की नीलम की घाटी
जिस रसघन से छा जाती हो,
वह कौंध कि जिस से अन्तर की
शीतलता ठण्ढक पाती हो ।

हिल्लोल भरा हो ऋतुपति का
गोधूली की-सी ममता हो,
जागरण प्रात-सा हँसता हो,
जिस में मध्याह्न निखरता हो ।

हो चकित निकल आयी सहसा
जो अपने प्राची के घर से,
उस नवल चन्द्रिका से बिछले
जो मानस की लहरों पर से ।

कोमल किसलय मर्मर-रव से
जिस का जयघोष सुनाते हों,
जिस में दुख-सुख मिलकर मन के
उत्सव आनन्द मनाते हों ।

उज्ज्वल वरदान चेतना का
सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं ।

अम्बरचुम्बी हिमशृंगों से लेकर किसलयों के जयघोष तक, एक ही सौन्दर्य बिम्ब की कल्पना की गयी है। बीच-बीच में जो प्रकृति के लाक्षणिक चित्र आये हैं वे उसी मूलभूत कल्पना को पुष्ट और भास्वर करते हैं । इस पूरे बिम्बपुंज से किसी एक चित्र को अलग कर देने पर उस की सम्पूर्ण सार्थकता नष्ट हो जाती है। यहाँ से वहाँ तक भावों की एक अनुस्यूत सघनता है जो सम्पूर्ण कल्पना को एक विराट् बिम्ब के रूप में प्रस्तुत करती है। इस के साथ ही प्रसाद के बिम्बों की एक अन्य विशेषता की ओर भी ध्यान जाता है । उन के बिम्बों में दृश्य-संवेदना की प्रमुखता है । परन्तु उन के अधिकांश बिम्बों में सहजता में लिपटी हुई एक ऐसी संकेतग्राह्य अस्पष्टता होती है जिस का प्रत्यक्षीकरण एक धुँधले भावबोध के रूप में ही हो पाता है । इसीलिए उन के चित्र केवल दृष्टि को ही आकृष्ट नहीं करते, उन से मन की सम्पूर्ण ग्राहिका शक्ति संचालित और प्रभावित होती है । यह विशेषता प्रसाद के बिम्बों में सब से अधिक है । वसन्त, पतझड़, समुद्र, सन्ध्या, निशीथ, छायापथ, अन्तरिक्ष, रजनी का पिछला पहर— ये प्रसाद के कुछ प्रमुख बिम्बस्रोत हैं। घूम-फिर ये चित्र उन की अधिकांश कविताओं में आ जाते हैं। जहाँ तक परिवेश और बिम्ब का सम्बन्ध है, प्रसाद के बिम्बों में सामयिक संकेत अपेक्षाकृत कम हैं । उन में सार्वभौम अनुभूतियों का आग्रह अधिक है ।

निराला के बिम्बों में भावावेश और वासना का एक उद्धत प्रवाह मिलता है। उन के बिम्बविधान का प्रमुख स्रोत है प्रकृति और समकालीन जीवन । प्रकृति के प्रायः उन्होंने वही चित्र संकलित किये हैं जो सान्द्र और ओजस्वी हैं अथवा जिन में तीव्र भावावेग को जगा सकने की क्षमता है। व्यापकता की दृष्टि से निराला के बिम्ब आधुनिक जीवन के प्रायः प्रत्येक क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस पूरे युग में अकेले निराला ही ऐसे कवि हैं जिन में समसामयिक जीवन की जटिलता और आन्तरिक संक्रमण को सूचित करने वाले बिम्ब भी कभी-कभी मिल जाते हैं। साथ ही वे अन्य छायावादियों की तरह केवल ऐन्द्रिय चित्रों से सन्तुष्ट नहीं होते । उन के आवेग-प्रवान बिम्बों का भी एक निश्चित वैचारिक लक्ष्य होता है। तात्पर्य यह कि वे अनुभूति को विचार के स्तर पर और विचार को अनुभूति के स्तर पर एक साथ अनुभव करते हैं। इस दृष्टि से पन्त के बिम्बनिर्माण की प्रक्रिया उन से सर्वथा भिन्न है । इस अन्तर को एक उदाहरण से अच्छी तरह समझा जा सकता है । पन्त की पंक्तियाँ हैं :

तुम्हारी आँखों का आकाश
सरल आँखों का नीलाकाश-

खो गया मेरा खग अनजान
मृगेक्षिणि, इन में खग अज्ञान ।[1]

इन्हीं आँखों की एक विशेष भंगिमा के सम्बन्ध में निराला की ये पंक्तियाँ देखिए :

वीक्षण अराल
बज रहे जहाँ
जीवन का स्वर छन्द-ताल
मौन में मन्द्र,
ये दीपक जिस के सूर्य-चन्द्र
बँध रहा जहाँ दिग्देश काल,
सम्राट ! उसी स्पर्श से खिली
प्रणय के प्रियंगु की डाल-डाल ।[2]

पंत केवल आँखों का एक ऐन्द्रिय प्रभावचित्र भर देते हैं । इस में सन्देह नहीं कि नीली आँखों की तीव्रतम संवेदना जानने में वे पूर्ण सक्षम हैं । पर उस संवेदना को वे अधिक से अधिक एक तीव्र जिज्ञासा अथवा प्रश्न तक ले जाकर छोड़ देते हैं । पर निराला आरम्भ करते हैं एक सामान्य कथन से और क्रमशः उन का स्वर गहन से गहनतर होता जाता है। उन के यहाँ विचार पहले आते हैं और उन विचारों के तल में क्रियाशील रहने वाली संवेदना बाद में । एक प्रकार से वे विचारों की अमूर्त भाषा को संवेदना के मूर्त चित्रों में अनूदित करते हैं । इसीलिए प्रस्तुत छन्द में पहले 'वीक्षण अराल' का एक दूरव्यापी मानसिक चित्र आया है जिस में क्लैसिकल (प्राचीन) कविता का-सा वैचारिक संयम और संक्षिप्तता है । परन्तु जहाँ वे उस 'वीक्षण अराल' के स्पर्श का वर्णन करते हैं वहाँ उन की वाणी विचार के स्तर से उतर कर ऐन्द्रियता के स्तर पर आ जाती है । निराला की एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि वे लगातार दोनों में से किसी एक स्तर पर बहुत देर तक नहीं टिकते । उन की कल्पना निरन्तर विचार से संवेदना और संवेदना से विचार के क्षेत्र में संक्रमण करती रहती है । इस से लम्बी कविताओं में बिम्बों की एकरसता भंग होती है और मनःस्थिति के परिवर्तन के साथ-साथ बिम्बों के संगठन में भी उतार-चढ़ाव आता रहता है । इसीलिए उन्हें एक ही कविता में भिन्नदेशी बिम्बों के द्वारा व्यक्तिगत और सामाजिक अर्थों को अभिव्यक्त करते चलने में कभी कठिनाई नहीं होती । 'सरोजस्मृति' और 'वनवेला' शीर्षक कविताओं के बिम्बविधान में व्यक्तिगत और सामाजिक सन्दर्भों का यह सम्मिश्रण देखा जा सकता है ।

निराला अपने विराट् बिम्बों के लिए प्रसिद्ध हैं । पर यह विराट्ता सदैव विषयवस्तु की ही नहीं होती, कभी-कभी निराशा और पराजय में भी उन्होंने विराटता

१. गुंजन; पृ० ४८.
२. अनामिका; पृ० १८.

के दर्शन किये हैं। ऐसे स्थलों पर उन की कल्पना अपने सर्वोत्तम रूप में होती है। पर जीवन की विराट्ता के उपासक निराला ने ही हिन्दी कविता से पहले-पहल लघुता के प्रति साहित्यिक दृष्टिपात भी किया। इस प्रकार उन्होंने बिम्वविधान की एक नयी दिशा का अन्वेषण किया, जिस की ओर अन्य छायावादी कवियों का ध्यान नहीं गया था। छायावाद के हरे-भरे कुंजों और उत्तुंग शिखरों के बीच उन्होंने उपेक्षित ठूँठ को भी उचित प्रतिष्ठा दी :

ठूँठ यह है आज !
गयी इस की कला
गया है सकल साज।
अब यह वसन्त से होता नहीं अधीर,
पल्लवित झुकता नहीं अब यह धनुष-सा,
....
छाँह में बैठते नहीं पथिक आह भर
....
केवल वृद्ध विहग एक बैठता कुछ कर याद।[1]

इस प्रकार निराला के बिम्वों का विस्तार सूक्ष्म आदर्श से मूर्त यथार्थ तक और आसन्न लघु से सुदूर विराट् तक फैला हुआ है। वे अनुभव के दोनों ध्रुवान्तों पर समान रूप से विचरण करते हैं। उनके बिम्व प्रायः वस्तु के भीतर से उभरते हैं। वे उन का आरोप नहीं करते। इस लिए उन्होंने सज्जात्मक बिम्वों का प्रयोग कम से कम किया है। यों तो उन के काव्य में सम्मूर्तनविधान की अनेक पद्धतियाँ खोजी जा सकती हैं, पर मुख्यतः वे तीन प्रकार से वस्तु का मूर्त आकार खड़ा करने का प्रयास करते हैं : नादव्यंजना के द्वारा, स्वराघातपूर्ण क्रियापदों के द्वारा और शब्दों की आवृत्ति के द्वारा। नादव्यंजना और स्वराघातपूर्ण क्रियापदों के उदाहरण पहले दिये जा चुके हैं। शाब्दिक आवृत्ति का उदाहरण 'गीतिका' की निम्नलिखित कविता में देखा जा सकता है :

कौन तुम शुभ्रकिरणवसना ?
सीखा केवल हँसना, केवल हँसना—
शुभ्रकिरणवसना !

'शुभ्रकिरणवसना' विशेषण चाँदनी के लिए आया है। यह विशेषण चाँदनी का केवल वर्ण ही नहीं सूचित करता, उस का मानवीकरण भी करता है। पर बिम्व की पूर्णता दूसरी पंक्ति में होती है। चाँदनी की सम्पूर्ण उज्ज्वलता और उल्लास की व्यंजना के लिए एक अनूठे बिम्ब की कल्पना की गयी है—'सीखा केवल हँसना, केवल हँसना'। शब्दों की आवृत्ति से बिम्ब को स्फुट करने की इस कला में निराला अन्यतम हैं।

---

१. अनामिका; पृ० १३६.

पंत के बिम्बों का सौन्दर्य भावावेग की तीव्रता या वासना की प्रेरकता में उतना नहीं है, जितना अनुभूति की ऐन्द्रियता और चित्रण के कौशल में। वे रूप-विधायिनी कल्पना की अपेक्षा आरोप-विधायिनी कल्पना का अधिक उपयोग करते हैं। फलतः वे एक सुन्दर वस्तु के समानान्तर उस से मिलती-जुलती अनेक कल्पित वस्तुओं की सृष्टि कर डालते हैं। छाया, बादल, और चाँदनी जैसी कविताओं में यह विशेषता देखी जा सकती है। ऐन्द्रियता पंत के बिम्बविधान की पहली विशेषता है। ऐन्द्रियता में एक प्रकार की संलग्नता होती है, जो कवि और वस्तु के बीच की दूरी को समाप्त कर देती है और इस प्रकार दोनों में एक भावात्मक अभिन्नता स्थापित हो जाती है। इसी भावात्मक तादात्म्यबोध के कारण एक रॅमैण्टिक कवि जब जड़ प्रकृति का चित्रण करने चलता है तो उस पर भी अपनी ऐन्द्रियता का आरोप करता है, जिसे एक प्रकार का 'संवेदनात्मक भ्रम' (पैथेटिक फ़ैण्टेसी) कह सकते हैं। यह 'संवेदनात्मक भ्रम' रॅमैण्टिक काव्य की एक बहुत बड़ी विशेषता माना जाता है। पंत के अधिकांश बिम्ब इसी 'संवेदनात्मक भ्रम' की उत्पत्ति हैं। इसी के चलते उन के निर्जीव वस्तुओं के वर्णनों में भी एक अद्भुत ऐन्द्रियता का बोध होता है :

खुले पलक, फैली सुवर्ण छवि
जगी सुरभि, डोले मधुबाल
स्पन्दन, कम्पन और नव जीवन
सीखा जग ने अपनाना।

—प्रथम रश्मि

पलकों के खुलने, सुरभि के जगने और मधुबालों के डोलने में जो गतिमयता है वह पाठक के मन में एक विशेष प्रकार की ऐन्द्रिय पर्युत्सुकता उत्पन्न करती है। विशेषण-विपर्यय पंत के बिम्बविधान का एक विशिष्ट गुण माना जाता है। पर इस बात को ओर बहुत कम आलोचकों ने ध्यान दिया है कि उन्होंने केवल विशेषणों का ही विपर्यय नहीं किया है, बल्कि कभी-कभी क्रियाओं को भी उन के पूर्वपरिचित स्थानों से हटा कर दूरस्थ संज्ञाओं और सर्वनामों के परिपार्श्व में रख दिया है। सुरभि के साथ 'जगी' क्रिया का प्रयोग इसी प्रकार का है। इस एक क्रिया ने सुरभि की अदृश्य सत्ता को एक ऐन्द्रिय मूर्तिमत्ता दे दी है। ऐसे स्थलों पर ये हलकी-फुलकी क्रियाएँ प्रायः क्रिया से अधिक विशेषण का काम करती हैं। पर पंत के विकसित काव्य-प्रयोगों में क्रियाओं का यह सौन्दर्य प्रायः कम होता गया है। संयुक्त क्रियाओं को तो उन्होंने पहले ही बहिष्कृत कर दिया था। अब मुख्य क्रियाओं के स्थान पर कृदन्त विशेषणों की भरमार हो गयी। विशेष्य से अधिक विशेषण में रुचि लेने का ही यह परिणाम था कि उन की कला निरन्तर सूक्ष्म होती गयी। स्पष्ट है कि विशेषण पर दृष्टि रखनेवाले कवि का ध्यान कर्म-सौन्दर्य पर उतना नहीं जायेगा जितना वस्तुओं के रंग, रूप, स्पर्श, गन्ध, स्वाद आदि पर। समाजशास्त्रीय दृष्टि से यह रॅमैण्टिक कवि के भाववादी दृष्टिकोण का ही

परिणाम माना जायेगा। जिस सिद्धान्त के अनुसार काव्य में 'विशेष' की प्रतिष्ठा हुई उसी सिद्धान्त के अनुसार उस ठोस 'विशेष' को भी उस के रंग, रूप, गन्ध और स्पर्श आदि के अनुसार अनेक सूक्ष्म इकाइयों में विभाजित कर दिया गया। इस से वस्तु का विस्तार तो अवश्य सीमित हो गया पर अनुभूति में अधिक गहराई आयी और साथ ही साथ बिम्बों में संक्षिप्तता और तीव्रता भी। 'गुंजन' में विषयवस्तु के इस संकोच से बचने और अनुभूतियों में वैविध्य लाने के लिए पंत ने प्रायः दोहरे-तिहरे ऐन्द्रिय बिम्बों की रचना की है। इस प्रकार उन्होंने हिन्दी-काव्य को एक सर्वथा नये प्रकार का बिम्ब दिया जिसे किसी अन्य उपयुक्त शब्द के अभाव में 'मिश्रित बिम्ब' की संज्ञा दी जा सकती है।

कल्पना-प्रधान होने के कारण पंत के काव्य में बिम्बों की बहुलता है। उन के यहाँ वस्तु कभी भी अपने नग्न और प्रत्यक्ष रूप में नहीं दिखाई देती। उन की रचना में वायु का एक हलका-सा झोंका, लहर का एक धीमा-सा कम्पन और पत्ते के गिरने की एक ज़रा-सी आहट भी अनुभव के अनेक धुँधले परतों से छन कर आती है। बिम्बों की सूक्ष्मता और तीव्रता की दृष्टि से वे समस्त छायावादी कवियों में अद्वितीय हैं। न तो वैसी संवेदनशील दृष्टि किसी के पास है, न अनुभूति के बारीक से बारीक रेशे को पकड़ने वाली कल्पना-शक्ति। शब्दों के परिचित सन्दर्भों को बदलकर उन के अनुषंगों को एक सर्वथा नयी दिशा में मोड़ देने की कला में भी वे बेजोड़ हैं। अपनी इन्हीं शक्तियों के बल पर उन्होंने हिन्दी-काव्य के भाण्डार को अनेक सफल और सार्थक बिम्बों से सम्पन्नतर बनाया है। यदि छायावाद के श्रेष्ठतम बिम्बों की गणना की जाये तो इन में पंत के बिम्बों की संख्या सब से अधिक होगी। पर यह विचित्र विरोधाभास है कि बिम्बों के सफलतम शिल्पी के काव्य में अमूर्तता भी सब से अधिक है। न केवल बाद की रचनाओं में, बल्कि आरम्भिक कृतियों में भी जहाँ बादल अथवा वीचि के लिए उपमानों का ढेर लगाया गया है वहाँ सभी अप्रस्तुतों का प्रत्यक्षीकरण नहीं हो पाता। ऐसे स्थलों पर कल्पना की अपेक्षा ललित-कल्पना (फ़ैन्सी) का कार्य प्रधान हो उठा है। आचार्य शुक्ल ने इस प्रवृत्ति को पश्चिम के कलावादी आन्दोलन का प्रभाव माना है।[1] वस्तुतः ललित-कल्पना की उन्मुक्त क्रीड़ा भी स्वच्छन्दतावाद की ही एक विशेष प्रवृत्ति है। शेली और टेनिसन की रचनाओं का एक बहुत बड़ा भाग ललित-कल्पना की चमत्कारपूर्ण क्रीड़ाओं से भरा हुआ है। ललित-कल्पना की सब से बड़ी पहचान है विश्लिष्ट बिम्बों की योजना। वह सृष्टिविधायिनी कल्पना की भाँति केवल अलग मोहक चित्रों का निर्माण करती है, किसी सम्पूर्ण बिम्बात्मक साँचे का नहीं। 'बादल' और 'परिवर्तन' शीर्षक कविताओं की तुलना से इस अन्तर को समझा जा सकता है। बादल का प्रत्येक बिम्ब अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखता है और प्रायः किसी स्थिर और निश्चित अर्थ की अभिव्यक्ति करता है। यह स्थिर अर्थ कविता के सामू-

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास; पृ० ६७५.

हिक अर्थ के प्रति समर्पित नहीं होता। होता यह है कि पूरी कविता का प्रभाव अनेकशः छोटे-छोटे संघटनों और इकाइयों में विभक्त हो कर 'संगीतमय आनन्दबोध' (सेन्स ऑव म्यूज़िकल डिलाइट) की सृष्टि नहीं कर पाता। दूसरी ओर 'परिवर्तन' कविता है, जिस में कल्पना का सर्वोत्तम उपयोग पाया जाता है। वहाँ भी कल्पना में फैलाव अधिक है। पर 'परिवर्तन' का एक भी बिम्ब स्वतन्त्र नहीं है। प्रत्येक बिम्ब बड़ी त्वरा के साथ आता है और किसी एक ही केन्द्रीय अनुभूति के विविध स्तरों को छूता हुआ परिवर्तन के विपुल, विराट्, अकल्पनीय बिम्ब में लय हो जाता है। इस प्रकार सम्पूर्ण कविता का एक विशिष्ट व्यक्तित्व निर्मित होता है। दूसरे शब्दों में, समस्त बिम्ब मिलकर परिवर्तन का एक विराट् बिम्ब प्रस्तुत करते हैं। ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण कविता को एक ही बिम्ब मानना उचित होगा। पर मुख्यतः पंत खण्डित बिम्बों के ही कवि हैं। वे एक बिम्ब को दूसरे बिम्ब से अनुस्यूत करने का प्रयास नहीं करते। इस अर्थ में उन का बिम्बविधान शेली के बिम्बविधान से बहुत मिलता-जुलता है। शेली की भावनाएँ भी एक बिम्ब से दूसरे बिम्ब को छूती हुई कल्पना के आवेग में आगे बढ़ जाती हैं। वह कहीं भी केन्द्रित होकर बिम्बों के अन्तःसम्बन्ध को पुष्ट और दृढ़ करने का प्रयास नहीं करता। कीट्स और निराला की कला इस के सर्वथा विपरीत है।[१] ये कवि किसी केन्द्रीय बिम्ब के द्वारा ऐन्द्रिय अनुभवों के व्यतिक्रम और बिखराव को सघन और समन्वित करने का प्रयास करते हैं। वह केन्द्रीय बिम्ब प्रायः किसी गहन बौद्धिक अथवा दार्शनिक संकेत का वाहक होता है।

महादेवीजी की कविताओं का सौन्दर्य वर्ण-गन्धमय बिम्बों के संकलन में उतना नहीं है जितना सूक्ष्म और एकोन्मुख प्रतीकों की योजना में। रहस्यपरक अनुभूतियों की कवयित्री होने के कारण उन्होंने अपनी आरम्भिक कविताओं में व्यंजनागर्भी बिम्बों का प्रयोग अधिक किया है। 'रश्मि' और 'नीहार' में जो दीप, फूल, आकाश और निर्झर इत्यादि के चित्र आये हैं उन में बिम्बात्मकता अवश्य है; पर साथ ही वे प्रस्तुत सन्दर्भ के अतिरिक्त किसी गहन अपरोक्ष सत्ता की ओर भी संकेत करते हैं। इस दृष्टि से उन्हें प्रतीकात्मक बिम्ब (सिम्बॉलिक इमेज) कहना अधिक संगत होगा। बाद की कविताओं में इन बिम्बों की इतनी आवृत्ति हुई कि उन का ऐन्द्रिय और मूर्त रूप विलीन हो गया और वे निश्चित रहस्यात्मक संकेतों के वाहक बन गये। इसीलिए उन के काव्य में सूक्ष्म की भावना अधिक मिलती है, स्थूल का रूपाकार कम। 'आधुनिक कवि' के वक्तव्य में उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि, "मेरी कविता यथार्थ की चित्रकर्त्री न

१. "Keats seems to me to use more variety of inter-related image and figure, as in 'Beaded buffles winking at the brim,' for example, where the whole image compounds figures, while Shelley moves from one seperately developed figure to another."—Josephine Miles in Sewanee Review. *(Vol. L. VIII/1950)*, 526.

होकर स्थूलगत सूक्ष्म की भावुक है।"[1] उन के बिम्बों का चयन मुख्यतः दो क्षेत्रों से हुआ है : प्रकृति तथा नारीजगत्। प्रकृति के अन्तर्गत उन्होंने प्रायः उन्हीं दृश्यों को ग्रहण किया है जो सामान्यतः सम्पूर्ण छायावादी कविता में पाये जाते हैं—जैसे सन्ध्या, प्रभात, वसन्त और पावस इत्यादि। पंत यदि चाँदनी के कवि हैं और निराला बादलों के तो महादेवी 'एकाकिनी बरसात' की कवयित्री कही जा सकती हैं। उन के सन्ध्या और प्रभात के चित्रांकन में भी सूक्ष्मता और अलंकृति अधिक है। एक ही दृश्य को उन्होंने अनेक कलात्मक बिम्बों में बाँधने का प्रयास किया है। सूर्योदय के लिए ये दो मूर्त कल्पनाएँ देखिए :

१. तम-तमाल ने फूल
गिरा दिन-पलकें खोलीं।
२. रजनी ने मरकतवीणा पर हँस किरणों के तार सँभाले[2]।

पहले बिम्ब में प्राकृतिक तत्त्वों की प्रधानता है। पर दूसरे बिम्ब में जो रूपक प्रस्तुत किया गया है उस में नारीजगत् की जानी-पहचानी वस्तुएँ अधिक हैं—जैसे मरकत, वीणा, तार, हँसी। इस प्रकार महादेवीजी का बिम्बविधान परिचित और अपरिचित, आभ्यन्तर और बाह्य दोनों प्रकार के तत्त्वों से मिलकर गठित हुआ है। पर अनुभूति के स्तर पर उन के बिम्ब आत्मनिष्ठ और अन्तर्मुखी अधिक हैं। व्यापकता की दृष्टि से उन के बिम्बों का क्षेत्र बहुत सीमित है। वे अपनी अनुभूति-क्षेत्र से बाहर निकलकर जीवन और प्रकृति के बृहत्तर क्षेत्रों में जाने का प्रयास बहुत कम करती हैं। इस से उन के बिम्बों में अपरिचयजन्य आघात देने की क्षमता कम और आत्मीयतापूर्ण सह-अनुभूति जगा सकने की सामर्थ्य अधिक है। प्रकृति और नारीजगत् के अतिरिक्त उन्होंने वाल्मीकि और कालिदास की प्रभाव-छाया में कुछ अद्भुत संस्कारी बिम्ब भी हिन्दी को दिये हैं। जैसे—

यह विरह की रात का कैसा सबेरा है।
....
पंक-सा रथचक्र से लिपटा अँधेरा है।

रथचक्र से लिपटे हुए पंक की धारणा आज की नहीं है। इसीलिए इस उपमा में रथचक्र से सम्बन्धित अनेक ऐतिहासिक अनुषंगों को जगाने की क्षमता है। पर महादेवीजी के काव्य में ऐसे संस्कारी बिम्बों की संख्या बहुत कम है। इस वर्ग के बिम्बों के धनी प्रसाद हैं। जहाँ तक निर्माण-प्रक्रिया का प्रश्न है, महादेवीजी की सभी कविताओं में बिम्बसंघटन का साँचा (पैटर्न) लगभग एक ही है। उन के अधिकांश बिम्ब अन्योक्ति अथवा रूपक-प्रधान हैं। इसीलिए उन के गीतों के अलग-अलग चित्र एक

---

१. आधुनिक कवि—भाग १; पृ० ३७.
२. वही; ८६ तथा १०१.

समन्वित और घनीभूत रूप में हमारे सामने आते हैं। वस्तुतः उन का एक गीत एक पूरा बिम्ब होता है। दीपक, शलभ, नदी, समुद्र, निर्झर, शून्य, मन्दिर इत्यादि उन के प्रमुख प्रतीक हैं जिन को विभिन्न अर्थ-सन्दर्भों में रखकर उन्होंने अनेक व्यंजनागर्भी बिम्बों का निर्माण किया है। समुद्र और नदी के रूपक का तो प्रायः सभी छायावादी कवियों ने प्रयोग किया है। यह एक ओर उन के दार्शनिक दृष्टिकोण का सूचक है और दूसरी ओर बिम्बों के सार्वभौम स्वरूप का। जैसे छायावादी कवि असीम से सीमा की एकाकारता का आकांक्षी था उसी प्रकार, निराला के शब्दों में, वह अपने "तमाम चित्रों को अनादि और अनन्त सौन्दर्य में मिलाने की चेष्टा" भी करता था। वैसे तो यह सम्पूर्ण छायावादी काव्य की एक विशेषता है, पर महादेवीजी के बिम्बविधान का यह प्रमुख चरित्र-लक्षण है।

बिम्बों का वर्गीकरण

पाश्चात्य समीक्षा के क्षेत्र में बिम्बों के वर्गीकरण की दो मुख्य पद्धतियाँ प्रचलित हैं : पहली विषयवस्तु तथा मूलस्रोतों के आधार पर और दूसरी बिम्बों के गुणधर्म तथा रूपगत भिन्नताओं के आधार पर। इधर कुछ नये आलोचकों ने ऐन्द्रियता के आधार पर भी बिम्बों की अलग-अलग कोटियाँ निर्धारित की हैं। कुछ मनोविश्लेषणवादी आलोचकों के अनुसार स्वप्न, स्मृति तथा उपचेतन-सिद्धान्त ही बिम्बों के वर्गीकरण का वैज्ञानिक आधार बन सकते हैं। इन में से पहला अर्थात् मूलस्रोतों वाला आधार तो निश्चय ही बहुत स्थूल है। क्योंकि बिम्बचयन के क्षेत्र असंख्य हैं। छायावादी कवियों ने बिम्बनिर्माण के लिए जो क्षेत्र चुने थे, उन मे प्रकृति, रहस्यलोक, नारीजगत्, पुराण, इतिहास, लोककथा, समकालीन सांस्कृतिक जीवन, धर्म, कला तथा व्यक्तिगत परिवेश प्रमुख हैं। इन के अतिरिक्त भी अनेक गौण क्षेत्र हैं। तात्पर्य यह कि इस सिद्धान्त के अनुसार बिम्बों के उतने वर्ग निर्धारित करने पड़ेंगे, जितने वस्तुगत क्षेत्रों में छायावादी कविता ने प्रवेश किया है। इस प्रकार जो वर्गीकरण प्रस्तुत किया जायेगा उस से बिम्बों के स्थूल स्रोतों का तो पता चल जायेगा पर उन की आन्तरिक विशेषताओं और सूक्ष्म भेदों पर कोई प्रकाश नहीं पड़ेगा। इसीलिए अब इस वर्गीकरण की पद्धति को स्थूल और अवैज्ञानिक समझकर प्रायः छोड़ दिया गया है। ऐन्द्रियता के आधार पर भी केवल बिम्बों की अनुभूतिगत विशेषताओं का ही उद्‌घाटन किया जा सकता है। उन के रूपगत भेदों पर उस से भी प्रकाश नहीं पड़ता। फिर उस के अन्तर्गत बिम्बों की उस बौद्धिक भूमिका का भी अध्ययन नहीं हो पाता जो ऐन्द्रिय चित्रों की पृष्ठभूमि में दबी रहती है। जहाँ तक वर्गीकरण के मनोवैज्ञानिक आधार का प्रश्न है, उस का क्षेत्र काव्य-गत बिम्बविधान नहीं, मानसिक जगत् है। भाषा के सामाजिक बन्धन में आने से पहले बिम्ब की जो एक अस्पष्ट मनोमय सत्ता होती है, मनोविश्लेषणवादी आलोचक की दृष्टि उसी पर केन्द्रित रहती है। अतः काव्यगत बिम्ब की रचना-सम्बन्धी विशेषताओं

का उद्घाटन वह भी नहीं कर पाता। काव्यगत विम्ब मानसिक बिम्ब से अभिन्न होता हुआ भी अपने बाह्य रूप में कला के विशेष नियमों द्वारा परिचालित होने के कारण बहुत-कुछ भिन्न जाति-वर्ण वाला होता है। इसीलिए उस के मूल्यांकन का उचित मानदण्ड कला तथा सौन्दर्यशास्त्र की मान्यताओं के आधार पर ही निर्धारित किया जा सकता है। यहाँ जो वर्गीकरण प्रस्तुत किया जा रहा है उस के मुख्य आधार दो हैं: बिम्बों के गुणधर्म तथा रूपगत विशेषताएँ। इस प्रकार उस के अन्तर्गत बिम्ब का वस्तु-पक्ष और शिल्पपक्ष, दोनों ही आ जाते हैं। छायावादी कविता के रूप-विन्यास का सूक्ष्म पर्यालोचन करने पर उस में मुख्यतः निम्नलिखित आठ प्रकार के बिम्ब पाये जाते हैं:

१. सज्जात्मक बिम्ब	५. उदात्त विम्ब
२. छायात्मक बिम्ब	६. नाद बिम्ब
३. घनात्मक बिम्ब	७. अमूर्त बिम्ब
४. मिश्रित बिम्ब	८. प्रतीकात्मक बिम्ब

कोई भी वर्गीकरण अपने-आप में पूर्ण नहीं हो सकता। क्योंकि अन्ततः वह आलोचक की व्यक्तिगत रस-दृष्टि और अभिरुचि के आधार पर किया जाता है। प्रस्तुत वर्गीकरण में भी, सम्भव है, छायावादी बिम्बविधान के कुछ तत्त्व छूट गये हों। पर इन आठ प्रकारों में लगभग उस की सभी मुख्य रचनागत विशेषताएँ आ गयी हैं।

सज्जात्मक बिम्ब :

इस वर्ग के बिम्बों की विशेषता उन की सजावट में होती है। इसीलिए सामान्यतः सज्जात्मक बिम्ब को अलंकार-विधान के अन्तर्गत ही माना जाता है। जिस प्रकार अलंकार काव्य का शोभावर्द्धक धर्म माना जाता है उसी प्रकार सज्जात्मक बिम्ब भी। रचना के बाह्य रूप से सम्बन्धित होने के कारण, संवेदनाप्रधान क्रिया-विधायक बिम्बों से यह भिन्न, और बहुत कुछ, विपरीत होता है। रीतिकालीन कविता के अधिकांश बिम्ब इसी वर्ग के अन्तर्गत आयेंगे। सामान्यः इस वर्ग के विम्ब उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक आदि अलंकारों के रूप में पाये जाते हैं। प्रसाद की आरम्भिक कविताओं में इस के अनेक उदाहरण मिल सकते हैं। जैसे—

> बाँधा था विधु को किस ने
> इन काली ज़ंजीरों से,
> मणि वाले फणियों का मुख
> क्यों भरा हुआ हीरों से।
>
> —आँसू

यहाँ कवि ने परम्परागत उपमानों के द्वारा एक ऐसा प्रातिभासिक बिम्ब खड़ा किया है जो आपाततः नया लगता है। पर इस की नवीनता किसी नये मर्म के उद्घाटन में नहीं, रूपक की सम्बन्ध-योजना के सफल निर्वाह में है। पर यह नहीं समझना

चाहिए कि सज्जात्मक बिम्ब केवल पुराने उपमानों की योजना में ही होता है; स्वच्छन्द काल्पनिक उद्भावनाओं के रूप में भी कभी-कभी इस के उदाहरण मिल जाते हैं। जैसे—

आह, चूम लूँ जिन चरणों को, चाँप-चाँप कर उन्हें नहीं—
दुख को इतना, अरे अरुणिमा ऊषा-सी वह उधर वही।[1]

चरणों की लाली और ऊषा की अरुणिमा के बीच जो कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित किया गया है उस के पीछे कोई ठोस वस्तुगत आधार नहीं है। इसलिए न तो वह कोई ऐन्द्रिय अनुभूति जगाता है न कोई स्पष्ट मूर्ति ही खड़ा करता है। ऐसे बिम्बों का उद्देश्य केवल एक मोहक चमत्कार की सृष्टि करना होता है। परन्तु जब चमत्कार-कल्पना के पीछे अनुभूति की सच्ची प्रेरणा होती है तो सज्जात्मक बिम्ब अपने सर्वोत्तम रूप में उपस्थित होता है :

तुम्हारी पी मुख-वास तरंग
आज बौरे भौंरे, सहकार,
चुनाती नित लवंग निज अंग
तन्वि, तुम-सी बनने सुकुमार।[2]

छायावादी कविता में जो स्वर्णिम, मधुर, स्वप्निल मदिर आदि विशेषण बार-बार दिखाई देते हैं, वे भी वस्तुतः एक प्रकार की अलंकृति का ही काम करते हैं। अतः उन्हें भी सज्जात्मक बिम्ब के अन्तर्गत ही माना जायेगा। इस वर्ग के बिम्बों की सब से बड़ी सीमा यह है कि वे पाठक को गतिशील वास्तविकता की गहराइयों में नहीं ले जाते। दूसरे शब्दों में वे यथार्थ का पुनः अन्वेषण या उद्घाटन नहीं करते, केवल उस का 'भ्रम' उत्पन्न करके रह जाते हैं।

छायात्मक बिम्ब :

छायावादी कविता में इस वर्ग के बिम्बों का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। धूमिल, अस्पष्ट और स्वप्नमय चित्रों की सृष्टि करना—छायात्मक बिम्बों का विशिष्ट लक्षण माना जा सकता है। इन के निर्माण में पुनः सृष्टि-विधायिनी कल्पना की अपेक्षा अन्तर्दृष्टि-विधायिनी कल्पना का योग अधिक होता है। इस दृष्टि से इस वर्ग के बिम्बों को रहस्यवादी बिम्ब अथवा सूक्ष्म बिम्ब भी कहा जा सकता है। इन की सब से बड़ी पहचान यह है कि पढ़ते समय इन की कोई स्पष्ट मूर्ति हमारे सामने नहीं खड़ी होती। केवल एक धुँधला-धुँधला-सा भाव ही हमारी पकड़ में आता है। प्रसाद और महादेवी वर्मा के काव्य में इस वर्ग के बिम्ब सब से अधिक मिलते हैं। अस्पष्ट छाया-मूर्तियों को संवेदनात्मक रूप देने में प्रसाद विशेष रूप से सफल हैं :

---

१. लहर; पृ० १०.
२. गुंजन; पृ० ५७.

ले चल मुझे भुलावा देकर
मेरे नाविक धीरे-धीरे ।
जिस निर्जन में सागर-लहरी,
अम्बर के कानों में गहरी-
निश्छल प्रेम-कथा कहती हो,
तज कोलाहल की अवनी रे !
जहाँ साँझ-सी जीवन-छाया
ढीले अपनी कोमल काया
नील नयन से ढुलकाती हो
ताराओं की पाँत घनी रे ।[1]

इन पंक्तियों को पढ़ते हुए अम्बर के कानों में निश्छल प्रेम-कथा कहने वाली सागर-लहरी और साँझ-सी फैलने वाली जीवन-छाया का कोई स्पष्ट रूप हमारी कल्पना में नहीं उतरता। पर ऐसा भी नहीं कि कवि-द्वारा निर्मित इस छाया-चित्र की प्रेषणीयता किसी तरह कहीं बाधित होती हो। उस की हलकी से हलकी धुँधली रेखा भी हमारी संवेदना को सीधे स्पर्श करती है। अतः यह मानना होगा कि अस्पष्ट रूप में ही सही, पर इन पंक्तियों के द्वारा कोई न कोई बिम्ब हमारे अन्तःकरण में उपस्थित अवश्य होता है। इसी को मैंने अन्यत्र 'सहजता में लिपटी हुई संकेतग्राह्य अस्पष्टता' कहा है। महादेवी-जी की कविताओं में यह अस्पष्टता अमूर्तता की सीमा तक पहुँच चुकी है। उन के एक प्रसिद्ध गीत की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए :

मेरा पग-पग संगीत-भरा
श्वासों से स्वप्न-पराग झरा
नभ के नवरंग बुनते दुकूल
छाया में मलय-बयार पली ।[2]

छायावादी चित्रभाषा पद्धति के सभी तत्त्व इस छन्द में वर्तमान हैं। पर कुल मिला कर ये पंक्तियाँ कोई स्पष्ट चित्र नहीं दे पातीं। इन की अस्पष्ट मोहकता पाठक के मन में केवल एक छाया की सृष्टि-भर करती है। पर जहाँ इस अस्पष्टता की पृष्ठभूमि अधिक सहज और आत्मीय होती है, वहाँ छायात्मक-बिम्ब में अधिक व्यंजकता और तीव्रता आ जाती है :

कौन आया था न जाने
स्वप्न में मुझ को जगाने,
याद में उन अँगुलियों के
हैं मुझे पर युग बिताने ।[3]

---

१. लहर; पृ० १४.
२. आधुनिक कवि—भाग १; पृ० ८६.
३. वही; पृ० ८८.

इस छन्द में बिम्ब केवल एक ही है : स्वप्न में देखी हुई अँगुलियाँ। पर चूँकि स्वप्न में आनेवाले व्यक्ति की सत्ता रहस्यमय है अतः अँगुलियों का भी कोई स्पष्ट चित्र नहीं बनता। इस अस्पष्ट-अग्राह्य चित्र में जो तीव्रता आयी है वह 'जगाने' क्रिया की ऐन्द्रिय अनुभूति के कारण। कुछ कवियों में इस मूर्त अनुभूति का विकास भावात्मक सूक्ष्मता की दिशा में हुआ है। पंत की उत्तरकालीन कृतियों में इस के अनेक उदाहरण मिलते हैं। 'चाँदनी' की ये पंक्तियाँ देखिए :

> वह फूली बेला का वन
> जिस में न नाल, दल, कुड्मल,
> केवल विकास चिर निर्मल
> जिस में डूबे दश दिशि-दल।[1]

भाववादी प्रवृत्ति की यह पराकाष्ठा है। कवि ने पहले चाँदनी को 'बेला का वन' कहा। पर ऐसा वन जिस में न नाल है, न दल, न कुड्मल। केवल एक अमूर्त विकास की अनुभूति-सी होती है। मूर्त को क्रमशः सूक्ष्म में परिवर्तित करने की यह पद्धति छायावाद की एक विशेष प्रवृत्ति है। चाँदनी का यह चित्र छायात्मक बिम्ब का सर्वोत्तम उदाहरण है। निराला के काव्य में इस वर्ग के बिम्बों का एकान्त अभाव है।

घनात्मक बिम्ब

इस वर्ग के बिम्बों की विशेषता अनुभूति की गहन अभिव्यक्ति और असाधारण कला-कौशल में होती है। एक कवि जब शब्दस्रष्टा की परिधि को अतिक्रान्त कर के रेखांकन की सीमा में प्रवेश करता है तो वह घनात्मक बिम्बों की सृष्टि करता है। छायात्मक बिम्ब से यह दो स्तरों पर अलग होता है। एक प्रकार से घनात्मक बिम्ब उस का ठीक विलोम कहा जा सकता है। जिस प्रकार सूक्ष्मता और भावात्मकता छायात्मक बिम्ब के विशिष्ट लक्षण होते हैं उसी प्रकार ऐन्द्रियता और मूर्तिमत्ता घनात्मक बिम्ब के। कुल मिलाकर इस वर्ग के बिम्बों का सौन्दर्य 'पेण्टिंग' अथवा चित्रण की कुशलता में होता है। पंतजी की रचनाओं में इस वर्ग का प्राधान्य है :

> नीरव सन्ध्या में प्रशान्त
> डूबा है सारा ग्राम-प्रान्त
> पत्रों के आनत अधरों पर सो गया निखिल वन का मर्मर
> ज्यों वीणा के तारों पर स्वर।[2]

अथवा—

> मोतियों-जड़ी ओस की डार
> हिला जाती चुपचाप बयार।[3]

---

१. गुंजन; पृ० ८८.
२. वही; पृ० ८४.
३. गुंजन; पृ० १४९.

स्वभाव से ही चित्रकर्त्री होने के कारण महादेवीजी ने भी कुछ अत्यन्त सफल घनात्मक बिम्बों की सृष्टि की है। एक उदाहरण प्रस्तुत है :

पूछता क्यों शेष कितनी रात।
अमर सम्पुट में ढला तू,
छू नखों की कान्ति चिर
संकेत पर जिन के जला तू
स्निग्ध सुधि जिन की लिये कज्जल दिशा में हँस चला तू,
परिधि बन घेरे तुझे वे उँगलियाँ अवदात।[1]

निराला उदात्त बिम्बों के कवि हैं। पर घनात्मक बिम्बों की सृष्टि में भी वे पूर्ण सफल हैं। विवाह के समय, कलश का जल पड़ने के उपरान्त, कन्या सरोज के रूप-सौन्दर्य में होने वाले सूक्ष्म परिवर्तन का यह चित्र निराला ही दे सकते थे :

तू खुली एक उच्छ्‌वास-संग,
विश्वास-स्तब्ध बँध अंग-अंग,
नत नयनों से आलोक उतर
काँपा अधरों पर थर-थर-थर।[2]

प्रसाद मुख्यतः छायात्मक बिम्बों के कवि हैं। पर कहीं-कहीं अपनी कविताओं में कलाकार की सूक्ष्म संवेदनशील तूली का भी उन्होंने परिचय दिया है। 'आँसू' का एक छन्द देखिए :

अम्बर असीम अन्तर में
चंचल चपला से आ कर
अब इन्द्रधनुष-सी आभा
तुम छोड़ गये हो जा कर।

ध्यान से पढ़ने पर दीखेगा कि प्रस्तुत बिम्ब केवल रंगों की दृश्यता के आधार पर घनात्मक हो उठा है। मूलतः आकारगत अस्पष्टता के कारण वह छायात्मक ही अधिक है। परन्तु चंचला और इन्द्रधनुष के पारस्परिक विरोध से उस में एक सूक्ष्म आकारगत अन्तरावलम्बन भी आ गया है जो उसे घनात्मक बिम्ब का रूप देता है। ऊपर के सभी उदाहरणों में चित्रण की यह कुशलता देखी जा सकती है। भावों का संयम, इकहरी अनुभूतियाँ और दृश्य आकारों की प्रधानता आदि इस वर्ग की कुछ निजी विशेषताएँ हैं। छायावाद के सफलतम बिम्बों में इस वर्ग की संख्या सब से अधिक होगी।

---

१. आधुनिक कवि—भाग १; पृ० १०४.
२. अनामिका; पृ० १३२.

मिश्रित बिम्ब :

अब तक बिम्ब के जिन प्रकरणों की चर्चा की गयी है वे किसी न किसी रूप में छायावाद से पहले की कविता में भी पाये जा सकते हैं। पर मिश्रित बिम्बों की खोज छायावाद की अपनी कलात्मक उपलब्धि है। उस से पूर्व को कविता में इस के उदाहरण प्रायः नहीं मिलते। वस्तुतः यह घनात्मक बिम्ब का ही एक अधिक जटिल और सूक्ष्म रूप है। मिश्रित बिम्ब की सब से बड़ी पहचान है : एक से अधिक ऐन्द्रिय अनुभूतियों की मिलावट। स्पष्ट है कि जहाँ इस प्रकार के मिश्रण का प्रयास किया जायेगा वहाँ बिम्ब का प्रत्यक्षीकरण संवेदना के एक से अधिक स्तरों पर एक साथ होगा। इस गुम्फित प्रभाव के कारण वह अन्य बिम्बों की अपेक्षा अधिक तीव्र और गहरा होता है। संवेदनाओं के इस मिश्रण के पीछे ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से यह सिद्धान्त काम करता है कि वस्तुजगत् की इस वर्ण-गन्धमय अनेकता के भीतर एक सूक्ष्म अन्तरावलम्बन की अन्तर्निहित प्रक्रिया भी चलती रहती है। फलतः अनुभूति के जटिलतम स्तर पर पहुँचकर स्वर्ण, गन्ध, वाद और स्पर्श के बीच की स्थूल दूरियाँ समाप्त हो जाती हैं और इन अनुभवों के विषय परस्पर एक-दूसरे में घुले-मिले से जान पड़ते हैं। विषय का ऊपरी भेद हटते ही वर्ण के भीतर गन्ध की अनुभूति होने लगती है और स्वाद के भीतर स्पर्श की। नील झंकार, हरित गुंज, सुरीला हाथ, आलोक-मधुर शोभा इत्यादि जैसे बिम्ब इसी जटिल अनुभव-प्रक्रिया की उत्पत्ति हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पन्त मिश्रित बिम्बों के प्रथम अन्वेषक और निर्माता है। अतः यह स्वाभाविक है कि इस वर्ग के उदाहरण सब से अधिक उन्हीं की कविता में मिलें। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं :

इन्द्रधनु की सुन कर टंकार
उचक चपला के चंचल बाल,
दौड़ते थे गिरि के उस पार
देख उड़ते विशिखों की धार।[१]

इन्द्रधनु के दृश्य सौन्दर्य में टंकार की ध्वनि-कल्पना का आरोप (जो वस्तुतः बादल के गर्जन का हो आरोप है) एक सर्वथा नये बिम्ब की सृष्टि करता है, जिस में दृश्य और ध्वनि एकाकार हो गये हैं। वर्णध्वनि मिश्रण के अनेक प्रयोग पन्त ने किये हैं और उन का हर नया प्रयोग सौन्दर्यानुभूति के किसी नये स्तर का उद्घाटन करता है :

सुन्दर मधु ऋतु, सुन्दर है गुंजित दिगन्त का हरित प्रसार।[२]
नील कोकिला की पुकार है, पीत भृंग गुंजार।[३]

---

१. पल्लव; पृ० ६८.
२. युगवाणी; पृ० ८०.
३. वही; ८२.

और सब से अन्त में चाँदनी की दृश्य-संवेदना का यह ध्वनिमय रूपान्तरण :

झंकार विश्व जीवन की
हौले-हौले होती लय ।[1]

इन सभी चित्रों को रसानुभूति दृष्टि और श्रुति के स्तर पर एक साथ होती है । अन्य ऐन्द्रिय अनुभवों के मिश्रित बिम्ब अपेक्षाकृत कम मिलते हैं । 'ऐन्द्रियता' उप-शीर्षक के अन्तर्गत इस प्रकार के कुछ विशिष्ट उदाहरण दिये जा चुके हैं । अतः यहाँ उन के विस्तार में जाना अनावश्यक है । एक दूसरे स्तर पर मिश्रण की यह प्रवृत्ति प्रसाद के काव्य में भी दिखाई देती है । केवल एक उदाहरण पर्याप्त होगा :

नूपुरों की झनकार घुली-मिली जाती थी
चरण अलक्तक की लाली से,
जैसे अन्तरिक्ष की अरुणिमा
पी रही दिगन्तव्यापी सन्ध्या-संगीत को ।[2]

संवेदनाओं के मिश्रण का जैसा घनिष्ठ प्रभाव पन्त की पंक्तियों का पड़ता है प्रस्तुत छन्द का नहीं पड़ता । क्योंकि नूपुरों की झनकार और चरणों की लाली के च के अन्तराल को यहाँ भरने का प्रयास नहीं किया गया है । फिर भी बाद में जो उपमा दी गयी है वह मिश्रण की अनुभूति को तीव्र और मूर्त बनाने में बहुत सहायक होती है । इस से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मिश्रण की यह कला बिम्ब का ही धर्म है, दो भिन्न वस्तुओं की तुलना के आधार पर निर्मित होने वाले अलंकार का नहीं । कहीं-कहीं अमूर्त वस्तुओं के मिश्रण से भी बिम्बनिर्माण का प्रयास किया गया है । महादेवीजी की एक पंक्ति है :

सजनि, अन्तर्हित हुआ है 'आज' में धुँधला विफल 'कल' ।[3]

यह एक भिन्न प्रकार का मिश्रित बिम्ब है जिस का प्रत्यक्षीकरण 'आज' और 'कल' के साथ जुड़ी हुई पाठक की व्यक्तिगत स्मृतियों के आधार पर ही सम्भव हो सकता है । निराला के काव्य में इस वर्ग के बिम्ब बिलकुल नहीं मिलते । इस का कारण यह है कि वे वस्तु को उस की सन्दर्भगत पूर्णता में ग्रहण करते हैं, अलग-अलग विश्लिष्ट इकाइयों के रूप में नहीं । मिश्रित बिम्बों के सर्वोत्तम निर्माता पन्त हैं । इस के लिए जिस सूक्ष्म संवेदनशील कला-दृष्टि की आवश्यकता थी वह छायावादी कवियों में केवल उन्हीं के पास थी ।

उदात्त बिम्ब :

इस वर्ग के बिम्बों की विशेषता भव्य और विराट् रूपों की कल्पना में होती है । इस के द्वारा मुख्यतः विषम तथा असाधारण भावों की ही व्यंजना हो पाती है ।

---

१. गुंजन; पृ० ६०.
२. लहर; पृ० ६०.
३. आधुनिक कवि; पृ० ८७.

वस्तुतः यह प्राचीन भावप्रधान नाटकों का ही एक आधुनिक काव्यात्मक रूप है। रॅमैण्टिक कविता की गीतात्मक परिधि के भीतर ये भव्य और उदात्त कल्पनाएँ सरलता से नहीं आतीं। इस वर्ग के बिम्बों का सम्पूर्ण सौन्दर्य महाकाव्योचित पृष्ठभूमि के भीतर ही निखर पाता है। यह आकस्मिक नहीं है कि छायावाद की लम्बी तथा कथा-प्रधान कविताओं में ही इस प्रकार के बिम्ब दिखाई देते हैं। उदात्त बिम्बों के सर्वश्रेष्ठ स्रष्टा निराला हैं। युद्धस्थल से लौटते हुए राम का यह चित्र अपने भीतर प्राचीन महाकाव्यों का-सा गहन और घनीभूत प्रभाव लिये हुए है :

> दृढ़ जटा-मुकुट हो विपर्यस्त प्रतिलट से खुल
> फैला पृष्ठ पर, बाहुओं पर, वक्ष पर, विपुल
> उतरा ज्यों दुर्गम पर्वत पर नैशान्धकार,
> चमकती दूर ताराएँ ज्यों हों कहीं पार।[१]

'राम की शक्ति-पूजा', 'वनबेला', 'बादलराग' तथा 'तरंगों के प्रति' जैसी कविताओं में उदात्त बिम्ब के अनेक उदाहरण मिल सकते हैं। पर निराला की सब से बड़ी कलात्मक उपलब्धि यह है कि उन्होंने कुछ गीतात्मक कविताओं के भीतर भी उदात्त बिम्बों की सृष्टि करने में सफलता प्राप्त की है। 'प्रेयसी' की ये पंक्तियाँ देखिए :

> चक्राकार कलरव-तरंगों के मध्य में
> उठी हुई ऊर्वशी-सी
> कम्पित प्रतनुभार,
> विस्तृत दिगन्त के पार प्रियबद्ध-दृष्टि।[२]

या फिर सन्ध्या की उदासी में डूबता हुआ प्रकृति का यह भव्य रूप :

> अस्ताचल रवि, जल छल-छल छवि,
> स्तब्ध विश्वकवि, जीवन उन्मन।[३]

सन्ध्याकालीन वातावरण की शान्ति और गहनता को व्यंजित करने के लिए 'स्तब्ध विश्वकवि' का विम्ब निराला की उदात्त-संवेदना का सर्वोत्तम उदाहरण है। महादेवीजी यद्यपि छायात्मक और प्रतीकात्मक बिम्बों की कवयित्री हैं, पर कहीं-कहीं उन्होंने भी गीत की लघु सीमा में उदात्त बिम्बों को बाँधने का प्रयास किया है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा :

> मिट गये खद्योत सारे,
> तिमिर-वात्याचक्र में

---

१. अनामिका; पृ० १४६.
२. वही; पृ० २.
३. अपरा; पृ० २२.

सब घिस गये अनमोल तारे,

बुझ गयी पवि के हृदय में काँप कर विद्युत्-शिखा रे ।[1]

महाकाव्योचित उदात्त बिम्बों से इन गीतात्मक उदात्त बिम्बों का मुख्य अन्तर यह है कि जहाँ पहले में असाधारण वस्तु का वर्णन असाधारण ढंग से किया जाता है, वहाँ दूसरे में वस्तु प्रायः गौण होती है। असाधारणता की सृष्टि केवल कल्पना-वैभव और अभिव्यक्ति-कौशल के द्वारा की जाती है। पन्त में दूसरे प्रकार के बिम्ब नहीं मिलते। उन्होंने प्रायः वस्तु की उदात्तता को ही चित्र की विराट्ता में प्रतिफलित किया है। जैसे—

मेखलाकार पर्वत अपार
अपने सहस्र दृग्-सुमन फाड़,
अवलोक रहा है बार-बार
नीचे जल में निज महाकार ।[2]

'कामायनी' के उदात्त बिम्ब भी प्रायः वस्तु-प्रधान ही हैं। पर प्रसाद ने एक नाटकीय पृष्ठभूमि देकर उन की व्यंजकता को और अधिक बढ़ा दिया है। मृत्यु की भयानकता और विराटता के लिए यह अछूती उपमा देखिए :

अन्धकार के अट्टहास-सी

मुखरित सतत, चिरन्तन सत्य ।[3]

प्राचीन कवियों की उदात्त कल्पनाओं के समानान्तर रख कर छायावादी उदात्त बिम्बों का अध्ययन किया जाये तो कला के स्तर पर इन में अधिक वैविध्य दिखाई देगा। सहज और स्वाभाविक वस्तु के भीतर असाधारणता का आभास पहले-पहल छायावाद ने ही दिया।

नाद-बिम्ब :

छायावादी कविता की ऐन्द्रियता के प्रसंग में नाद-बिम्ब का उल्लेख किया जा चुका है। साथ ही गीतात्मक ध्वनि-बिम्बों से उसे अलगाने का भी प्रयास किया गया है। यह भेद केवल प्रगीत और प्रबन्ध के रूपगत अन्तर के आधार पर ही नहीं किया गया है। दोनों की [illegible] पर विचार करने के बाद पाया गया कि ध्वनिबिम्बों में संवेदना का प्राधान्य होता है और नादबिम्बों में संवेग अथवा कल्पना का। यह ध्यान रहे कि ये नाम केवल व्याख्या की सुविधा के लिए दिये गये हैं। सामान्य व्यवहार में दोनों का अर्थ लगभग एक ही होता है। सूक्ष्म गीतात्मक ध्वनि-बिम्बों के उदाहरण पहले दिये जा चुके हैं, यहाँ केवल विस्तार-प्रधान नाद-बिम्बों की ही चर्चा की जायेगी।

---

१. आधुनिक कवि; पृ० १०४.
२. पल्लव; पृ० ५८.
३. कामायनी; पृ० १६.

यह विचित्र संयोग है कि दृश्य-चित्रों को तीव्र और ग्राह्य बनाने में शब्दों का अदृश्य संगीत भी बहुत दूर तक सहायक होता है। दृष्टि और श्रुति के पारस्परिक सम्बन्ध का जो महत्त्व व्यावहारिक जीवन में होता है वही काव्य में भी देखा जाता है। छायावादी कविता में गीतात्मक ध्वनि-बिम्ब अधिक हैं, महाकाव्यात्मक (एपिक) नाद-बिम्ब अपेक्षाकृत कम। वस्तुतः यह प्राचीन चारणकाव्य का ही एक गुण है और अपने यहाँ चन्दबरदाई तथा पश्चिम में होमर और मिल्टन जैसे कवियों में इस कला का उत्कृष्टतम रूप देखा जा सकता है। इस युग में निराला नाद-बिम्बों के अन्यतम निर्माता हैं। 'राम की शक्ति-पूजा' का तो आरम्भ ही नाद-सौन्दर्य से होता है :

रवि हुआ अस्त, ज्योति के पत्र में लिखा अमर-
रह गया राम-रावण का अपराजेय समर
आज का, तीक्ष्ण-शर-विधृत क्षिप्र-कर वेग-प्रखर,
शतशैल संवरणशील, नीलनभ-गर्जित स्वर,
प्रतिपल-परिवर्तित व्यूह, भेद-कौशल-समूह
राक्षस विरुद्ध [illegible] ।[1]

इस छन्द में सामान्यतः देखा जाये तो नादानुप्रेरित अर्थ के अतिरिक्त कोई वस्तुगत अर्थ पकड़ में नहीं आयेगा। परन्तु कवि जिस ओजपूर्ण वातावरण की सृष्टि करना चाहता है उस को उपस्थित करने में ये अनुप्रास-प्रधान नाद-बिम्ब पूर्णतः समर्थ हैं। वस्तुतः नाद-बिम्बों की यह बहुत बड़ी सीमा है कि उन का उपयोग केवल विराट्, अद्भुत तथा अपरूप वस्तुओं के वर्णन में ही किया जा सकता है। कभी-कभी विषय की ऊँचाई, विस्तार और ठोसपन को व्यंजित करने के लिए भी नाम-बिम्बों का उपयोग किया जाता है। जैसे—

वे डूब गये, सब डूब गये—
दुर्दम, उदग्रशिर, अद्रिशिखर।

—पंत

दूसरी पंक्ति में आये हुए विशेषणों में केवल रूपगत असाधारणता ही नहीं है, एक उदात्त संगीत का सूक्ष्म स्वरारोह भी है। यदि संगीत-तत्त्व की प्रधानता न होती तो यह चित्र उदात्त बिम्ब के अधिक निकट होता। परन्तु दोनों में अन्तर यह होता है कि उदात्त बिम्ब में वस्तु की असाधारणता होती है और नाद-बिम्ब में संगीत की। बादल को इस युग के कवियों ने नाद-तत्त्व के पुंजीभूत प्रतीक के रूप में देखा है। पंत ने उसे 'गगन का गान' कहा है :

गरज, गगन के गान ? गरज गम्भीर स्वरों में,[2]

---

१. अनामिका; पृ० १४८.
२. पल्लव; पृ० ५५.

और निराला ने उसे 'राग-अमर' कह कर उस के अन्तर्निहित नाद-तत्त्व को ही मूर्त किया है :

> झूम झूम मृदु गरज-गरज घन घोर।
> राग-अमर ! अम्बर में भर निज रोर।
> झर झर झर निर्झर गिरि-सर में
> घर, मरु, तरु-मर्मर, सागर में,
> सरित-तड़ित-गति-चकित पवन में
> मन में, विजन-गहन-कानन में,
> आनन-आनन में रव-घोर-कठोर-
> राग-अमर ! अम्बर में भर निज रोर।[1]

इन नाद-बिम्बों में एक ऐसा क्षिप्र प्रवाह है कि सम्पूर्ण कविता एक ही विराट् नाद-बिम्ब के रूप में दिखाई देती है। इस का कारण यह है कि निराला शब्दों के अन्तःसंगीत को अधिक महत्त्व देते हैं। इसी लिए उन का ध्यान नाद-प्रधान शब्दों के स्वतन्त्र लाक्षणिक उपयोग की ओर बहुत कम जाता है। इस कला के कृती कवि पंत हैं। शिशिरऋतु में चलने वाले पश्चिमी प्रभंजन की कर्ण-कटु सीत्कार के लिए यह नाद-बिम्ब देखिए :

> भूँकता सिड़ी शिशिर का श्वान।[2]

जो लोग केवल शब्दों के आरोह-अवरोह में संगीत का सौन्दर्य देखने के अभ्यस्त हैं उन्हें सम्भवतः इस में कोई नाद-बिम्ब न दीखे। पर जो प्रत्यक्ष शब्द-ध्वनियों के अतिरिक्त अप्रत्यक्ष संकेतों में भी बिम्ब की सत्ता मानते हैं उन्हें यह पंक्ति दृष्टि और श्रुति के स्तरों पर एक साथ प्रभावित करेगी। सुविधा के लिए हम इसे सांकेतिक नाद-बिम्ब कह सकते हैं। पर इस प्रकार के उदाहरण अधिक नहीं मिलते।

अमूर्त-बिम्ब

बिम्ब के साथ अमूर्त-विशेषण कुछ विचित्र लग सकता है। क्योंकि दोनों में एक तात्त्विक विरोध है। पर यहाँ इस शब्द का प्रयोग एक विशेष अभिप्राय से किया जा रहा है। तात्पर्य उन शब्दों से है जिन में ऐन्द्रिय पर्युत्सुकता (सेन्शुअस रिस्पॉन्स) जगाने की सामर्थ्य नहीं होती—जैसे सत्य, प्रेम, दया, न्याय, सुख, दुःख इत्यादि। परन्तु काव्य में कभी-कभी एक विशेष कलात्मक प्रक्रिया के द्वारा इन शब्दों को भी मूर्त रूप दे दिया जाता है और तब इन में ऐन्द्रिय क्षमता भी आ जाती है। एक उदाहरण :

> मिला कहाँ वह सुख जिस का मैं स्वप्न देख कर जाग गया ?
> आलिंगन में आते-आते मुसक्या कर जो भाग गया।[3]

---

१. परिमल; पृ० १७५.
२. पल्लव; पृ० १५५.
३. लहर; पृ० ११.

इन पंक्तियों को पढ़ने पर 'सुख' का केवल अर्थबोध मात्र नहीं होता, बल्कि उस का एक गतिशील बिम्ब हमारे सामने खड़ा हो जाता है। ऐसा इस लिए होता है कि दूसरी पंक्ति की क्रिया के द्वारा 'सुख' की अमूर्त सत्ता पर मानवीय चेष्टाओं का आरोप कर दिया गया है। पारिभाषिक पदावली में इसे 'मानवीकरण अलंकार' की संज्ञा दी जाती है। प्रसाद ने इस कला का सब से अधिक प्रयोग किया है। 'कामायनी' में 'लज्जा' और 'काम' का मूर्तीकरण इसी पद्धति के द्वारा किया गया है। सुख, आनन्द, संवेदन, चेतना, चिन्ता और समरसता इत्यादि की अनेक मूर्त कल्पनाएँ उन के काव्य में मिल सकती हैं। अमूर्त बिम्बों का प्रयोग पंत ने भी किया है। पर उन में प्रसाद की-सी ऐन्द्रियता और मांसलता नहीं है। 'परिवर्तन' की ये पंक्तियाँ देखिए :

सकल रोओं के हाथ पसार
लूटता इधर लोभ गृह-द्वार,
उधर वामन डग स्वेच्छाचार
नापता जगती का विस्तार।
टिड्डियों-सा छा अत्याचार
चाट जाता संसार।

कभी-कभी अमूर्त बिम्ब और छायात्मक बिम्ब की सीमाएँ एक-दूसरे को छूती-सी जान पड़ती हैं। ऐसे स्थलों पर एक को दूसरे से अलग करना कठिन हो जाता है। मानवीकरण दोनों में हो सकता है। पर अमूर्त बिम्ब का केन्द्रीय शब्द अनिवार्यतः अमूर्त होता है, जब कि छायात्मक बिम्ब के शब्द एक अस्पष्ट मूर्तिमत्ता और ऐन्द्रियता लिये रहते हैं। इस अन्तर को एक उदाहरण से अधिक अच्छी तरह समझा जा सकता है। महादेवीजी की एक पंक्ति है :

अंक में तब **नाश को**
लेने **अनन्त विकास** आया।[१]

यहाँ 'नाश' और 'विकास' दोनों ही शब्द अमूर्त हैं। अतः इस पंक्ति में अमूर्त बिम्ब की स्थिति मानी जायेगी। पर यदि 'नाश' और 'विकास' के स्थान पर इस प्रकार होता कि—

अंग में तब **तिमिर को**
लेने **अनन्त प्रकाश** आया।

तो 'तिमिर' और 'प्रकाश' के अस्पष्ट ऐन्द्रिय अनुषंग के कारण यहाँ छायात्मक बिम्ब की सम्भावना अधिक होती। अतः दोनों का अन्तर बिम्बशब्द की अमूर्तता और मूर्तता के आधार पर ही किया जाना चाहिए।

---

१. आधुनिक कवि; पृ० ७७.

प्रतीकात्मक बिम्ब :

सामान्यतः प्रत्येक सफल बिम्ब अपनी दृश्य-सत्ता के अतिरिक्त किसी सूक्ष्म भाव-सत्य की ओर संकेत करता है। सब से स्थूल बिम्ब वह है जो पाठक की कल्पना को ऐन्द्रियबोध के ऊपरी स्तर पर ही उलझाये रखता है। इसी लिए काव्य के श्रेष्ठतम बिम्बों में एक प्रकार की प्रतीकात्मकता होती है। प्राचीन आलोचना की पदावली में कहें तो प्रत्येक श्रेष्ठ बिम्ब अभिधात्मक होने के साथ-साथ एक सूक्ष्म व्यंजनात्मक शक्ति से भी समन्वित होता है। काव्यात्मक बिम्ब में यह प्रतीकात्मकता दो प्रकार से आती है—विभिन्न प्रसंगों में, एक ही बिम्ब की अनेक कलात्मक आवृत्तियों के द्वारा तथा लाक्षणिक वक्रताओं के द्वारा। छायावादी कवियों ने दोनों पद्धतियों का अवलम्बन किया है। पहली पद्धति का उपयोग महादेवीजी की कविताओं में देखा जा सकता है और दूसरी का पंत तथा प्रसाद इत्यादि की कविताओं में। महादेवीजी की कृतियों में दीप, फूल, बाती, तूली, झंझा, नक्षत्र, निर्झर आदि शब्दों की बार-बार आवृत्ति हुई है। फलतः उन की बाद की रचनाओं में ये शब्द अपने एक निश्चित अर्थ के वाहक बन गये हैं। दूसरे शब्दों में, इन में प्रतीकों की-सी एकोन्मुखता आ गयी है। एक उदाहरण :

यह मन्दिर का दीप इसे नीरव जलने दो।
....

झंझा है दिग्भ्रान्त, रात की मूर्च्छा गहरी,
आज पुजारी बने ज्योति का यह लघु प्रहरी,
जब तक लौटे दिन की हलचल,
तब तक यह जागेगा प्रतिपल,
रेखाओं में भर आभा-जल
दूत साँझ का, इसे प्रभाती तक चलने दो।[1]

इस पूरे छन्द का केन्द्रीय बिम्ब 'मन्दिर का दीप' है। पर ध्यान से देखा जाये तो 'मन्दिर का दीप' एक उपलक्षण-मात्र है। मुख्यार्थ दीपक नामक पदार्थ से सर्वथा भिन्न है। तात्पर्य उस कृती साधक से है जो अन्धकार में भी ज्योति की क्षीणतम आशा को अपने भीतर सँजोये रहता है। इस व्यंग्यार्थ की प्रमुखता के कारण 'दीप' शब्द का पूर्ण बिम्बग्रहण नहीं होता। पाठक सीधे उस संकेतित अर्थ तक पहुँच जाता है। पर बाद की पंक्तियों में 'दीप' के बाह्य परिवेश का जो चित्र दिया गया है वह निस्सन्देह पाठक के मन में रात की अव्याहत शान्ति का एक मूर्त रूप उपस्थित करता है। अतः 'दीप' शब्द का उस के प्रस्तुत अर्थ के साथ किसी न किसी रूप में सम्बन्ध अवश्य बना रहता है। उस की इसी द्विमुखी भूमिका के कारण उसे प्रतीकात्मक बिम्ब की संज्ञा दी गयी है।

---

१. आधुनिक कवि; पृ० १०३.

दूसरे प्रकार के प्रतीकात्मक बिम्ब अपेक्षाकृत अधिक स्वच्छन्द होते हैं। उन में वैसी एकोन्मुखता और निश्चितता नहीं होती। इसीलिए उन का ग्रहण भी कवि के निर्दिष्ट संकेतों के आधार पर न होकर, पाठक की स्वच्छन्द कल्पना के आधार पर होता है। पंत की निम्नलिखित पंक्तियाँ इस प्रवृत्ति का सर्वोत्तम उदाहरण प्रस्तुत करती हैं :

> उषा का था उर में आवास,
> मुकुल का मुख में मृदुल विकास,
> चाँदनी का स्वभाव में भास,
> विचारों में बच्चों के साँस।[1]

उषा, मुकुल, चाँदनी और 'बच्चों के साँस'—इस छन्द में ये चार मुख्य प्रतीक है जो क्रमशः हृदय की कोमलता, मुख की कान्ति, स्वभाव की मृदुता और विचारों की सरलता के बोधक हैं। पर चूँकि इन प्रतीकों के साथ प्राकृतिक सौन्दर्य के कुछ चिर-परिचित अनुषंग जुड़े हुए हैं अतः ये बीजगणित के प्रतीकों की तरह केवल तथ्यपरक अर्थों का द्योतनमात्र नहीं करते। सूक्ष्म संवेदना के स्तर पर इन की एक मूर्त-सत्ता का आभास भी पाठक को अवश्य होता है। इसी आधार पर इस प्रकार के संकेतप्रधान चित्रों को 'प्रतीकात्मक बिम्ब' कहना अधिक संगत प्रतीत हुआ। छायावादी कविता में इस वर्ग के बिम्बों की संख्या सब से अधिक है।

निष्कर्ष

ऊपर छायावादी बिम्बों के जो उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं उन से उस के रूप-गत वैविध्य और कलागत उपलब्धियों का कुछ संकेत मिल सकता है। भारतेन्दुयुग तथा द्विवेदीयुग के परिपार्श्व में रख कर देखा जाये तो उस की कल्पनात्मक सृष्टियों का महत्त्व और भी स्पष्ट हो जायेगा। छायावाद से पहले की समस्त कविता तुलनामूलक, अलंकार-प्रधान और अमूर्त भावनाओं की कविता थी। छायावाद के साथ पहली बार सृष्टिविधा-यिनी स्वच्छन्द कल्पना का आगमन हुआ। फलतः काव्य के रूपनिर्माण की सारी प्रक्रिया ही बदल गयी। काव्यगत विवेक का स्थान कल्पना ने ले लिया और विश्लेषणमूलक अलंकारों का स्थान संश्लिष्ट बिम्बों ने। यहीं से बिम्ब काव्य की केन्द्रीय इकाई बना और एक प्रकार से वह कवि-प्रतिभा की सब से बड़ी कसौटी मान लिया गया। सैद्धान्तिक रूप से तो यह स्वीकृति उसे बहुत बाद में मिली, पर छायावादी रचना-प्रक्रिया में उसे सर्वोपरि महत्त्व अवश्य मिल गया था। परिणाम यह हुआ कि छायावाद की अधिकांश कृतियों में उस का समकालीन यथार्थ अनेक गहन-जटिल बिम्बों के रूप में अभिव्यक्त हुआ। यही कारण था कि उस युग के सत्यान्वेषी आलोचकों को छायावादी कविता अधिक वायवी और स्वप्नजीवी प्रतीत हुई। एक आलोचक को वह एक जाग्रत् स्वप्न के समान

---

१. पल्लव; पृ० ७२.

जान पड़ी तो दूसरे को उस में "सामान्य और निकट के प्रति एक उपेक्षा का भाव दिखाई दिया।[1] इन सभी आलोचनाओं का लक्ष्य वस्तुतः छायावादी कविता का गुम्फित बिम्बविधान ही रहा है, जिस की कलात्मक शक्ति और नूतन व्यंजना क्षमता को परखने का प्रयास बहुत कम किया गया। पहले हम देख चुके हैं कि किस प्रकार एक अस्पष्ट-अज्ञात कुतूहल-वृत्ति के साथ छायावाद का आरम्भ हुआ था और अनेक सम-विषम कलात्मक प्रयोगों से होता हुआ कैसे उस ने अपने समस्त धुंधले भावों और बिखरी हुई अनुभूतियों को ठोस और संवेदन-क्षम विम्बों के द्वारा रूपायित किया। इस अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि स्वच्छन्दतावाद (रॅमैण्टिसिज़म) और बिम्ब का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है और साहित्य के क्षेत्र में जैसे-जैसे स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति बलवती होती गयी, वैसे-वैसे बिम्ब काव्य के अन्य तत्त्वों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण होता गया। जिस काव्यधारा के भीतर रॅमैण्टिक तत्त्व जिस मात्रा में कम हुआ है उसी मात्रा में वह बिम्बों से रिक्त भी दिखाई देगी। तात्पर्य यह कि हिन्दी-कविता के इतिहास में छायावादी कवियों ने ही पहले-पहल बिम्ब को उचित प्रतिष्ठा दी और उन्हीं के हाथों वह कलात्मक प्रौढ़ता की अछूती ऊँचाइयों तक भी पहुँच सका। संक्षेप में, बिम्बों के आगमन के कारण छायावादी कविता के रूपविधान में निम्नलिखित परिवर्तन हुए :

१. चित्रभाषा-पद्धति का विकास।
२. तुलनामूलक अलंकारों के स्थान पर आभ्यन्तर प्रभावसाम्य को जगाने वाले चित्रों का प्राधान्य।
३. ऐन्द्रिय शब्दों की बहुलता।
४. पुराने शब्दों में नये अर्थों का प्रक्षेपण।
५. बिम्बविधान के क्षेत्र का विस्तार।
६. आदिम, पौराणिक और निजन्धरी बिम्बों की खोज।
७. धारणात्मक विचारों (कॅन्सेप्च्युएल आइडियाज़) के स्थान पर प्रत्यक्षात्मक अनुभूतियों (परसेप्च्युएल फ़ीलिंग) की स्वीकृति।

इन के साथ ही छायावाद की कुछ ऐसी सीमाएँ भी थीं जो बिम्बविधान की रचनात्मक आवश्यकताओं के विरुद्ध पड़ती थीं। विषयवस्तु और भाषा-सम्बन्धी ऐतिहासिक-सीमाओं को छोड़ दें तो मुख्यतः ये चार प्रकार की सीमाएँ दिखाई देती हैं :

१. अतिशय कल्पनावृत्ति।
२. अतिरिक्त भावुकता।
३. यथार्थ की छायानुभूति।
४. अनुभव-चिन्तन के बीच की दूरी

---

१. आधुनिक हिन्दी काव्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ, डॉ० नगेन्द्र; पृ० ६,

इन के अतिरिक्त, डॉ० देवराज ने छायावादी काव्य के रूप-विन्यास की दो अन्य दुर्बलताओं की ओर संकेत किया है, जिन में से पहली को उन्होंने केन्द्रापगामी व्यंजना-प्रवृत्ति और दूसरी को रागात्मक असामंजस्य की संज्ञा दी है।[1] केन्द्रापगामी व्यंजना-प्रवृत्ति उस प्रकार की कविताओं में पायी जाती है जिन में किसी केन्द्रीय बिम्ब के अभाव में पूरी कविता अनेक छोटे-छोटे गौण चित्रों में बिखर कर रह जाती है। पंत और निराला की कुछ कविताओं में इस प्रवृत्ति के उदाहरण पाये जा सकते हैं। रागात्मक असामंजस्य भी केन्द्रापगामी व्यंजनाप्रवृत्ति का ही एक रूप है और वह उस स्थिति में पाया जाता है जब बौद्धिक अनुशासन के अभाव में काव्यगत अनुभूतियों का कोई एक सामूहिक रूप नहीं गठित हो पाता। इस प्रश्न पर एक दूसरा विवाद उठ खड़ा होता है कि काव्य-निर्माण के भीतर बौद्धिक हस्तक्षेप कहाँ तक उचित अथवा अनुचित है। चूँकि उक्त प्रश्न का हमारे विषय से सीधा सम्बन्ध नहीं है अतः केवल इतना ही कह कर हम आगे बढ़ना चाहेंगे कि कविता के भीतर यदि किसी प्रकार का रागात्मक असा-मंजस्य अथवा बिखराव पाया जाता है तो उस का सम्बन्ध कवि के प्रत्यक्षीकरण और भावबोध की अपूर्णता से होता है, बुद्धि अथवा ज्ञान की अपरिपक्वता से नहीं। तात्पर्य यह कि छायावादी बिम्बविधान में जहाँ कहीं व्यतिक्रम और बिखराव दिखाई देता है, वहाँ उस का कारण स्वयं कवि के भावबोध की अस्पष्टता और अपरिपुष्टता है। परन्तु उस की श्रेष्ठतम कृतियों—जैसे कामायनी, राम की शक्तिपूजा, तुलसीदास, सरोजस्मृति, परिवर्तन और पंत की अन्य सफल रचनाओं—में यह अद्भुत कलात्मक गठन और पूर्णता पायी जाती है। यह आकस्मिक नहीं कि छायावादी कविता के सफलतम बिम्ब भी इन्हीं कृतियों के भीतर पाये जाते हैं।

---

१. छायावाद का पतन; पृ० ३४-४१.

परिशिष्ट

उत्तर छायावादी बिम्ब : सूक्ष्म से स्थूल की ओर

छायावाद अपने आरम्भ में सत्य और सौन्दर्य के जिस सार्वभौम स्वरूप को लेकर चला था वह तीसरे दशक के अन्त में पहुँचकर अनेक खण्डों में विभाजित हो गया। नैतिक आदर्श का स्थान वैयक्तिक विद्रोह ने ले लिया और आध्यात्मिक अनुभूतियों का स्थान जीवन के कटु-तिक्त अनुभवों ने। अनन्त और असीम सिमटकर व्यक्ति के निजी परिवेश में विलीन हो गये। प्रेम की ऊर्ध्वमुखी अमूर्त कल्पना मूर्त और मांसल भोगवृत्ति के रूप में परिवर्तित हो गयी। सौन्दर्य और आनन्द के सार्वकालिक मूल्य इतिहास की प्रत्यक्ष वास्तविकता के सम्मुख सहसा व्यर्थ हो गये। वस्तुओं के आरपार देखने वाली अन्तर्दृष्टि अब वस्तु के केवल उसी पक्ष तक सीमित हो गयी जिसे निकट से देखा और छुआ जा सकता था। तात्पर्य यह कि छायावाद की दूसरी पीढ़ी के कवियों ने अपनी नितान्त वैयक्तिक संवेदना का एक सुपरिचित वृत्त बना लिया, जिस के बाहर जाने का प्रयास वे बहुत कम करते थे। उस वृत्त के भीतर दैनिक जीवन के सुख-दुःख, आशा-निराशा, हास-क्रीड़ा, विषाद-उन्माद—सब प्रकार की अनुभूतियों के लिए पूरा अवकाश था। परन्तु इस अनुभव-पुंज के भीतर संवेदना का जो स्वर सब से तीव्र और सब से ऊँचा था, वह था 'विषाद'। व्यक्तिगत प्रेम और विषम सामाजिक परिस्थितियों से उत्पन्न यह अस्पष्ट और धुँधले विषाद की मनःस्थिति सन् तीस के बाद की स्वच्छन्दतावादी कविता की स्थायी मनःस्थिति कही जा सकती है। अपने अकृत्रिम रूप में यह मनःस्थिति मध्यवर्गीय निराशा और अनास्था के गाढ़े चित्रों में व्यक्त हुई है और प्रतिक्रियात्मक रूप में मस्ती, उन्माद और विद्रोह के स्वरों में। इस पीढ़ी के कवियों के विद्रोह को एक प्रकार का सहज भावात्मक विद्रोह कहा जा सकता है। कुछ कवियों में इस भावात्मक विद्रोह के साथ राष्ट्रीय आन्दोलन का स्वर भी मिल गया था। माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा नवीन, सुभद्राकुमारी चौहान, दिनकर और जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द' की कविताओं में इस मिश्रित स्वर की अनुगूँज सुनी जा सकती है। परन्तु इन कवियों का मुख्य स्वर सन् तीस के बाद के अन्य कवियों के विषाद-मिश्रित स्वर से कुछ भिन्न और अलग जान पड़ता है। फिर इन कवियों की अधिकांश कविताएँ एक सहज भावप्रेरित वक्तृत्व की शैली में लिखी गयी हैं, जिन में

सूक्ष्म कलात्मक बिम्बों के लिए बहुत कम अवकाश था। एक प्रकार से भावोच्छ्वसित वक्तृत्व की शैली बिम्ब की मूल प्रकृति के विरुद्ध पड़ती है। इन उद्बोधन-प्रधान कविताओं की रचना के पीछे तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों की प्रेरणा अधिक थी। इसी लिए ये कविताएँ प्रायः पाठक अथवा श्रोता को प्रत्यक्षतः सम्बोधित करके लिखी गयी हैं। इन कवियों में जहाँ कहीं चित्रविधान की प्रवृत्ति पायी जाती है वहाँ वस्तुतः उसे छायावादी चित्रभाषा पद्धति का ही स्थानान्तरित प्रभाव समझना चाहिए।

यदि उपर्युक्त कवियों को छोड़ दें तो छायावाद के द्वितीय उत्थान के प्रमुख कवियों में रामकुमार वर्मा, भगवतीचरण वर्मा, हरिवंशराय बच्चन, नरेन्द्र शर्मा और रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' के नाम ही महत्त्वपूर्ण ठहरते हैं। इस पूरे युग का सम्पूर्ण सुख-दुःख, आस्था-अनास्था इन्हीं कवियों की रचनाओं में व्यक्त हुई है। छायावाद की सच्ची और मूलभूत परम्परा का स्वस्थ विकास रामकुमारजी की कृतियों में हुआ है। अतः वे अपनी पीढ़ी के दूसरे कवियों से कुछ अलग और विशिष्ट दिखाई देते हैं। सूक्ष्म, अमूर्त और उच्चतर अनुभूतियों के कवि होने के कारण उन के काव्य में ठोस भौतिक बिम्बों का प्रयोग अपेक्षाकृत कम हुआ है। वे मूलतः प्रतीकों के कवि हैं। अतः उन्होंने अधिकतर छायावाद के सुपरिचित और रूढ़ प्रतीकों के द्वारा अपनी ऊर्ध्वमुखी रहस्यात्मक अनुभूतियों को अभिव्यक्त किया है। निस्सन्देह उन्होंने अपनी मौलिक प्रतिभा के द्वारा कुछ नये प्रभावशाली प्रतीकों की भी सृष्टि की है और इस प्रकार छायावादी प्रतीकों के भाण्डार को सम्पन्न और सक्षम बनाया है। किरण, रश्मि, उपवन, वसन्त, बादल, चट्टान आदि कुछ ऐसे ही सफल प्रतीक हैं जो उन की आरम्भिक कृतियों में बार-बार प्रयुक्त हुए हैं। इस दृष्टि से छायावादी प्रतीकों के अर्थपरिवर्तन और अर्थविकास का यदि क्रमिक अध्ययन किया जाये तो बहुत से नये तथ्य सामने आ सकते हैं। रामकुमारजी जब कहते हैं कि 'एक दीपक-किरण-कण हूँ' तो उनकी 'किरण' महादेवीजी की 'कमलदल पर किरण-अंकित चित्र हूँ मैं क्या चितेरे ?' की 'किरण' से बहुत भिन्न और विशिष्ट लाक्षणिक अर्थ की द्योतक होती है। यह अन्तर कवि के स्वतन्त्र अनुभव-चिन्तन की विलक्षणता का प्रमाण है। प्रतीक-प्रधान कवि होने के कारण रामकुमारजी की कविताओं का विकास बहुत-कुछ अन्तर्दृष्टि-मूलक कल्पना के स्तर पर हुआ है। अतः उन के यहाँ मूर्त-मांसल बिम्बों का अभाव है। जहाँ कहीं मूर्तचित्र आये भी हैं वहाँ प्रायः वे अप्रस्तुत का काम करते हैं। इस के विपरीत भगवतीचरण वर्मा की कविताओं में मस्ती और उन्माद का स्वर प्रधान है। अनुभूतियों को मूर्तरूप देने के लिए जैसी तीव्र ऐन्द्रिय चेतना की आवश्यकता होती है वह उन की कविताओं में प्रायः नहीं मिलती। उन के काव्य का सौन्दर्य स्वतःस्फूर्त आन्तरिक आवेग और सहज अयत्नज अभिव्यक्तियों में है। अंचल की कृतियों में इस आन्तरिक आवेग का एक अधिक तीव्र और मांसल रूप मिलता है। आलोचकों ने उन की कविता में अतिशय ऐन्द्रियता का प्रायः उल्लेख[1]

१. अपराजिता—प्रवेश; नन्ददुलारे बाजपेयी; पृ० १२.

किया है। पर यह ऐन्द्रियता दृष्टि, घ्राण, स्वाद और स्पर्श के स्तर पर न व्यक्त होकर प्रायः एक भावोच्छ्वसित भोग की आकांक्षा के रूप में व्यक्त हुई है। अतः अंचल के चित्र स्फुट और विशृंखल रूप में आते हैं। वे कहीं भी बिम्बों का एक सम्पूर्ण साँचा नहीं तैयार करते। इन कवियों के कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं :

यह ज्योत्स्ना तो देखो, नभ की
बरसी हुई उमंग,
आत्मा-सी बन कर छूती है
मेरे व्याकुल अंग।
आओ, चुम्बन-सी छोटी है यह जीवन की रात।[1]

—रामकुमार वर्मा

यह चहल-पहल से भरा नगर
यह राग-रंग से भरी रात।
इस नृत्य - भवन के कोने में
बीती स्मृतियों के बन्द पृष्ठ
मैं उलट रहा हूँ थकित-चकित
मैं एकाकी, मैं शापभ्रष्ट।[2]

—भगवतीचरण वर्मा

जग रही थी क्षुब्ध आधी रात तुम को नग्न घेरे
'भूलना मुझ को न प्रियतम'—हूक उठते अंग तेरे
इस मरण के यज्ञ में जब-जब तिमिर उफना सुलगते
इस अपूरित प्यास में जब-जब अपरिचित स्रोत जगते
कौन भर जाता अरे प्रतिरोम, दुर्धर—
धमनियों में दीप्त क्रन्दन।
भूलना मुझ को न प्रियतम।[3]

—अंचल

पहले छन्द में चाँदनी रात का एक प्रभाव-चित्र उपस्थित किया गया है। पर वह चाँदनी कवि के निकट एक दृश्य सत्ता से अधिक अमूर्त अनुभव की वस्तु है। उसे 'आत्मा-सी' कह कर कवि ने उस के उसी अमूर्तस्वरूप की ओर संकेत किया है। इसी प्रकार 'रात' के लिए कवि ने एक दूसरा अमूर्त उपमान दिया है—'चुम्बन'। चूँकि 'चुम्बन-सी छोटी रात' कहने में ऐन्द्रिय तीव्रता अधिक है, अतः वह पाठक के भीतर

१. चित्ररेखा; पृ० १.
२. मानव; पृ० २५.
३. अपराजिता; पृ० ३१;

एक मूर्त अनुभूति जगाने में पूर्णतः समर्थ है। पर रामकुमारजी की कविता में इस प्रकार के ऐन्द्रिय चित्र बहुत कम हैं। वे मूलतः अन्तर्दृष्टि-प्रेरित प्रतीकों के कवि हैं, प्रत्यक्षानुभूति-प्रेरित बिम्बों के नहीं। इसी प्रकार दूसरे छन्द में चहल-पहल से भरे नगर के बीच एक उल्लास-पूर्ण नृत्य-भवन के उदास-एकान्त कोने का स्मृति-चित्र दिया गया है। पर कवि उस चित्र को बिम्बात्मक पूर्णता प्रदान करने का प्रयास नहीं करता। वह केवल पाठक के भीतर उस सम्पूर्ण वातावरण का एक विषाद-पूर्ण प्रभाव उत्पन्न करना चाहता है। सामूहिक प्रभाव उत्पन्न करने के लिए यह बिलकुल आवश्यक नहीं कि पाठक की आँखों के आगे आसपास की वस्तुओं का कोई 'स्फुट ब्यौरा' प्रस्तुत किया जाये। इस कोटि की कविताओं में एक प्रकार को सामान्यीकरण की प्रवृत्ति होती है। पहले कहा जा चुका है कि बिम्ब 'विशेष' का होता है, 'सामान्य' का नहीं। यही कारण है कि जो कविताएँ सामान्य अनुभव के स्तर पर सामूहिक प्रभाव उत्पन्न करने का प्रयास करती हैं उन में बिम्बों का नितान्त अभाव होता है। भगवतीचरण वर्मा की अधिकांश कविताएँ इसी वर्ग में आती हैं। अंचल में वैयक्तिकता का आग्रह अधिक है। पर इस तीव्र वैयक्तिक अनुभूतियों के कवि ने प्रायः अपने कथ्य को बिना किसी साज-सज्जा के अनगढ़ और अनलंकृत रूप में प्रस्तुत कर के अभिप्रेत पर्युत्सुकता जगाने का प्रयास किया है। फलतः बिम्बनिर्माण के लिए जैसी संक्षिप्त, लाक्षणिक और संवेदनात्मक भाषा अपेक्षित होती है वैसी भाषा से उस की कलात्मक [illegible] पूरी नहीं होती। तात्पर्य यह कि रूपविधान की दृष्टि से अंचल की कविताएँ भी उसी वर्ग में आती हैं जिस में दिनकर, भगवतीचरण वर्मा, मिलिन्द और सुमन इत्यादि की कविताएँ रखी गयी हैं। संक्षेप में, इन सभी कवियों का विकास अनुभूति के सामान्यीकरण की दिशा में अधिक हुआ है, विशेषीकरण की दिशा में बहुत कम। इसी लिए व्यापक परिप्रेक्ष्य में रख कर देखने पर छायावादोत्तर हिन्दी कविता के बिम्बविधान के विकास में इन कवियों का योगदान अपेक्षाकृत कम दिखाई देता है।

इस युग में बिम्बों की नयी गति और नया सन्दर्भ देने वाले कवियों में बच्चन और नरेन्द्र शर्मा सब से महत्त्वपूर्ण हैं। ये कवि अपने अन्य समकालीन कवियों से इस अर्थ में भिन्न हैं कि इन्होंने सहज आवेगपूर्ण कथनमात्र को काव्य की संज्ञा नहीं दी। प्राचीन आलोचना की पदावली में कहें तो इन की दृष्टि 'भाव' की अपेक्षा विभावन-व्यापार पर अधिक रही है। अतः अपने कथ्य को सम्प्रेषित करने के लिए इन्होंने बाह्य जगत् की जानी-पहचानी वस्तुओं का सहारा अधिक लिया है। बच्चन प्रत्यक्ष और अकृत्रिम अनुभूतियों के कवि हैं। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि उन की आरम्भिक हालावादी कविताओं में प्रतिक्रियात्मक उत्साह अधिक था। अतः उन में अभिव्यक्ति की बारीकी और संवेदनात्मक तीव्रता उतनी नहीं है। नये, प्रभावशाली बिम्बों की दृष्टि से उन की बाद की कविताएँ अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। विशेषतः 'निशा-निमन्त्रण' और 'एकान्त-संगीत' का बिम्बविधान रागबोध की एक नयी दिशा का सूचक

है। उन में पंत और महादेवीजी की कविताओं की-सी कलात्मक गरिमा अपेक्षाकृत कम है। क्योंकि बच्चन के निकट प्रेम भावना अथवा रहस्यलोक की कोई वस्तु न हो कर जीवन की विषम परिस्थितियों के बीच पनपने वाला एक आदिम संस्कार है। इस लिए वे प्रेम की अनुभूति को उस के सम्पूर्ण यथार्थ परिवेश के बीच एक संस्कारगत मानवीय प्रेरणा के रूप में ही चित्रित करने का प्रयास करते हैं। इस चित्रविधान की प्रक्रिया में वे न तो पंत की पुनःसृष्टि-विधायिनी कल्पना की सहायता लेते हैं न ही महादेवीजी की बुद्धिप्रधान निपुण कल्पना की। इन दोनों प्रकार की कल्पनाओं से भिन्न उन के बिम्बविधान में एक प्रकार की सहज कल्पना[1] की सुपरिचित मर्मच्छवियों का साक्षात्कार होता है। इस पीढ़ी के अन्य स्वच्छन्द कवियों के समान बच्चन की अनुभूतियों का वृत्त भी नितान्त वैयक्तिक है। परन्तु उन्होंने अपनी निजी अनुभूतियों को वस्तुगत सह-सम्बद्धता (ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव) प्रदान कर के एक स्वतन्त्र और स्वतःपूर्ण इकाई का रूप दे दिया है। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में कहें तो उन्होंने अपनी व्यक्तिगत अनुभूति को तत्त्वगत (एलिमेण्टल) बना दिया है।[2] बच्चन की कविता की सहज संवेद्यता और अबाध प्रेषणीयता का यही रहस्य है।

बच्चन के साथ ही, एक भिन्न कोण से तत्कालीन कविता के क्षेत्र में नरेन्द्र शर्मा का प्रवेश हुआ। बच्चन के समान ही इन की कविताओं में भी व्यक्तिगत सुख-दुःख की अनुभूतियों का रंग बहुत गाढ़ा है। परन्तु बच्चन से उन की वैयक्तिकता इस अर्थ में भिन्न है कि उन के भीतर मध्यवर्गीय व्यक्ति की विभक्त मनःस्थिति का बोध बहुत तीव्र है। इसी लिए उन की प्रेम-कविताएँ छायावादोत्तर युवक-मन की निरुद्देश्य मनोदशा को पूरी कलात्मक सचाई के साथ प्रतिबिम्बित करती हैं। अपने युग के अन्धकार और निराशा के गीत दोनों ने गाये हैं। परन्तु नरेन्द्र शर्मा उस पीढ़ी के सम्भवतः पहले कवि हैं जिन्होंने आधुनिक युग की आन्तरिक शून्यता को सर्वप्रथम अनुभव किया था :

कुछ तो हो, हो दुर्घटना ही, मेरे इस नीरस जीवन में।[3]

इस पंक्ति में जिस 'नीरसता' की ओर संकेत किया गया है वह केवल कवि के जीवन की ही नहीं, बल्कि उस पूरे दशक की विराट् रिक्तता की सूचक है। वस्तुतः भारतीय इतिहास का यह वह काल था जब राजनीतिक और सामाजिक स्तर पर पूरे जीवन में एक गहन अवसाद भर गया था। सन् उन्नीस सौ इकतीस में हुई गान्धी-इरविन समझौते की असफलता ने सम्पूर्ण राष्ट्रीय आन्दोलन के भविष्य के आगे एक भयानक प्रश्न-चिह्न लगा दिया था। इस शून्यता और अवसाद का प्रतिबिम्ब केवल उस काल के साहित्य में ही नहीं मिलता। पण्डित जवाहर लाल नेहरू की आत्मकथा में इस अवसाद की

---

१. आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ—डॉ० नगेन्द्र; पृ० ६३.
२. वही; पृ० ६०.
३. प्रवासी के गीत; पृ० ७४.

अभिव्यक्ति और भी तीव्रता के साथ और स्पष्ट शब्दों में हुई है।[1] इन सारी बाह्य परिस्थितियों ने मिल कर उस युग की कविता के लिए पृष्ठभूमि तैयार की। संक्षेप में उस काल की कविता को हम दूसरे महायुद्ध से पूर्व की मानसिक शून्यता और भावी आशंकाओं की कविता कह सकते हैं। यह मात्र आकस्मिक संयोग नहीं है कि नरेन्द्र शर्मा की उपर्युक्त पंक्ति (जिस में कवि ने अपने जीवन की नीरसता से ऊब कर किसी सम्भावित 'दुर्घटना' का आवाहन किया है) दूसरे महायुद्ध से ठीक वर्ष-भर पहले, अर्थात् सन् १९३८ में लिखी गयी थी।

नरेन्द्र ने अपने बिम्बों का चयन जीवन की इसी वास्तविकता के भीतर से किया है। परन्तु बाद के प्रयोगवादियों की तरह उन्होंने जीवन की वास्तविकता को शेष प्राकृतिक जगत् से विच्छिन्न कर के कभी नहीं देखा। प्रकृति उन के निकट उस दर्पण के समान रही है जिस के माध्यम से उन्होंने अपने चतुर्दिक् वातावरण के बदलते हुए रंगों को देखा और इस प्रकार एक सूक्ष्म धरातल पर अपने परिवेश-बोध को बराबर जाग्रत् रखा। यह तीव्र परिवेश-बोध उस युग के सम्पूर्ण काव्य और उस के बिम्ब-विधान की पहली विशेषता है जो उसे पूर्व छायावादी कवियों की सार्वभौम और सर्वाश्लेषी बिम्बयोजना की पद्धति से अलग करती है। वह रोमानी प्रवृत्ति जो पंत आदि कवियों की रचनाओं में एक उच्चतर कल्पनाप्रसूत अन्तर्दृष्टि से छनकर प्रतिबिम्बित हुई थी, नरेन्द्र और बच्चन आदि कवियों की कविताओं में आकर एक अधिक सीमित और ठोस भावभूमि पर केन्द्रित हो गयी। फलतः पूर्व-छायावादी कवियों में जो एक अदृश्य और अपरिचित बिम्बों के प्रति अदम्य आकर्षण का भाव था उस के स्थान पर इन कवियों में सहज और सुपरिचित के प्रति एक प्रगाढ़ आत्मीयता का भाव दिखाई देता है। इस प्रवृत्ति का पहला प्रभाव भाषा पर पड़ा। काव्य-पदावली बोलचाल के मुहाविरे के समीप आ गयी। कृदन्त विशेषण और समासयुक्त शब्द कम हो गये। असीम-अनन्त जैसे अमूर्त शब्द, और चेतना-सौन्दर्य तथा आनन्द जैसे मूल्य-शब्द (वैल्यू-वर्ड) अनुपयुक्त और अनावश्यक समझ कर छोड़ दिये गये। उन के स्थान पर दैनिक व्यवहार के बहुत से ऐसे शब्द काव्य-सीमा के भीतर स्वीकार कर लिये गये जो इस से पूर्व रूक्ष और गद्यात्मक समझे जाते थे। इस दिशा में बच्चन के भाषा-सम्बन्धी प्रयोग भावी कविता के स्वरूप को निर्धारित करने में बहुत दूर तक सहायक हुए। इस पीढ़ी के कवियों ने नये काव्य-शब्दों को गढ़ने का प्रयास अपेक्षाकृत कम किया। उन्होंने नगरों

---

१. "Was it for this that our people have behaved so gallantly for a year? Were all our brave words and deeds to end in this? The independence resolution of the Congress, the pledge of January 1926, so often repeated? So I lay and pondered on that March night, and in my heart there was a great emptiness as of something precious gone, almost beyond recall,"—Jawahar Lal Nehru: *Autobiography.*

और क़स्बों में चलते हुए शब्दों को अपनी संवेदना का नया स्पर्श दे कर उचित काव्यात्मक गौरव प्रदान किया। इस से हिन्दी-कविता के भीतर पहली बार नागरिक बिम्बों (अरबन-इमेजेज़) का प्रवेश हुआ। भगवतीचरण वर्मा ने चहल-पहल से भरे नगर के बीच एकान्त नृत्यभवन को देखा,[1] बच्चन ने गिरजाघर से आती हुई घण्टे की 'टन-टन' सुनी,[2] और नरेन्द्र शर्मा ने नये कोट के 'बटन होल' में लगे हुए गुलाब की गन्ध-स्मृति को शब्दों में बाँधा।[3] इस प्रकार के बिम्ब केवल क्षेत्र-परिवर्तन के सूचक नहीं हैं, बल्कि उस पूरी पीढ़ी के रागबोध के भीतर घटित होने वाले परिवर्तन की भी सूचना देते हैं।

प्रकृति-प्रेम स्वच्छन्दतावादी काव्य का एक प्रमुख लक्षण माना जाता है। वर्ण-गन्धमय मोहक प्राकृतिक चित्रों के प्रति आकलन की प्रवृत्ति इन कवियों में भी दिखाई देती है। परन्तु इन की प्रकृति को देखने और उसे अपनी कला में रूपायित करने की पद्धति पूर्ववर्ती कवियों से बहुत भिन्न है। इस अन्तर को हम एक उदाहरण के द्वारा समझने का प्रयास करेंगे। यहाँ सन्ध्या के दो चित्र प्रस्तुत हैं :

राग भीनी तू सजनि, निःश्वास भी तेरे रंगीले।
लोचनों में क्या मदिर नव।
देख जिस को नीड़ की सुधि
फूट निकली बन मधुररव।
झूलते चितवन गुलाबी में चले घर खग हठीले।

—महादेवी वर्मा

सन्ध्या सिन्दूर लुटाती है।
रँगती स्वर्णिम रज से सुन्दर
निज नीड़-अधीर खगों के पर,
तरुओं की डाली-डाली में कंचन के पात लगाती है।[4]

—बच्चन

सन्ध्या का मानवीकरण दोनों ही चित्रों में किया गया है। पर पहले चित्र में एक सूक्ष्म रहस्यात्मक संकेत है जो पाठक को उस स्थूल, सौन्दर्य की परिधि तक ही सीमित नहीं रखता, बल्कि उस से कुछ परे ले जाता है। मूर्त से अमूर्त की ओर ले जानेवाली प्रवृत्ति छायावादी कवियों के प्रकृति-चित्रों की पहली विशेषता है। इस के विपरीत उत्तर-छायावादी कवियों में चित्र की यथातथ्यता को सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति अधिक

---

१. मानव; पृ० २५.
२. निशा-निमन्त्रण; पृ० ३८.
३. प्रवासी के गीत; पृ० ८५.
४. निशा-निमन्त्रण; पृ० २६.

पायी जाती है। वे प्रायः जानी-पहचानी वस्तुओं को एक नया क्रम दे कर हमारे सामने इस प्रकार उपस्थित करते हैं कि उन के आनुषंगिक आघात से हमारी आँखों के आगे एक सर्वथा अछूते बिम्ब का आकार खड़ा हो जाता है। इन बिम्बों का आकलन वे अपने आसपास की प्रकृति और जीवन-क्षेत्र से करते हैं। ये कवि अपने परिचित क्षेत्र से यदि कभी बाहर जाते भी हैं तो वहाँ भी उन्हें उन्हीं वस्तुओं की याद आती है जो उन के शैशव अथवा कैशोर स्मृतियों से घनिष्ठरूप से जुड़ी होती है। घर की याद अथवा सुपरिचित वस्तुओं के बीच बार-बार लौटने की इस प्रवृत्ति को आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा में 'नॉस्टेल्जिया' कहते हैं। नरेन्द्र और बच्चन के अधिकांश रोमानी बिम्ब इसी प्रवृत्ति की उपज हैं। इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप इन कवियों ने गाँव की धरती के कुछ अत्यन्त मोहक चित्र प्रस्तुत किये हैं। नरेन्द्र शर्मा जब अपने गाँव को याद करते हैं तो उन के मन में सोयी हुई अनेक वर्ण-स्मृतियाँ जग पड़ती हैं :

> चमकीले पीले रंगों में अब डूब रही होगी धरती,
> खेतों-खेतों फूली होगी सरसों, हँसती होगी धरती,
> पंचमी आज, ढलते जाड़ों की इस ढलती दोपहरी में
> जंगल में नहा, ओढ़नी पीली सुखा रही होगी धरती।[1]

इसी प्रकार बच्चन को रात के अन्धकार में ककड़ी के खेतों से उठकर आनेवाला स्वर एक अनजाने अवसाद से भर देता है :

> कोई पार नदी के गाता।
> भंग निशा की नीरवता कर
> इस देहाती गाने का स्वर
> ककड़ी के खेतों से उठकर, आता जमुना पर लहराता।[2]

'नॉस्टेल्जिया' के साथ-साथ इस पूरे दशक के काव्यात्मक बिम्ब-विधान में एक प्रकार की 'सरलीकरण' की प्रवृत्ति पायी जाती है। ये कवि जैसे प्रकृति के अगम-अज्ञात क्षेत्रों में प्रवेश करने से बचते हैं, उसी प्रकार मानव-मन की गहन जटिलताओं को उद्घाटित करने से भी। फलतः उन के काव्य में ऐसे बिम्बों का अभाव पाया जाता है जो बौद्धिक अर्थ की सम्भावनाओं से युक्त हों। एक प्रकार से यह पूरा युग ही बौद्धिकता-विरोधी आन्दोलन का युग रहा है और यह आश्चर्यजनक नहीं कि सन्देहमूलक बुद्धिवाद के विरुद्ध श्रद्धामूलक आनन्दवाद की प्रतिष्ठा करने वाली काव्य-कृति 'कामायनी' की रचना भी इसी काल-सीमा के भीतर हुई थी।

---

१. मिट्टी और फूल.
२. निशा निमन्त्रण; पृ० ४७.

छायावाद के अधिकांश श्रेष्ठ बिम्ब प्रकृति के विभिन्न परिचित-अपरिचित क्षेत्रों से लाये गये थे। उत्तर-छायावादी कवियों ने प्रकृति को छोड़ा तो नहीं, पर उस की सत्ता को उन्होंने मानव-प्रकृति से अलग कर के कभी नहीं देखा। नरेन्द्र शर्मा की दृष्टि, अन्य कवियों की अपेक्षा प्राकृतिक चित्रों के चयन में अधिक तत्पर दिखाई देती है। पर उन के अप्रस्तुत विधान को ध्यान से देखा जाये तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि वे प्राकृतिक चित्रों के द्वारा भी मन की विभिन्न अस्पष्ट-गहन स्थितियों को ही मूर्त करने का प्रयास करते हैं। चाँदनी के सुखद प्रभाव की अतिशयता व्यंजित करनी होगी तो वे किसी अन्य कोमल वस्तु से उस की उपमा न देकर बड़े सहज ढंग से कहेंगे कि :

कह सकेगा कौन कड़वी बात ऐसी चाँदनी में ?[१]

इस पंक्ति का सारा सौन्दर्य 'कड़वी बात' और 'चाँदनी' के पारस्परिक विरोध में है। विरोधी वस्तुओं को आमने-सामने रखकर अभिप्रेत प्रभाव की सृष्टि करने की यह पद्धति बिम्बविधान की एक नयी शैली का सूत्रपात करती है जिस का पूर्ण विकास प्रयोगवाद और उस के बाद की कविता में हुआ। इसी प्रकार पर्वतप्रदेश की शान्त-निस्पन्द हवा का चित्र खड़ा करना होगा तो वे एक ऐसी उपमा देंगे जिस से मानव-जीवन का कोई अत्यन्त परिचित दृश्य साकार हो उठेगा। जैसे—

बालकों की बात-सी आयी-गयी-सी हो गयी बात।[२]

इस सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति और कलात्मक क्षमता के द्वारा नरेन्द्र ने मानवीय प्रेम के तीव्रतम क्षणों के कुछ दुर्लभ चित्र संकलित किये हैं। अकेलेपन की शून्यता का यह स्मृति-बिम्ब देखिए :

क्या तुम्हें भी कभी आता है हमारा ध्यान !
नाम ले-लेकर हमारा
खींचता आँचल तुम्हारा
क्या कभी सुनसान ?[3]

एकान्त क्षणों की व्यथा के अनेक बिम्ब बच्चन की कविता में भी मिल जायेंगे। 'निशा-निमन्त्रण' तो उदासी, निराशा, अनास्था और मृत्यु-भावना का एक विशाल बिम्ब-कोश ही है। यहाँ कवि ने अपनी निराशा अमूर्त मनःस्थिति के रूप में बहुत कम उपस्थित किया है। 'आज मुझ से दूर दुनिया' अथवा 'जग बदलेगा, किन्तु न जीवन'

---

१. प्रवासी के गीत; पृ० ४१.
२. पलाशवन; पृ० ३७.
३. प्रवासी के गीत; पृ० ६२

जैसी पंक्तियाँ केवल 'निशा-निमन्त्रण' के बिखरे हुए अनेक स्मृति-बिम्बों के बीच के अन्तराल को भरने के लिए लिखी गयी हैं। अतः वे प्रकारान्तर से अपने आसपास के विषाद-बिम्बों को तीव्रतर बनाने में सहायक ही होती हैं। यहाँ बिम्बविधान के एक मूलभूत तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक है। सामान्यतः बिम्बनिर्माण की पद्धति गीत-कविता के सहज-स्वाभाविक ढाँचे के अनुकूल नहीं पड़ती। गीत का सम्बन्ध मानव-मन की सहज-सीधी और अकृत्रिम अनुभूतियों से होता है। इस के विपरीत लाक्षणिकता और ध्वन्यात्मकता बिम्ब की प्राथमिक विशेषताएँ हैं। इसी लिए विश्व की श्रेष्ठतम गीत-कविताओं में एक अद्‍भुत सादगी और कलात्मक अनायासता होती है। शेक्सपीयर के सॉनेट, सैफ़ो के गीत तथा सूर-तुलसी और मीरा के पद इस सरलता के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। 'निशा-निमन्त्रण' के गीतों को, इस दृष्टि से, एक भिन्न कलात्मक श्रेणी में रखना उचित होगा। यह सुपरिचित तथ्य है कि बच्चन के अन्य संग्रहों के गीतों के समान 'निशा-निमन्त्रण' के गीतों को गोष्ठियों और कवि-सम्मेलनों में लोकप्रियता नहीं मिली। मेरी दृष्टि में, इस का मुख्य कारण उस का अन्तःअनुस्यूत (इण्टर-रिलेटेड) बिम्बविधान है। गीत के अभ्यस्त श्रोताओं को मन में अस्पष्ट रूप से उभरने वाले चित्रों को बोध के स्तर पर लाने में एक विशेष प्रकार का मानसिक श्रम करना पड़ता है, जो कविता के तात्कालिक आस्वाद में बाधक होता है। अतः इन गीतों के रसास्वादन का प्रतिमान, उन गीतों से कुछ भिन्न होना चाहिए जो सहजग्राह्य और लोक संवेद्य होते हैं। यह बच्चन की बहुत बड़ी सफलता है कि उन्होंने गीत के कठिनतम अनुशासन के भीतर कुछ अत्यन्त कलात्मक और अविस्मरणीय भाव-बिम्बों की सृष्टि की है। यहाँ यह विशेष रूप से उल्लेख्य है कि आगे चलकर उन का विकास अमूर्तता की दिशा में अधिक हुआ, बिम्बविधान की दिशा में अपेक्षाकृत कम।

पहले कहा जा चुका है कि इन कवियों की बिम्बयोजना में कल्पना की वह ऐन्द्रजालिक क्रीड़ा नहीं दिखाई देती जो छायावाद की प्रथम पीढ़ी के कवियों की प्रमुख विशेषता है। इन के बिम्बों के दो ही मुख्य स्रोत हैं : कवि के प्रत्यक्ष अनुभव, और शैशव की सुदूर स्मृतियाँ। इन के रूपविधान का सम्पूर्ण तानाबाना इन्हीं दो स्रोतों के आधार पर संग्रथित हुआ है। जहाँ तक ऐन्द्रिय अनुभवों का प्रश्न है, ये कवि अपने पूर्ववर्ती कवियों की ऊँचाइयों को नहीं छू सके हैं। इन के अनुभव की परिधि बहुत सीमित है। परन्तु उस सीमित परिधि की छोटी से छोटी वस्तु को भी अपनी कलात्मक अनुभूति का अंग बना कर इन्होंने छायावाद के ऊर्ध्वमुखी काल्पनिक बिम्बविधान को यथार्थ की परिचित भूमि पर उतारने का प्रयास किया है। पंत आदि कवियों के लिए चाँदनी एक अत्यन्त कोमल, अस्पृश्य और अग्राह्य वस्तु थी, जिसे वे अपने व्यक्तिगत परिवेश का अंग न मान कर, किसी अतीन्द्रिय सत्ता का प्रकाश मानते थे। बच्चन अथवा नरेन्द्र के निकट वह चाँदनी यथार्थ जीवन का एक सुपरिचित अनुभव बन गयी जो उन के सुख-दुःख में हिस्सा ले सकती थी :

दे रही कितनी दिलासा
आ झरोखे से ज़रा-सा
चाँदनी पिछले पहर की पास में जो सो गयी है।[1]

चाँदनी का यह चित्र मानवीय भावना के स्पर्श के कारण एक अद्भुत ऐन्द्रिय तीव्रता से भर उठा है। कुछ इसी प्रकार की तीव्रता नरेन्द्र शर्मा के इस बिम्व में भी है :

मैंने देखा, मैं जिधर चला
मेरे संग-संग चल दिया चाँद।[2]

परन्तु इन कवियों की मुख्य उपलब्धि प्राकृतिक बिम्बों के क्षेत्र में नहीं है। पंत और निराला ने उस क्षेत्र की समस्त काव्यात्मक सम्भावनाओं को अपने ऐन्द्रिय बिम्बों के द्वारा निःशेष कर दिया था। स्वभाव से ही आत्मकेन्द्रित होने के कारण इन के लिए यह सम्भव भी नहीं था कि अपने आसपास के परिचित दृश्यों को छोड़ कर प्रकृति के भव्य-विराट् रूपों का चित्रण करें। इसी लिए इन के काव्य में साँझ की उदासी, सन्ध्या-तारा, बढ़ता हुआ अन्धकार, रात की निस्तब्धता, पत्तों का मर्मर, चिड़ियों की चहक, चीड़, गुलमुहर, नीम शान्त समीरण, पतझड़ का पीलापन, घर लौटते पथिक की तान और भटके हुए पंछी की व्याकुलता अधिक है। ये दृश्य हमारे दैनिक अनुभवों से इतने अभिन्न हैं कि इन के साक्षात्कार से वस्तुजगत् की अनेक स्मृतियाँ अनायास जग पड़ती हैं। बच्चन ने जड़प्रकृति से आगे बढ़ कर पशु-मनोविज्ञान के कुछ ऐसे चित्र दिये हैं जो इस से पूर्व की कविता में दुर्लभ थे। रात की गहन निस्तब्धता को व्यंजित करने के लिए जहाँ एक ओर पेड़ों से टपकने वाली ओस-बूँदों की बारीक ध्वनियों का चित्र दिया गया है, उस के ठीक समानान्तर भूँकते हुए श्वानों का यह विरोधी बिम्ब (कॅन्ट्रास्टिंग इमेज) भी देखा जा सकता है :

रात-रात भर श्वान भूँकते।
पार निशा के जब ध्वनि जाती,
लौट उधर से प्रतिध्वनि आती;
समझ खड़े समबल प्रतिद्वन्दी दे-दे अपने प्राण भूँकते।[3]

और इस से भी आगे बढ़ कर हृदय में छिपी हुई अतृप्त इच्छाओं को भी कवि ने इसी पशु-बिम्ब (ऐनिमल इमेज) के द्वारा मूर्त करने का प्रयास किया है :

इसी तरह मेरे उर में भी असन्तुष्ट अरमान भूँकते।[4]

इस प्रकार के आघात देने वाले बिम्ब (शॉकिंग इमेजेज़) छायावादी कवियों की सुरुचि और सौन्दर्य बोध के सर्वथा विरुद्ध पड़ते हैं। पंतजी पतझड़ की तेज़ हवा को

१. निशा-निमन्त्रण; पृ० ७०.
२. पलाशवन; पृ० १४,
३. निशा-निमन्त्रण; पृ० ६६.
४. वही; पृ० ६६.

तो 'सिड़ी शिशिर का श्वान'[1] कह सकते थे, पर अपनी कोमल इच्छाओं को भूँकते हुए श्वान की उपमा देना उन की प्रकृति के एकदम विपरीत होता। ऐतिहासिक दृष्टि से हम इसे छायावाद की सूक्ष्म सौन्दर्य-चेतना का भौतिकीकरण कह सकते हैं। दूसरे शब्दों में, यह रॅमैण्टिक प्रवृत्ति का अगला चरण है जो क्रमशः वस्तुजगत् के अधिकाधिक निकट आने का प्रयास कर रहा था। नरेन्द्र शर्मा की कविताओं में इस प्रवृत्ति का विकास एक दूसरे स्तर पर हुआ जिस में कहीं-कहीं आधुनिक जीवन की आन्तरिक अव्यवस्था की भी झलक देखी जा सकती है। फागुन की आधीरात के ये खण्डित छाया-बिम्ब देखिए :

> यह दूर, और संसार दूर, सब विशृंखल; सब छायाछल,
> हैं बिछुड़ परस्पर सुबक रही दोनों निर्धन आत्मा-काया,
> रोये शृगाल, बोला उल्लू, हिल गयी डाल, चौंका कुत्ता
> जो भूँक उठा अब देख स्वयं अपनी छाया।[2]

इन विशृंखल स्थिति-चित्रों को अलग-अलग मूर्त रूप में ग्रहण करना तो सम्भव नहीं है, परन्तु समग्र रूप में ये एक विशेष प्रकार की काव्यात्मक मनःस्थिति को रूपायित करते-से जान पड़ते हैं। चाँदनी रात की निस्तब्धता में अपनी छाया को देख कर भूँकते हुए कुत्ते का चित्र इस सम्पूर्ण कविता में एक प्रतीकात्मक महत्त्व रखता है जिस में फ्रॉएड-मनोविज्ञान के अनुसार यौनअर्थ की सम्भावना भी ढूँढ़ी जा सकती है। इस प्रकार की प्रतीक-प्रधान खण्डित बिम्बयोजना की पद्धति का विकास आगे चल कर प्रयोगवादी काव्यप्रवृत्ति के भीतर व्यापक रूप से हुआ। बाह्य यथार्थ के इन सांकेतिक चित्रों के अतिरिक्त इस पीढ़ी के कवियों ने व्यक्ति-मन के कुछ गहन मनोवैज्ञानिक क्षणों के चित्र भी दिये हैं जो इस से पूर्व की कविता में विरल हैं। एक उदाहरण प्रस्तुत है :

> भाव-भरा उर शब्द न आते,
> पहुँच न उन तक आँसू पाते,
> आओ, तृण से शुष्क धरा पर अर्थ-रहित रेखाएँ खींचें।[3]

शुष्क धरा पर अर्थ-रहित रेखाएँ खींचने का बिम्ब उस आन्तरिक अकथ्य की सम्पूर्ण पीड़ा को व्यंजित कर देता है जिसे व्यक्त करने में मानवीय भाषा सर्वथा असमर्थ है। इस प्रकार की अर्थ-हीन क्रियाओं में एक विशेष प्रकार का मनोवैज्ञानिक अर्थ होता है जो उपचेतन मन की जटिलताओं को खोलने में अधिक सहायक होता है। रीतिकालीन कवि आलम की निम्नलिखित पंक्ति में जो कंकड़ी चुनने का बिम्ब आया है, उस में भी कुछ इसी प्रकार का सौन्दर्य है :

> जा थल कीन्हें विहार अनेकनि वा थल काँकरी बैठि चुन्यौ करै।

---

१. पल्लव
२. पलाशवन; पृ० ६६.
३. निशा-निमन्त्रण; पृ० ४८.

इस प्रकार के मनोवैज्ञानिक बिम्ब उस युग की कविता में अपेक्षाकृत कम हैं। इन कवियों को सब से अधिक सफलता प्रेम-सम्बन्धी अनुभूतियों के चित्रण में मिली है। प्रेम के सूक्ष्म सौन्दर्य से आगे बढ़ कर जहाँ इन्होंने उस के स्थूल पक्ष को अंकित करने का प्रयास किया है वहाँ इनके बिम्बों में अधिक ऐन्द्रिय तीव्रता आ गयी है। जैसे वासना के आवेग में 'वसन-भूषण से परे' काँपती हुई नारी-देह का यह चित्र :

> विजय की प्यासी, ललकती, चमकती शमशीर !
> ऐसी देह !
> पैठने को वीर प्रियतम के अचंचल वक्ष में
> प्रणय-पीड़ावीर !
> ऐसी देह ![1]

यदि पंत के नारी-सौन्दर्य-सम्बन्धी चित्रों से प्रस्तुत आवेग-बिम्ब की तुलना की जाये तो दोनों पीढ़ियों की सौन्दर्यदृष्टि और नैतिक मूल्यों का अन्तर स्पष्ट हो जायेगा। प्रेम के इन यथार्थमूलक बिम्बों में उस प्रवृत्ति की एक धुँधली-सी छाया देखी जा सकती है जो कथा-साहित्य के क्षेत्र में 'प्रकृतवाद' के नाम से जानी जाती है। अंचल की कविताओं पर इस प्रवृत्ति की सब से गहरी छाप है। अतृप्त प्रेम, नैतिक अनास्था और विक्षुब्ध भावुकता ने उस काल के कवि के भीतर एक अस्पष्ट-सी मृत्यु-भावना भर दी थी जो अचेतन रूप से बिम्बों और प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त होती रही। नरेन्द्र शर्मा ने अपने कवि की उपमा मरघट के उस पीपल तरु से दी जिस के सम्मुख 'रंगीन चिताएँ' जल रही हैं और जिस के—

> पत्र-पत्र पर प्रेत नाचते
> लिपटे हुए जड़ों से अजगर।[2]

और बच्चन ने इस मृत्यु-भावना को एक विराट् त्रासोत्पादक स्वप्नबिम्ब के रूप में देखा :

> स्वप्न था मेरा भयंकर।
> धार से कुछ फ़ासले पर
> सित कफन की ओढ़ चादर
> एक मुर्दा गा रहा था बैठ कर जलती चिता पर।[3]

वस्तुतः इस प्रकार के बिम्बों के द्वारा उस युग का कवि अपने जीवन और समाज की सम्पूर्ण निराशा को अभिव्यक्त करने का प्रयास कर रहा था। इस में सन्देह नहीं कि ऐसे त्रासोत्पादक बिम्बों के द्वारा निराशा का केवल एक अतिरंजित चित्र-भर उपस्थित किया जा सकता है, उस निराशा की सन्दर्भगत अनुभूति को नहीं जगाया जा

सकता। वह तभी सम्भव है जब जीवन के सहज-सामान्य प्रतीकों अथवा बिम्बों के द्वारा उस अनुभूति को मूर्त रूप देने का प्रयास किया जाये। इसी सहजता के कारण अनिश्चय, अकेलापन और उद्देश्यहीनता की व्यंजना करने वाले इस बिम्ब में भावोत्तेजन की अत्यधिक क्षमता आ गयी है :

अन्तरिक्ष में आकुल-आतुर
कभी इधर उड़, कभी उधर उड़,
पन्थ नीड़ का खोज रहा है पिछड़ा पंछी एक अकेला।

यह उस पूरे युग की मानसिक स्थिति का सच्चा प्रतिबिम्ब है। साथ ही साथ कवि ने चित्र की क्षिप्रता और आवृत्ति के द्वारा नये मार्ग की खोज की सारी व्याकुलता भी व्यक्त कर दी है। 'अन्तरिक्ष' शब्द यहाँ विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। प्रसाद आदि कवियों का यह प्रिय रहस्य-व्यंजक शब्द बच्चन की कविता में, अपने पूर्व वायवीय अर्थ से मुक्त हो कर एक सर्वथा नये और वस्तुगत अर्थ का संवाहक बन गया है। वस्तुतः यह दोनों युगों की ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि का अन्तर है। इस प्रकार की सहजसंवेद्य और अकृत्रिम बिम्बयोजना के द्वारा इस युग के कवियों ने आधुनिक हिन्दी-कविता के भीतर एक नूतन रचनात्मक सम्भावना का द्वार खोला।

●

अध्याय : ६

[क] छायावादोत्तर कविता में बिम्बविधान का विकास

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

छायावादी कवियों की स्वच्छन्द कल्पनाशीलता और उत्तर-छायावादियों की आत्म-केन्द्रित चित्रात्मकता ने आधुनिक हिन्दी-कविता को एक ऐसे ऐतिहासिक मोड़ पर पहुँचा दिया था जिस के आगे का मार्ग बहुत स्पष्ट और निर्दिष्ट नहीं था। जीवन की ठोस वास्तविकता और काव्य की सूक्ष्म-अमूर्त कल्पना के बीच एक बहुत बड़ा अन्तराल आ गया था जिसे पाटे बिना भावी कविता का स्वस्थ विकास असम्भव था। कुछ सच्चे संवेदनशील कवियों ने इस ऐतिहासिक पुनःपरीक्षण के अवसर को तीव्रता से अनुभव किया और अपनी रचनाओं के द्वारा एक नयी दिशा का संकेत भी दिया। उन के कल्पना-प्रवण मन पर युग की विषम परिस्थितियों और आसपास के बदलते हुए वातावरण का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। उन्होंने स्वीकार किया कि "असीम और अखण्ड विश्व की व्यापकता में" उन को पूर्वसंचित "भावना की समग्रता" नष्ट हो गयी है[1] और यह कि छायावाद-युग का भावात्मक सत्य एक सार्वभौम सत्ता के रूप में न रह कर वास्तविकता के अनेक छोटे-छोटे खण्डों में विभाजित हो गया है। वस्तुतः यह एक व्यापक ऐतिहासिक दबाव था जिस की अनिवार्यता को स्वीकार करना कवि के लिए आवश्यक हो गया था। इस नूतन बोध को हम छायावादी कवि के मोह-भंग (डिसइल्युश्ज़नमेण्ट) का परिणाम कह सकते हैं जिस का आरम्भ पंत के 'युगान्त' और 'निराला' की कुछ फुटकर कविताओं से हुआ और चरमविकास 'ग्राम्या' तथा 'कुकुरमुत्ता' में देखा गया।

ऐतिहासिक दृष्टि से छायावादी काव्य की तीन ऐसी सीमाएँ थीं जिन्होंने नयी साहित्यिक क्रान्ति के लिए पृष्ठ-भूमि तैयार की :

१. प्राकृतिक दर्शन का आत्यन्तिक प्रभाव और फलस्वरूप मानवजाति के ऐतिहासिक संघर्ष की चेतना का अभाव।
२. एक विशिष्ट युगबोध को रूपायित करने वाले बिम्बों की अपेक्षा सार्वभौम और सर्वाश्लेषी कल्पना-चित्रों का बाहुल्य।

---

१. आधुनिक कवि २ : सुमित्रानन्दन पंत; पृ० ६.

३. अमूर्त प्रतीकों के प्रति विशेष आग्रह और धीरे-धीरे एक रूढ़िबद्ध शैली का विकास।

विस्तार में जाने पर और भी अनेक कारणों की खोज की जा सकती है। पर जहाँ तक बिम्बविधान के ऐतिहासिक विकास के भीतर घटित होने वाले परिवर्तनों का प्रश्न है उस के लिए मुख्यतः उपर्युक्त तीन कारण ही उत्तरदायी ठहराये जा सकते हैं। अँगरेज़ आलोचक एवरक्रॉम्बी ने एक स्थान पर लिखा है कि भाषा और साहित्य, दोनों का विकास वस्तुओं की संश्लेषणात्मक चेतना से विश्लेषणात्मक चेतना की दिशा में होता है।[१] यदि रॅमैण्टिक युग से लेकर अब तक के काव्य के रूपविधान का अध्ययन किया जाये तो उस के भीतर भी विकास का लगभग यही नियम पाया जायेगा। न केवल भाषा तथा साहित्य, बल्कि सम्पूर्ण मानवीय संस्कृति के विकास का भी यही नियम है। अतः इस के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सन् छत्तीस के आसपास हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में जिस नयी विश्लेषणात्मक चेतना का उदय हुआ वह वस्तुतः छायावाद युग के संश्लेषणात्मक सांस्कृतिक ढाँचे का ही ऐतिहासिक विकास था। इस भावनामूलक संश्लेषणात्मक चेतना के कारण छायावादी कवि ने जीवन की विश्लिष्ट स्थितियों और बिखरे अनुभवों की अपेक्षा 'प्रकृति के सार्वभौम नियमों की परिपूर्णता' के साथ अधिक तादात्म्य अनुभव किया। फलतः वह अपनी कल्पना को युग की यथार्थ-संवेदना से जोड़ नहीं पाया। इस स्थिति के दो परिणाम हुए। एक ओर तो वह चाँदनी, नक्षत्र, पवन, सुरभि और तुहिन जैसे सूक्ष्म सार्वभौम प्रतीकों को चुनने के लिए विवश हुआ जिन में ऐतिहासिक अर्थ सम्प्रेषित करने की क्षमता स्वल्पतम थी; और दूसरी ओर वह निरन्तर ऐन्द्रिय अनुभवों से अमूर्त भावनाओं की दिशा में बढ़ता गया। विकास के चरमबिन्दु पर पहुँचते-पहुँचते छायावाद, पंतजी के शब्दों में, "काव्य न रह कर केवल अलंकृत संगीत बन गया"।[२] तात्पर्य यह कि छायावाद की विषयवस्तु का क्षेत्र अत्यन्त संकुचित हो गया और अधिकांश कवि उस के बाह्य रूप को ही सब कुछ मानकर काव्यरचना करने लगे। स्पष्ट है कि किसी भी काव्यधारा के विकास के लिए यह स्थिति वांछनीय नहीं थी। पंत और निराला जैसे कुछ प्रबुद्ध कवियों ने इस जड़ स्थिति के प्रति अपनी बौद्धिक प्रतिक्रियाओं को खुले शब्दों में वाणी भी दी। स्थूल ने एक बार पुनः सूक्ष्म के विरुद्ध विद्रोह किया और साहित्य के भीतर एक नये वस्तुवादी दृष्टिकोण का आविर्भाव हुआ।

सन् छत्तीस के आसपास का समय सम्पूर्ण भारतीय इतिहास में कई दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह ध्यान देने की बात है कि इसी के आसपास कांग्रेस के भीतर एक नये वामपक्षी गुट का उदय हुआ। जो कांग्रेस अब तक केवल मध्यवर्ग तथा निम्न-मध्यवर्ग की समस्याओं तक सीमित थी उस ने नगरों के भीतर उभरते हुए नये श्रमिक

---

१. *Progress In Literature*; 38.

२. आधुनिक कवि–२; पृ० ११.

वर्ग की सत्ता को भी स्वीकार किया। नयी औद्योगिक संस्कृति तथा समाजवादी विचारों के प्रति दृढ़ आस्था रखने के कारण पण्डित नेहरू के स्वस्थ वैज्ञानिक दृष्टिकोण ने शिक्षित नवयुवकों और बुद्धिजीवियों को अधिक प्रभावित किया। गाँधीजी के सत्य और अहिंसा के सिद्धान्तों में पूर्ण विश्वास रखते हुए भी पण्डित नेहरू ने इन के आदर्श-मूलक सर्वोदय की कल्पना से भिन्न, जनता के सम्मुख एक नयी समाज-व्यवस्था का चित्र रखा जो वैज्ञानिक युग की आवश्यकताओं के अधिक अनुकूल था। वस्तुतः यह परिवर्तन उस ऐतिहासिक मोड़ का सूचक था जो सम्पूर्ण भारतीय समाज-व्यवस्था के भीतर घटित हो रहा था। मध्यवर्ग के विकास के साथ-साथ समाज के उच्च और निम्नस्तर की दूरी भी बढ़ती गयी थी। भारतीय पूँजीवाद का एक निश्चित स्वरूप बन गया था और अब वह पहले की तरह अँगरेज़ों की आर्थिक नीति का एक अंगमात्र नहीं था। इन सभी परिस्थितियों ने एक नये सामाजिक आन्दोलन के लिए पृष्ठ-भूमि तैयार की। तत्कालीन साहित्य में भी इस परिवर्तित दृष्टि का प्रभाव स्पष्टतः दृष्टिगोचर होने लगा। आगे चल कर इसी नयी प्रवृत्ति को 'प्रगतिवाद' अथवा 'प्रगतिशील साहित्य' का नाम दिया गया। वस्तुतः यह नाम अँगरेज़ी के 'प्रोग्रेसिव लिटरेचर' का हिन्दी अनुवाद है जिस को प्रचलित करने और विशिष्ट अर्थ देने का श्रेय 'प्रगतिशील लेखक-संघ' के उस प्रथम ऐतिहासिक अधिवेशन को है जिस की अध्यक्षता उपन्यास-सम्राट् प्रेमचंद ने की थी। इस से एक वर्ष पूर्व अर्थात् सन् उन्नीस सौ पैंतीस में हेनरी बारबूस और लुई अरागाँ के प्रयास से प्रसिद्ध अँगरेज़ी उपन्यासकार ई० एम० फ़ॉर्स्टर के सभापतित्व में पेरिस में 'प्रगतिशील लेखक-संघ' का एक अन्तर्राष्ट्रीय अधिवेशन हो चुका था जिस में भारतीय प्रतिनिधि के रूप में श्री मुल्कराज आनन्द और सज्जाद ज़हीर ने भाग लिया था। जैसा कि ऐतिहासिक तथ्यों से ज्ञात है, हिन्दी तथा उर्दू में 'प्रगतिशील लेखक-संघ' की स्थापना इन्हीं दोनों लेखकों के प्रयास से हुई और निस्सन्देह इस के पीछे भी वही अन्तर्राष्ट्रीय प्रेरणा काम कर रही थी जिसे पेरिस-अधिवेशन में एक ठोस साहित्यिक आन्दोलन का रूप देने का प्रयास किया गया था। आरम्भ में इस नवीन आन्दोलन का स्वरूप हिन्दी-उर्दू तक ही सीमित था; आगे चल कर वह सम्पूर्ण भारतीय साहित्य की एक मुख्य प्रवृत्ति बन गया।

ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो साहित्य को इतनी विशद पृष्ठ-भूमि में रख कर देखने का प्रयास इस से पूर्व कभी नहीं किया गया था। यह एक नये युगबोध का परिणाम था, जिस ने राष्ट्र और भाषा की सीमाओं को लाँघकर सम्पूर्ण बुद्धिप्राण और संवेदनशील रचनाकारों को यथार्थ के एक ही केन्द्रबिन्दु पर मिला दिया था। परन्तु रचनात्मक स्तर पर देखा जाये तो प्रगतिवाद की उत्पत्ति के पीछे बौद्धिक प्रेरणा अधिक और अनुभूतिगत प्रेरणा अपेक्षाकृत कम दिखाई देती है। वस्तुतः प्रगतिवाद जिस नयी ऐतिहासिक दृष्टि से परिचालित था वह मानव-इतिहास के बौद्धिक विश्लेषण से प्राप्त दृष्टि थी। अतः सब से पहले इस नयी यथार्थ-दृष्टि का आभास उन कवियों ने दिया जो

बौद्धिक दृष्टि से अधिक जागरूक थे। यह इतिहास का विचित्र विरोधाभास है कि जिन कविवर पंत ने भावनामूलक छायावाद का प्रवर्तन किया था उन्हीं के द्वारा इस में यथार्थवादी काव्य-आन्दोलन का भी नेतृत्व हुआ। सामान्यतः साहित्य में जब भी किसी नयी प्रवृत्ति का उदय होता है तो वह सर्वप्रथम किसी नयी प्रतिभा के माध्यम से व्यक्त होती है। पुरानी प्रतिष्ठित प्रतिभाएँ उस प्रवृत्ति को ग्रहण कर के नयी शक्ति और प्रेरणा दे सकती हैं। पर उसे स्वाभाविक और स्वतःस्फूर्त अभिव्यक्ति प्रायः नयी प्रतिभाओं से ही मिलती है। इस के विपरीत आरम्भिक प्रगतिवादी काव्य छायावाद के प्रतिष्ठित कवियों (पंत और निराला आदि) के माध्यम से सामने आया जिस में व्यापक वास्तविकता के प्रति भावात्मक प्रतिक्रिया कम और 'बौद्धिक सहानुभूति' अधिक थी।[१]

सन् उन्नीस सौ अड़तीस की जुलाई में प्रगतिवाद के मुखपत्र 'रूपाभ' का प्रकाशन हुआ। श्री सुमित्रानन्दन पंत और श्री नरेन्द्र शर्मा के सम्पादकत्व में यह पत्र प्रगतिवाद की विशद कल्पना और रचनात्मक स्वरूप को ले कर सामने आया। पत्र को 'रूपाभ' नाम बहुत सोच-समझकर दिया गया था; यह उस वस्तुवादी दर्शन का सूचक था जो प्रत्यक्ष जगत् और उस से प्राप्त ऐन्द्रिय संवेदन को ही सब कुछ मानता है। इस दृष्टि से वह छायावाद की सूक्ष्म चेतना या 'प्रज्ञा के सत्य स्वरूप' का विलोम था। स्वप्नकल्पी पंत ने 'रूप' (प्रत्यक्ष वस्तुजगत्) की महत्ता इन शब्दों में घोषित की :

मुझे रूप ही भाता।
प्राण ! रूप ही मेरे उर में
मधुर भाव बन जाता।[२]

○ ○ ○

निर्मित करो रूप का नव मन
रूप तत्त्व कर दर्शन,
रूप भाव का मूल
रूप को भाव करो सब अर्पण।[३]

'रूपाभ' के प्रकाशन के साथ नये लेखकों और कवियों का एक नया दल सामने आया जिन में 'बौद्धिक सहानुभूति' की अपेक्षा अपने यथार्थ-परिवेश के प्रति सच्ची संवेदना अधिक थी। इन कवियों में नरेन्द्र शर्मा, रामविलास शर्मा, केदारनाथ अग्रवाल और शमशेर बहादुर सिंह की कविताओं में रूपविन्यास की दृष्टि से अधिक नवीनता दिखाई पड़ी। उधर काशी से प्रकाशित होने वाले प्रतिष्ठित पत्र 'हंस' में श्री शिवदान सिंह चौहान के आगमन के द्वारा 'प्रगतिवाद' की अस्पष्ट रूपरेखा को एक दृढ़ सैद्धान्तिक आधार मिला और नयी क्रान्तिभावना से प्रेरित रचनाओं की बाढ़-सी आ गयी। इस

---

१. ग्राम्या : निवेदन—सुमित्रानन्दन पंत; पृ० ३.
२. युगवाणी; पृ० ७६.
३. वही; पृ० ५१-५२.

के पश्चात् प्रगतिवादी रचनाओं पर राजनीति का रंग निरन्तर गाढ़ा होता गया और काव्य का कलात्मक पक्ष कुछ समय के लिए दब-सा गया। फिर भी इस स्थूल राजनीतिक प्रभाव से अलग हट कर जो कुछ थोड़ी-सी सच्ची मानवीय भावनाओं से प्रेरित कविताएँ लिखी गयीं, उन में गँवई-गाँव के कुछ अछूते चित्र और सहज-सीधे बिम्ब दिखाई पड़े। वस्तुतः बिम्बविधान के विकास की दृष्टि से ये ही कविताएँ विशेष-रूप से विचारणीय ठहरती हैं। क्रान्तिमूलक भावनाओं की दृष्टि से नवीन, दिनकर और भगवतीचरण वर्मा की कुछ कविताएँ भी इसी वर्ग में आती हैं।

प्रगतिवादी काव्य-दृष्टि : प्रत्यक्षीकरण की नयी मान्यता

प्रगतिवाद के आगमन के साथ साहित्य की मूलभूत धारणा में एक बहुत बड़ा परिवर्तन आया। उन की सामाजिक स्थिति, रचना-प्रक्रिया और प्रयोजन की सर्वथा नयी व्याख्या प्रस्तुत की गयी। अब तक काव्य कल्पना की स्वच्छन्द उड़ान माना जाता था। इस वर्ग के आलोचकों ने पहले-पहल इस मत की स्थापना की कि प्रागैतिहासिक काल से लेकर अब तक का सम्पूर्ण काव्य मानव की क्रमिक वस्तु-चेतना का इतिहास है। कलाकार एक सचेतन सामाजिक प्राणी है जो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से अपने वस्तुगत परिवेश और वर्गगत भावना को अपनी कृतियों के माध्यम से प्रतिबिम्बित करता है। पुराने विचारक कला को समाज-निरपेक्ष एक स्वतःपूर्ण वस्तु मानते थे। प्रगतिवाद ने इस मान्यता का खण्डन किया और इस मत की स्थापना की कि "कला भी एक प्रकार की सामाजिक चेतना है, या कहें कि कला सामाजिक चेतना का एक विशिष्ट रूप है, जिस के माध्यम से मनुष्य का मानस सामाजिक वास्तव (सोशल रिऐलिटी) को प्रतिबिम्बित करता है।[१] तात्पर्य यह कि कवि के एकान्त क्षणों में निर्मित होने वाली काव्य-कृति केवल उस के व्यक्तिगत सुख-दुःख को अभिव्यक्त नहीं करती, बल्कि सांकेतिक रूप से परे समाज के हर्ष-विषाद और आशा-आकांक्षा को प्रतिबिम्बित करती है। रचना की इस सूक्ष्म आन्तरिक प्रक्रिया में कवि यथार्थ की अभिव्यक्ति का कोरा माध्यम-मात्र नहीं होता; वह वस्तुतः इस प्रक्रिया के द्वारा समाज के कर्मशील सदस्यों (यथा श्रमिक-कृषक इत्यादि) की भाँति अपने युग के बृहत्तर निर्माण-कार्य में ही योग देता है। सुप्रसिद्ध मार्क्सवादी समीक्षक क्रिस्टोफ़र कॉडवेल ने कला और समाज के अन्योन्य सम्बन्ध को एक रूपक के द्वारा स्पष्ट किया है। उन के अनुसार 'कला उस मोती के समान है जो समाजरूपी सीपी से उत्पन्न होता है।'[२] कला के सामाजिक उद्देश्य और उपयोग के बारे में प्रायः सभी प्रगतिवादी समीक्षक सहमत हैं। परन्तु कुछ ऐसे भी विचारक हैं जो मार्क्सीय सौन्दर्य-शास्त्र की वैज्ञानिक पद्धति से च्युत हो कर एक प्रकार के संकीर्ण सापेक्षतावादी सौन्दर्य-

१. हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियाँ—विजय चौहान; पृ० ६६.
२. *Illusion And Reality*; 14.

शास्त्र के आधार पर होने वाली समीक्षा को ही वास्तविक प्रगतिवादी समीक्षा मानते हैं।

काव्य और कला की इस सामाजिक व्याख्या का मुख्य दार्शनिक आधार मार्क्स का ऐतिहासिक भौतिकवाद है जो सम्पूर्ण मानवीय इतिहास की व्याख्या, बदलते हुए आर्थिक सम्बन्धों के स्तर पर करता है। मार्क्सवाद के अनुसार प्रत्येक युग में सांस्कृतिक ढाँचे का निर्माण भी, बदलते हुए आर्थिक सम्बन्धों के आधार पर ही होता है। साहित्य चूँकि संस्कृति का एक मुख्य अंग है इस लिए वह भी अनिवार्यतः आर्थिक सम्बन्धों के आन्तरिक संघर्ष और भावी परिवर्तन की दिशा को प्रतिबिम्बित करता है। अतः काव्य अथवा कला के विकास का ठीक-ठीक अध्ययन तत्कालीन समाज के आर्थिक ढाँचे के आधार पर ही किया जा सकता है। यहाँ तक कि कवि द्वारा कल्पित प्रतीक और बिम्ब भी किसी न किसी रूप में उस के वर्गीय आधार को ही सूचित करते हैं। कॉडवेल ने स्वप्न-बिम्बों से काव्यात्मक बिम्बों को अलगाते हुए लिखा है कि पहले प्रकार के बिम्बों के निर्माण के पीछे मन की कोई चेतन कृति-शक्ति काम नहीं करती, जब कि दूसरे प्रकार के बिम्ब वास्तविक अनुभूतियों द्वारा प्रेरित और 'सामाजिक अहम्' (सोशल इगो) द्वारा नियन्त्रित होते हैं।[१] यह 'सामाजिक-अहम्' वस्तुतः कवि की वर्गीय स्थिति पर ही आधारित होता है। इसलिए मार्क्सवादी समीक्षा के अनुसार यदि किसी कवि के बिम्बस्रोतों और क्षेत्रों का अध्ययन किया जाये तो यह पता लगाया जा सकता है कि वह समाज के किस वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है अथवा किस वर्ग के प्रति उस की विशेष सहानुभूति है।

इस प्रकार मार्क्सीय सौन्दर्यशास्त्र कलात्मक प्रत्यक्षीकरण की क्रिया को मनोविश्लेषणशास्त्र की भाँति पूर्णतः अचेतन-प्रक्रिया न मान कर मनुष्य की चेतन कृति-शक्ति का अंग मानता है। उस की दूसरी मान्यता यह है कि यह कृति-शक्ति व्यक्ति के 'सामाजिक अहम्' द्वारा अनुशासित होती है। इस का मतलब यह हुआ कि एक कवि जब जीवन के विस्तृत क्षेत्र में किसी बिम्ब को चुनता है तो वह केवल अपने मानसिक प्रभावों और ऐन्द्रियबोधों को ही उस के माध्यम से व्यक्त नहीं करता, बल्कि अप्रत्यक्ष रूप से अपनी सामाजिक स्थिति और उस यथार्थ-दृष्टि को भी प्रतिबिम्बित करता है जिस से वह जीवन और जगत् को देखने का अभ्यस्त होता है। प्रगतिवाद की दृष्टि में बिम्ब वस्तुतः काव्य के रूपपक्ष का ही एक अंग है। अतः बिम्बविधान की प्रक्रिया भी विचारवस्तु की सापेक्षता में ही कोई अर्थ रखती है। बिम्बवादियों की स्थापना थी कि बिम्ब अनिवार्यतः 'विशेष' का ही होता है, 'सामान्य' का नहीं। इस के विपरीत द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में विश्वास रखने वाला प्रगतिवादी यह मानता है कि वस्तुतः बिम्ब भी सृष्टि की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के समान 'सामान्य' और 'विशिष्ट' की ही 'क्षणकालिक, सापेक्ष्य और परि-

---

१. *Illusion And Reality*; 299.

स्थितिजन्य एकता है।' लेकिन वह इस के साथ ही साथ यह भी चाहता है कि कवि इस 'एकता' की खोज के माध्यम से इन परस्पर-विरोधी तत्त्वों के चिरन्तन संघर्ष को भी उद्घाटित करे।[१]

प्रगतिवादी काव्य के रूपविन्यास पर इस मान्यता का प्रभाव यह पड़ा कि वह विचारपक्ष-प्रधान हो गया और जो बिम्ब लाये भी गये वे उन्हीं विचारों को पुष्ट करने के लिए। कला की दृष्टि से ऐसे बिम्बों को शुद्ध बिम्ब नहीं माना जा सकता। पन्तजी ने अपनी 'वाणी' शीर्षक कविता में प्रगतिवाद की इसी बिम्ब-विरोधी प्रवृत्ति को वाणी दी है :

> तुम वहन कर सको जन मन में मेरे विचार
> वाणी मेरी चाहिए तुम्हें क्या अलंकार।[२]

यहाँ 'अलंकार' शब्द वस्तुतः काव्य के समस्त मूर्त-विधान के लिए आया है जिस से विचार-वस्तु ग्राह्य और संवेदनीय बनती है। यदि बिम्बवादियों की दृष्टि से विचार करें तो यथार्थवाद की मान्यताओं और बिम्बविधान की प्रक्रिया में मौलिक विरोध है। यथार्थवाद कवि के ऐन्द्रिय प्रभावों को संयोजित करनेवाली कल्पना-शक्ति की अपेक्षा स्वयं प्रत्यक्षीकरण की क्रिया को निर्धारित करनेवाली वैचारिक दृष्टि को अधिक महत्त्व देता है। एक प्रकार से वह काव्य में ऐन्द्रिय प्रभाव की सत्ता को उसके विशुद्ध विचार-निरपेक्ष रूप में स्वीकार ही नहीं करता। प्रगतिवादी काव्य में बिम्बों का जो अभाव दिखाई देता है वह इसी मान्यता के कारण। पर मार्क्सीय सौन्दर्यशास्त्र का एक दूसरा पक्ष भी है जो लोक-जीवन और उस के प्राकृतिक परिवेश के सौन्दर्य को सहज स्वीकार करता है। वस्तुतः प्रगतिवाद की यही सब से बड़ी देन मानी जायेगी कि उस ने हिन्दी कविता को पहली बार लोक-जीवन के व्यापक सन्दर्भ से सम्पृक्त किया। इससे काव्य-दृष्टि में एक नवीनता आयी और कवियों को यथार्थ वस्तु तक पहुँचने का एक अधिक सहज और स्वाभाविक मार्ग मिल गया। पन्तजी ने प्रत्यक्षीकरण के इस परिवर्तित दृष्टिकोण को अपनी एक दूसरी प्रसिद्ध कविता के द्वारा अभिव्यक्ति दी है :

> देख रहा हूँ आज विश्व को मैं ग्रामीण नयन से,[३]

'ग्रामीण नयन' का अर्थ यह है वह सहज स्वाभाविक यथार्थ-दृष्टि जिस से प्रगतिवादी कवि यन्त्र-युग की जटिल सभ्यता पर दृष्टिपात कर रहा था। परन्तु बिम्बविधान के क्षेत्र में इस सहज स्वाभाविक दृष्टि का परिचय पन्त के अतिरिक्त केवल केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन और रामविलास शर्मा ने अपनी कुछ कविताओं में दिया है। इस प्रकार प्रगतिवाद ने छायावाद की विशुद्ध ऐन्द्रिय अथवा प्रज्ञामूलक प्रत्यक्षीकरण की

---

१. हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियाँ; पृ० ७२.

२. ग्राम्या; पृ० १०३.

३. वही; पृ० १५.

धारणा का खण्डन कर के बिम्बविधान के क्षेत्र, स्वरूप और निर्माण-प्रक्रिया को बहुत दूर तक प्रभावित किया।

प्रगतिवादी बिम्बविधान के दो रूप

पिछले विवेचन के आधार पर प्रगतिवादी काव्य के सम्पूर्ण बिम्बविधान को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है: विचारप्रधान बिम्ब, और प्राकृतिक बिम्ब। वस्तुतः 'विचारप्रधान बिम्ब' कहने में ही एक अन्तर्विरोध है। ऐन्द्रियता को यदि हम बिम्ब का अनिवार्य गुण मानते हैं तो विशुद्ध विचार-प्रधान बिम्ब को बिम्ब माना ही नहीं जा सकता। बिम्ब विचार को ध्वनित कर सकता है, परन्तु वह चेतन रूप से उस का संवाहक नहीं बनाया जा सकता। जब तक बाह्य विचार आन्तरिक अनुभूति का—परिपक्व संवेदना का—अंग नहीं बन जाता तब तक उसे धारणा (कॅन्सेप्ट) के सूक्ष्म स्तर पर से उतार कर प्रत्यक्षीकरण (परसेप्ट) के मूर्त ऐन्द्रिय स्तर पर लाया ही नहीं जा सकता, जो बिम्बनिर्माण की प्रक्रिया की पहली शर्त है। प्रगतिवादी काव्य के सायास लाये हुए विचार-बिम्ब इस शर्त की केवल आंशिक रूप से ही पूर्ति कर पाते हैं। इस लिए यहाँ 'विचारप्रधान-बिम्ब' का प्रयोग केवल प्रवृत्तियों के विवेचन की सुविधा की दृष्टि से किया जा रहा है। विचारवस्तु की दृष्टि से सम्पूर्ण प्रगतिवादी काव्य में इतने प्रकार के बिम्ब पाये जा सकते हैं:

वैषम्य चेतना

प्रगतिवाद की आरम्भिक कविताओं में शोषक और शोषित का अन्तर या गहरी विषमता सूचित करने वाले भावचित्र अधिक आये हैं। ये चित्र अधिकतर छायावादी कोमल रुचि को झकझोरने वाले हैं। जैसे—

> इस विशाल सम्पन्न नगर के
> हँसने वाले राजमार्ग पर
> आज सुबह मैं ने देखी थी
> एक विकृत-सी लाश पड़ी।[१]

इस प्रकार के तीव्र मानसिक आघात देने वाले बिम्बविधान के द्वारा कवि एक ओर छायावादी सौन्दर्य-दृष्टि को अपूर्ण सिद्ध करना चाहता है, दूसरी ओर पूँजीवादी वातावरण में पले उच्चवर्ग के अभिजात संस्कार को क्षुब्ध करना। सम्पन्न नगर के हँसते हुए राजमार्ग पर उपेक्षित पड़ी हुई विकृत-सी लाश—इस चित्र का सारा प्रभाव वस्तुतः पृष्ठभूमि के इस विरोध में ही है। स्थूल तुलना के आधार पर निर्मित होने के कारण इस कोटि के बिम्बों में वह अपेक्षित गहराई नहीं होती जो किसी चित्र को एक स्वतःपूर्ण कलात्मकता प्रदान करती है। निरालाजी की 'कुकुरमुत्ता' में यह विरोध-

१. मानव—भगवतीचरण वर्मा; पृ० ५६.

जन्य शैली अपने चरम रूप को पहुँच गयी है। पर वहाँ 'गुलाब' और 'कुकुरमुत्ता' के जो विरोधी बिम्ब आये हैं वे केवल उपलक्षणमात्र हैं। कवि ने उन के माध्यम से जीवन की अन्तर्निहित विषमता का चित्रण किया है। कैपिटेलिस्ट और सर्वहारा की तुलना का यह स्थूल रूपक खलता इस लिए नहीं कि कवि ने उसे यथार्थ जीवन के अनेक सन्दर्भों और क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं से सम्पृक्त कर के प्रस्तुत किया है।

युगान्त-चेतना

वर्नमान की विषमता की पीड़ा को अनुभव करने के पश्चात् प्रगतिवादी कवियों ने दलित वर्ग के आशामय भविष्य की ओर दृष्टिपात किया और समाज के टूटते हुए परम्परागत मूल्यों और खण्डित होते हुए आदर्शों के बीच यह अनुभव किया कि इस 'सुस्त-ध्वस्त' और 'शुष्क-शीर्ण' युग का अन्त निकट है। उस ने नूतन का आह्वान करने से पहले प्राचीन को पदच्युत करना आवश्यक समझा। अतः उस ने उद्दाम क्रान्ति की वाणी में घोषणा की :

> द्रुत झरो जगत् के जीर्ण पत्र।[१]

और आगे—

> नष्ट - भ्रष्ट हो जीर्ण - पुरातन,
> ध्वंस-भ्रंश जग के जड़ बन्धन।
> पावक-पग घर आवे नूतन।[२]

यह आकस्मिक नहीं है कि उस युग के प्रायः सभी कवियों ने 'युगान्त', 'युग-धारा' अथवा 'युग की गंगा' के रूप में एक विशिष्ट युग-चेतना का परिचय दिया है। केदारनाथ अग्रवाल की इन पंक्तियों में उसी चेतना की अभिव्यक्ति है :

> युग की गंगा
> पाषाणों पर दौड़ेगी ही,
> लम्बी, ऊँची पथ को रोके
> चट्टानों को तोड़ेगी ही,
> युग की गंगा
> सब प्राचीन डुबायेगी ही
> नयी बस्तियाँ- शान्ति-निकेतन
> नवसंसार बसायेगी ही।[३]

पर यह युगबोध अधिकतर एक-आक्रोश अथवा नव-निर्माण की आकांक्षा के रूप में व्यक्त हुआ है, इस लिए उस में भावना का विक्षोभ अधिक और संवेदनात्मक तीव्रता

---

१. युगान्त; पृ० १.
२. वही; पृ० ३.
३. युग की गंगा; पृ० ८.

अपेक्षाकृत कम है। यही कारण है कि ये युगान्तसूचक चित्र केवल बिम्बविधान का आभास भर देते हैं, ऐन्द्रिय स्तर पर उन का मूर्त रूप में ग्रहण होता नहीं।

जनशक्ति

प्रगतिवादी कवि की दृष्टि में भविष्य में होने वाली क्रान्ति मध्यवर्गीय विचारों की क्रान्ति न हो कर व्यापक जनक्रान्ति होगी। इस लिए जनशक्ति को अनेक कविताओं में तरल भावुकता के साथ गौरवान्वित करने का प्रयास किया गया है। पर इस कोटि की अधिकांश कविताओं में जनशक्ति के वास्तविक स्वरूप की केवल एक अमूर्त धारणा-मात्र पाठक तक पहुँच पाती है। उस का कोई प्रत्यक्ष क्रियात्मक रूप प्रायः नहीं उभर पाता। सम्पूर्ण प्रगतिवादी काव्य में सम्भवतः इस प्रकार की—जनता की सामूहिक शक्ति और निर्माण-क्षमता को अभिव्यक्त करने वाली—कविताओं की संख्या सब से अधिक है। परन्तु रूप-विधान की दृष्टि से अधिकांश कविताएँ शिथिल और भाषण-प्रधान हैं। इस वर्ग की कुछ ही कविताएँ पूरे संवेदनात्मक प्रभाव के साथ पाठक को प्रभावित करती हैं। एक चित्र प्रस्तुत है :

किन्तु उधर
    पथ-प्रदर्शिका मशाल
कमकर की मुट्ठी में— किन्तु उधर
आगे-आगे जलती चलती है
लाल - लाल
    वज्र-कठिन कमकर की मुट्ठी में
    पथ-प्रदर्शिका मशाल।[1]

आगे-आगे चलती मशाल के रूप में श्रमिक-वर्ग की संघटित शक्ति का बड़ा ही भव्य बिम्ब उपस्थित किया गया है, जो प्रस्तुत अर्थ के अतिरिक्त मानव जीवन के गहरे सूक्ष्म संकेतों को भी व्यंजित करता है। इसी प्रकार का एक उदात्त बिम्ब केदारनाथ अग्रवाल ने भी अपनी एक कविता में प्रस्तुत किया है :

घन गरजे, जन गरजे
बन्दी सागर को लख कातर
    एक रोष से
घन गरजे, जन गरजे।[2]

पंक्तियों की आवृत्ति और आघातपूर्ण संगीत-योजना के द्वारा इस कविता में एक विशेष प्रकार का बिम्बात्मक सौन्दर्य आ गया है जो एक ही साथ पाठक को संवेदना के

---

१. दूसरा सप्तक (शमशेर बहादुर सिंह); पृ० ११३.
२. युग की गंगा; पृ० १८.

दोहरे स्तरों पर प्रभावित करता है। पर जैसा कि पहले कहा जा चुका है—प्रगतिवादी कविता में ऐसे श्रेष्ठ कलात्मक बिम्बों की संख्या बहुत विरल है।

क्रान्ति भावना

सैद्धान्तिक दृष्टि से सम्पूर्ण प्रगतिवादी आन्दोलन का लक्ष्य रहा है — एक ऐसे जनवादी साहित्य का निर्माण करना जो अन्ततः शोषक-वर्ग के विरुद्ध एक व्यापक सामूहिक क्रान्ति की भावना को जाग्रत् करे। अतः सभी प्रगतिवादी कवियों में 'क्रान्ति' शब्द के प्रति एक विचित्र प्रकार का रॅमैण्टिक भाव पाया जाता है। पंतजी ने 'युग-वाणी' में 'क्रान्ति' की अभ्यर्थना इन शब्दों में की है :

तुम अन्धकार, जीवन को ज्योतित करतीं,
तुम विष हो, उर में मधुर सुधा-सी झरतीं।
....
तुम दावा, वन को हरित-भरित कर जातीं,[1]

क्रान्ति की अमूर्त सत्ता के प्रति इस भावात्मक आवेश के कारण अधिकांश प्रगतिवादी कवियों ने केवल क्रान्ति का एक भव्य-विराट् रूप ही खड़ा किया है, जीवन की प्रत्यक्ष अनुभूतियों से उस को सम्पृक्त नहीं किया है। यही कारण है कि प्रगति-वादियों की 'क्रान्ति' एक विशुद्ध भावना के स्तर पर प्रभावित करती है, वह पाठक की संवेदना का अंग नहीं बन पाती। तात्पर्य यह कि प्रगतिवादी कवि सामान्यतः 'क्रान्ति' को बिम्बात्मक रूप में देखने का प्रयास नहीं करता। वह सीधे-सीधे अपनी बात को एक आवेशपूर्ण वक्ता की तरह विद्रोह और क्रान्ति का आभास पैदा करने वाले शब्दों में बाँध कर रख देने में ही कवि-कर्म की चरम सफलता समझता है। यदि गणना की जाये तो सम्पूर्ण प्रगतिवादी काव्य में क्रान्तिपरक चित्रों की संख्या सब से अधिक होगी। परन्तु अधिकांश कविताओं में ऐसे चित्रों का ऐन्द्रिय-चेतना के किसी भी स्तर पर प्रत्यक्षीकरण नहीं हो पाता। इस लिए इन को पूर्ण बिम्ब की संज्ञा नहीं दी जा सकती। इस कसौटी पर केवल कुछ ही बिम्ब खरे उतरते हैं। उदाहरण के लिए पंतजी का यह ध्वन्यार्थ-व्यंजक चित्र देखिए :

ठड् - ठड् - ठड्।
लौह-नाद से ठोंक-पीट घन
निर्मित करता श्रमिकों का मन
ठड् - ठड् - ठड्।[2]

स्पष्टतः यहाँ क्रान्ति अथवा विद्रोह जैसे भारी-भरकम शब्दों का कहीं उल्लेख नहीं किया गया है, केवल घन के लौह-नाद से श्रमिक-क्रान्ति का प्रतीकात्मक चित्र भर

---

१. युगवाणी; पृ० ६६.
२. वही; पृ० ४७.

दे दिया गया है। कहना न होगा कि घन, हथौड़ा, हँसिया आदि प्रगतिवादी काव्य के कुछ रूढ़ प्रतीक हैं जिन के द्वारा वह सर्वहारा वर्ग के कर्म-मुखर जीवन को कलात्मक अभिव्यक्ति देता है। कहीं-कहीं इस क्रान्ति-भावना को व्यक्त करने के लिए अन्योक्ति-पद्धति का भी सहारा लिया गया है। 'युग की गंगा' के कवि केदारनाथ अग्रवाल का एक चित्र प्रस्तुत है :

> सैकड़ों हज़ार गिद्ध
> व्योम के प्रसार में उघार क्षुब्ध क्रुद्ध पंख
> मांस की पुकार मार
> अन्धकार का अपार आर-पार नोचते।[1]

यहाँ 'अन्धकार' क्षयोन्मुख पूँजीवादी व्यवस्था का, और क्षुब्ध-क्रुद्ध पंखों वाले गृद्ध दलित वर्ग की क्रान्ति-भावना के प्रतीक हैं। परन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है स्थूल तुलना अथवा वैषम्य के आधार पर निर्मित होने वाले चित्रों में कवि की कल्पना यथार्थ जीवन-अनुभव के केवल ऊपरी स्तर का ही उद्‌घाटन कर पाती है। मानवीय अनुभूति के गहरे और जटिल स्तर अछूते ही रह जाते हैं। ऊपर क्रान्ति-भावना के जो चित्र दिये गये हैं वे सीधे और सहज-सामान्य हैं। पर कभी-कभी कुछ ऐसे बिम्ब भी मिल जाते हैं जिन में कवि-कल्पना किसी सर्वथा नये और असामान्य अनुभव-स्तर को उद्‌घाटित करती-सी जान पड़ती है :

> उठ रही है क्रान्ति की ललकार
> ज्यों मीनार
> नभ को फाड़।

उठती हुई क्रान्ति की ललकार के लिए आकाश के शून्य को चीरती हुई मीनार की कल्पना बिलकुल नयी है और कवि की तीव्रतम अनुभूति को सम्प्रेषित करने में पूर्णतः समर्थ है।

भविष्य-कल्पना

वर्तमान से सन्तुष्ट प्रगतिवादी कवि के लिए भविष्य एक मानसिक पड़ाव के समान था जहाँ उस की कल्पना निवास करती थी। वस्तुतः यह भविष्यवादी प्रवृत्ति प्रगतिवादी साहित्य की एक मूलभूत प्रवृत्ति है जो प्रत्येक देश के साहित्य में किसी न किसी रूप में पायी जाती है। भविष्यवादी आन्दोलन का आदि-प्रवर्तक इटली का प्रसिद्ध कवि मारिनेत्ति था जिस ने इस मत का प्रचार किया कि हमें आने वाले स्वर्णिम भविष्य की पूर्वछायाएँ वर्तमान के भीतर भी दिखाई दे सकती हैं। आगे चल कर रूस में भी भविष्यवादी काव्य का प्रचार हुआ। प्रसिद्ध रूसी कवि मायकोवस्की को आरम्भिक कविताएँ इसी प्रभाव में लिखी गयी हैं। हिन्दी में इस प्रवृत्ति का आभास प्रायः सभी

---

१. युग की गंगा; पृ० २१.

प्रगतिवादी कवियों के काव्य में पाया जाता है। लाल सवेरा, लाल तारा, नव प्रभात, आदि प्रतीकों के रूप में इस भविष्यवादी मनोवृत्ति को ही बार-बार अभिव्यक्ति देने का प्रयास किया गया है। पंतजी ने उस अनागत को 'मधु का प्रभात' कहकर सम्बोधित किया है :

मधु का प्रभात ! लद-लद जाती
वैभव से जग की डाल-डाल,
कलि-कलि, किसलय में जल उठती
सुन्दरता की स्वर्गीय ज्वाल ।[१]

सूर्योदय और प्रभात के अतिरिक्त वसन्त और हरियाली दो ऐसे प्रतीक हैं जो प्रगतिवादी काव्य के भीतर भावी सुख और सौन्दर्य को रूपायित करते हैं। नरेन्द्र शर्मा ने 'पलाश' शीर्षक कविता में आने वाले वसन्त का बड़ा भव्य चित्र प्रस्तुत किया है :

लो, डाल-डाल से उठी लपट, लो डाल-डाल फूले पलाश,
यह है वसन्त की आग, लगा दे आग जिसे छू ले पलाश ।
लग गयी आग, वन में पलाश, नभ में पलाश, भू पर पलाश,
लो, चली फाग, हो गयी हवा भी रंग-भरी छू कर पलाश ।[२]

प्राकृतिक अर्थ के अतिरिक्त यह कविता सांकेतिक ढंग से नवयुग की अग्निक्रान्ति और भावी सुख-सम्पन्नता का बोध भी जगाती है। परन्तु भविष्य-कल्पना का यह प्राकृतिक माध्यम बहुत कम कवियों ने अपनाया है। अधिकांश कविताएँ आने वाले युग के अस्थि-पंजर का केवल एक नग्न और सपाट चित्र-भर दे पाती हैं। ऊपर जिन विविध बिम्बों का विवेचन किया गया है, वे सामान्यतः स्वतःप्रेरित कम और विचार-प्रेरित अधिक हैं। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में कहें तो उन में एक प्रकार के 'वर्ग-चेतनायुक्त अप्रस्तुत-विधान'[३] की गन्ध है। यह प्रयत्नपूर्वक लायी हुई सोद्देश्यता (टेण्डेन्शसनेस) बिम्बों की नानार्थ-व्यंजकता और स्मृत्युद्बोधक शक्ति को क्षीण और सीमित करती है।

प्राकृतिक-बिम्ब :

छायावादी कविता के प्राकृतिक बिम्बों से प्रगतिवादी काव्य के प्राकृतिक बिम्बों का पहला अन्तर यह है कि पहले में एक सर्वात्मवादी आरोपित चेतना का आग्रह अधिक था, दूसरे में यथातथ्यता और यथार्थ-अंकन का। एक दूसरा अन्तर भी है जिस का सम्बन्ध दोनों की मूलभूत मान्यताओं से है। छायावादी कवि प्रकृति को एक स्वतःपूर्ण मानव-निरपेक्ष सौन्दर्य-सत्ता के रूप में देखता था। प्रगतिवादी कवि के लिए प्रकृति

---

१. युगान्त; पृ० ५.
२. पलाश वन; पृ० ३.
३. आधुनिक हिन्दी-कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ; पृ० ६२.

व्यापक मानवीय परिवेश का ही एक अंग बन गयो। उस की प्रत्येक क्रिया को उस ने मानव-जीवन की सापेक्षता में देखने का प्रयास किया। इसी लिए छायावाद-युग के प्राकृतिक बिम्ब जहाँ एक नितान्त वैयक्तिक सौन्दर्यानुभूति को सम्प्रेषित करते हैं, वहाँ प्रगतिवादी बिम्बों में व्यक्ति के अचेतन मन में सोये हुए सामूहिक भावों को जगाने की क्षमता है। छायावादी कविता में विराट्, व्यापक, सुदूर और सुकुमार प्राकृतिक रूपों के प्रति जो आग्रह था वह प्रगतिवादी युग में आ कर लघु, सीमित, सुपरिचित दृश्य-खण्डों के रूप में बदल गया। सौन्दर्य-दृष्टि और [illegible] की दिशा में भी परिवर्तन आ गया। नक्षत्र, सुरभि, हिमकण और मधुप-गुंजार में सौन्दर्य का साक्षात्कार करने वाला कवि धरती पर फैले हुए 'कूड़ा-करकट' तक में सौन्दर्य का आभास पाने लगा :

पीले पत्ते, टूटी टहनी
छिलके, कंकर, पत्थर
कूड़ा-करकट सब कुछ भू पर
लगता सार्थक सुन्दर।[१]

वस्तुतः यह उस यथार्थवादी प्रवृत्ति का प्रभाव था जो प्रसादजी के शब्दों में 'लघुता के प्रति साहित्यिक दृष्टिपात' का दूसरा नाम है। इस प्रवृत्ति का मुख्य लक्षण यह है कि वह किसी भी वस्तु को केवल उस के सौन्दर्य के कारण 'सुन्दर' मानती। बल्कि साथ ही साथ उसे 'सार्थक' भी होना चाहिए। यह 'सार्थकता' की भावना सम्पूर्ण प्रगतिवादी प्रकृति-काव्य में किसी न किसी रूप में पायी जा सकती है। इस बात को इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि प्रगतिवादी कवियों ने प्रकृति के केवल उन्हीं रूपों का आकलन किया है जिन में उन्हें मनुष्य के सामाजिक जीवन की कोई गहरी अर्थच्छाया दिखाई पड़ी। यह विशेष रूप से ध्यान देने की बात है कि प्रगतिवादी काव्य में प्रकृति का वन्य और पार्वतीय रूप प्रायः छोड़ दिया गया और उन का स्थान सुपरिचित ग्राम्य-प्रकृति ने लिया। एक बार पुनः काव्य के क्षेत्र में 'लह-लह पालक, मह-मह धनिया' की आत्मीय गन्ध फैल गयी। वस्तुतः यह उसी पुरानी स्वच्छन्दतावादी परम्परा का एक विकास था जिस का आरम्भिक रूप श्रीधर पाठक की कविता में देखा गया था। पन्त की 'ग्राम्या' प्राकृतिक बिम्बों की दृष्टि से उस युग की सब से समृद्ध कृति है। गाँव के सम्पूर्ण प्राकृतिक वैभव के लिए इस से अधिक सार्थक बिम्ब और क्या हो सकता है :

मरकत डिब्बे-सा खुला ग्राम-
जिस पर नीलम नभ आच्छादन।[२]

और उस 'मरकत डिब्बे' के भीतर भी अनेक सूक्ष्म परिवर्तन होते रहते हैं :

---

१. युगवाणी; पृ० २६.

२. ग्राम्या; पृ० ३८.

उड़ती भीनी तैलाक्त गन्ध
....

छायातप के हिलकोरों में
    चौड़ी हरीतिमा लहराती,
ईखों के खेतों पर सुफ़ेद
    काँसों की झण्डी फहराती।[1]

प्रकृति के प्रति इस आत्मीयतापूर्ण दृष्टिपात के साथ प्रत्यक्षीकरण की क्रिया में एक संवेदनात्मक सच्चाई भी आ गयी है जो पहले नहीं थी। इसी के चलते जहाँ कवि ने 'तैलाक्त गन्ध' जैसी सूक्ष्म घ्राण-संवेदना का परिचय दिया है वहीं 'पीले अमरूदों में पड़ने वाली लाल-लाल चित्तियों' का भी साक्षात्कार कराया है। 'ग्रामीण नयन' की इस सहज यथार्थ-दृष्टि के द्वारा कुछ ऐसे बिम्बों की सृष्टि हुई है जो अपनी घनीभूत संवेदना के द्वारा पाठक के मन पर अचूक प्रभाव डालते हैं। काँपती हुई दीपक की लौ ग्राम्य जीवन की एक सुपरिचित झाँकी है। पर कविवर पंत की कल्पना ने उस में एक नया ही अर्थ ढूँढ़ निकाला है :

कँप-कँप उठते लौ के संग
    कातर उर क्रन्दन, मूक निराशा,
क्षीण ज्योति ने चुपके ज्यों
    गोपन मन को दे दी हो भाषा।[2]

यह चित्र गाँव के विषादमय वातावरण का एक अर्थगर्भ दृश्य-संकेत है। पर ग्राम्य वातावरण का एक मस्ती और उमंग वाला पक्ष भी होता है जिस की अभिव्यक्ति केदारनाथ अग्रवाल की कविता में हुई है। केदार ने बिम्बविधान की इस विशेष पद्धति को 'प्रकृति का किसानी चित्रण'[3] कहा है। वसन्ती हवा का एक सहज गत्वर बिम्ब देखिए :

हवा हूँ, हवा
मैं वसन्ती हवा हूँ।
चढ़ी पेड़ महुवा
थपाथप मचाया
गिरी धम्म से फिर,
चढ़ी आम ऊपर

---

१. ग्राम्या; पृ० ३५-३७.
२. वही; पृ० ६५.
३. युग की गंगा; पृ० ८ ग.

उसे भी झकोरा,
किया कान में कू।[1]

प्रकृति का मानवीकरण छायावादियों ने भी किया है। पर प्राकृतिक क्रिया-व्यापारों का इतना स्वाभाविक और अर्थपूर्ण मानवीकरण वहाँ दुर्लभ है। इस का कारण यह है कि इन कवियों ने जिन दृश्यों को संकलित किया है उन से इन का दीर्घकालीन संवेदनात्मक सम्बन्ध है। बचपन की सरल-अकृत्रिम स्मृतियों से सम्बद्ध होने के कारण इन प्राकृतिक बिम्बों में एक अद्‌भुत मनोवैज्ञानिक शक्ति है। पकी फ़सल का यह सांकेतिक बिम्ब देखिए :

सोना ही सोना छाया आकाश में
पश्चिम में सोने का सूरज डूबता,
पका रंग कंचन जैसे ताया हुआ,
भरे ज्वार के भुट्टे पक कर झुक गये।[2]

'झुक गये' क्रियापद के द्वारा सम्पूर्ण चित्र में एक सहज व्यंजकता आ गयी है जो प्रस्तुत अर्थ के अतिरिक्त अन्य दिशाओं में भी संकेत करती है। प्रगतिवादी काव्य के सर्वोत्तम प्राकृतिक बिम्बों में यह व्यंजकता किसी गहरे सामाजिक सन्दर्भ या वास्तविकता के किसी अछूते स्तर को उद्‌घाटित करती है। नागार्जुन का एक सीधा-सादा-सा चित्र है :

दाने आये घर के भीतर कई दिनों के बाद
धुँआ उठा आँगन के ऊपर कई दिनों के बाद
चमक उठीं घर भर की आँखें कई दिनों के बाद
कौए ने खुजलायीं पाँखें कई दिनों के बाद[3]

अन्तिम पंक्ति में कौए के पंख खुजलाने की क्रिया के द्वारा उस सारे आन्तरिक उल्लास को व्यक्त कर दिया गया है जो नये अन्न के घर में आने के पश्चात् एक किसान-परिवार में अनुभव किया जाता है। प्रगतिवादी काव्य-बिम्बों की एक बहुत बड़ी विशेषता है कि वे यथार्थ की सीमाओं का बहुत कम अतिक्रमण करते हैं। ऊपर जो उदाहरण दिये गये हैं उन से इस बात की पुष्टि होती है। पर सम्भवतः यही इन बिम्बों की सब से बड़ी सीमा भी है। वे प्रायः वस्तुगत स्थितियों और दैनिक अनुभव के स्थूल सत्यों तक ही पहुँचकर रह जाते हैं, मानव-जीवन की उच्चतर समस्याओं और जटिलताओं को प्रतिबिम्बित नहीं करते। परन्तु इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि प्रगतिवादियों ने प्रकृति को एक नयी दृष्टि से देखा और उस के विस्तृत क्षेत्र से ऐसे

---

१. युग की गंगा; पृ० १३.
२. तारसप्तक (रामविलास शर्मा); पृ० ६५.
३. सतरंगे पंखों वाली; पृ० ३०.

जीवन्त बिम्बों का संकलन किया जो पेड़-पत्ती, घास, फ़सल और मिट्टी-पानी की कथा कहने के साथ-साथ परम्परागत जीवन-संघर्ष की भी कथा कहते हैं।

ऐतिहासिक महत्त्व और कलागत सीमाएँ

प्रगतिवादी काव्य की पहली महत्त्वपूर्ण देन यह है कि उस ने मानवीय संवेदना के क्षेत्र का विस्तार किया और इस प्रकार जीवन के सभी पक्षों को अपने चित्रों, प्रतीकों और बिम्बों के माध्यम से प्रतिबिम्बित करने का प्रयास किया। विचार-प्रधान बिम्बों के द्वारा उस ने जीवन के प्रति अपने विशेष दृष्टिकोण को व्यक्त किया और प्राकृतिक बिम्बों के द्वारा बाह्य प्रकृति के साथ अपने परिवर्तित रागात्मक सम्बन्ध को। परन्तु प्रगतिवादी काव्य का एक गहन मानवतावादी पक्ष भी था जो इन दोनों प्रकार के बिम्बों के माध्यम से व्यक्त न हो सका। इस विशिष्ट मानवीय संवेदना की अभिव्यक्ति के लिए कुछ कवियों ने पारिवारिक जीवन के यथार्थ मार्मिक प्रसंगों को चुना। यह बिम्बविधान की दृष्टि से एक सर्वथा अछूता क्षेत्र था जिस का इन कवियों ने पहली बार उद्घाटन किया। फलस्वरूप हिन्दी-काव्य के क्षेत्र में सच्चे सामाजिक सम्बन्धों के गहनतम राग-तन्तुओं को झंकृत करने वाले कुछ ऐसे संवेदनात्मक बिम्बों का आगमन हुआ जो छायावादी कविता में दुर्लभ थे। भारतीय संस्कारों की गहन चेतना से छनकर निकला हुआ नागार्जुन का यह स्मृति-बिम्ब देखिए :

> घोर निर्जन में परिस्थिति ने दिया है डाल।
> याद आता तुम्हारा सिन्दूर-तिलकित भाल।[1]

'सिन्दूर तिलकित भाल' जैसे पवित्र सांस्कृतिक बिम्ब की कल्पना करने वाला कवि ही शिशु की 'दन्तुरित मुसकान' का यह चित्र भी दे सकता है :

> तुम्हारी यह दन्तुरित मुसकान
> मृतक में भी डाल देगी जान।[2]

ये और इस प्रकार के अन्य बिम्ब आधुनिक भावबोध के एक सर्वथा नये आयाम की सूचना देते हैं। प्रगतिवादी काव्य के बिम्बविधान का श्रेष्ठतम रूप इसी प्रकार के बिम्बों में पाया जाता है। पर सामूहिक जीवन की जटिल स्मृतियों और गहन संस्कारों से छन कर आने वाले ऐसे बिम्बों की संख्या अधिक नहीं है।

मानवीय संवेदना के विस्तार के साथ-साथ प्रगतिवादी काव्य ने भावबोध के क्षेत्र का भी विस्तार किया। हिन्दी-कविता को ग्राम्य अथवा वन्य प्रकृति की सुखद गोद से निकाल कर नागरिक जीवन की यथार्थभूमि पर लाने का श्रेय प्रगतिवाद को ही है। फलस्वरूप यन्त्रयुग की विशिष्टता को सूचित करने वाले कुछ ऐसे बिम्ब हिन्दी-कविता

---

१. सतरंगे पंखों वाली; पृ० ४६.
२. वही; पृ० ४६.

में पहली बार आये जो आधुनिक जीवन के अन्तःसंघर्ष, टूटन, निराशा और नीरसता को ध्वनित करते हैं। सच्चे अर्थ में आधुनिक काव्यात्मक बिम्बों का निर्माण इसी युग में आरम्भ हुआ। नगर का जीवन अनेक प्रकार के सम-विषम तत्त्वों से मिल कर गठित होता है। औद्योगिक विकास के कारण जहाँ एक ओर उस की समृद्धि बढ़ी है वहीं दूसरी ओर शोषण, निराशा और विघटनशील तत्त्वों में भी वृद्धि हुई है। सम्पूर्ण नागरिक जीवन, टी० एस० इलियट के शब्दों में, टूटे-बिखरे बिम्बों (ब्रोकेन इमेजेज़) का एक ढेर बन गया है। 'दो लड़के' शीर्षक कविता में पंतजी ने उन्हीं 'टूटे-बिखरे बिम्बों' को संकलित करने का प्रयास किया है :

वे चुन ले जाते कूड़े से निधियाँ सुन्दर—
सिगरेट के खाली डिब्बे, पन्नी चमकीली,
फ़ीतों के टुकड़े, तस्वीरें नीली-पीली
मासिक पत्रों के कवरों की.......[1]

इस पद्धति के द्वारा बिम्बयोजना की एक नयी शैली का प्रवर्तन हुआ, जिसे 'खण्डित बिम्बयोजना' की पद्धति कहा जा सकता है। इस प्रकार के बिम्बविधान में कवि वस्तु का कोई संश्लिष्ट रूप न खड़ा करके, केवल अलग-अलग विश्रृंखल बिम्बों के द्वारा किसी गहन अनुभूति को सम्प्रेषित करने का प्रयास करता है। बिम्बविधान की यह पद्धति इस विश्लेषण-प्रधान युग की संवेदना के अधिक निकट है। आधुनिक जीवन का एक स्तर वह भी है जहाँ पहुँच कर कवि को इस यन्त्रयुग के बढ़ते हुए दबाव और निरर्थकता का बोध होता है। नगर की जनता के 'अर्थहीन जीवन' का एक बिम्ब देखिए :

अधिकांश जनता का
रद्दी की टोकरी का जीवन है,
संज्ञाहीन, अर्थहीन
बेकार, चिरे-फटे टुकड़ों-सा पड़ा है।[2]

आधुनिक जीवन का एक बहुत बड़ा भाग औद्योगिक संस्थानों से सम्बद्ध है। प्रगतिवादी काव्य-दृष्टि ने कोयले की खान और कल-कारखानों के भीतर से भी कुछ ताज़े जीवन-बिम्बों को ढूँढ़ निकाला है। नागार्जुन ने हृष्ट-पुष्ट किशोर युवकों के लिए छापेख़ाने के भीतर एक नया उपमान पा लिया :

तरुणाई के ताजा टाइप थे वे मोनो।[3]

और रांगेय राघव ने रात की सघन कालिमा को व्यंजित करने के लिए कोयले की खान तक दृष्टि दौड़ायी :

---

१. युगवाणी; पृ० २७.
२. युग की गंगा; पृ० २३.
३. सतरंगे पंखों वाली; पृ० ६२.

कोयले की खान की मजदूरनी-सी रात।

ऊपर दिये हुए इन कुछ थोड़े से उदाहरणों के द्वारा आधुनिक हिन्दी-कविता के बिम्बविधान के विकास में प्रगतिवादी काव्य के मौलिक योगदान की ऐतिहासिकता को प्रमाणित करने का प्रयास किया गया है। वस्तुतः इसी दृष्टि से विचार करने पर उस के योगदान के साथ न्याय किया भी जा सकता है। यदि कलात्मक क्षमता और संवेदनात्मक गहराई की दृष्टि से विचार करें तो प्रगतिवादी काव्य के बिम्ब एक सीमा तक सतही और सपाट-से दिखाई पड़ सकते हैं। ऐन्द्रियबोध की वह विविधता उस में नहीं है, जो छायावादी काव्य में पायी जाती है। विभिन्न ऐन्द्रियबोधों के सम्मिश्रण अथवा विरोध के द्वारा संवेदना के जटिल स्तरों को खोलने का प्रयास भी कहीं नहीं किया गया है। सम्पूर्ण प्रगतिवादी काव्य में मिश्रित (कॅम्पाउण्ड) अथवा जटिल (कॉम्प्लेक्स) बिम्ब एक भी नहीं मिलेगा। यह प्रगतिवादी कल्पना के संकोच का सूचक है। स्पष्टता, यथातथ्यता और अनगढ़ता—प्रगतिवादी काव्य-बिम्बों के ये कुछ सामान्य लक्षण हैं। इसी लिए इन में न तो छायावादी काव्य का-सा एक ही बिम्ब के भीतर अनेक बिम्ब-वृत्तों की योजना का प्रयास है न ही दोहरी-तिहरी अर्थच्छायाओं का। कवि के कथ्य का जो सब से सहज-संवेद्य अंश होता है, ये बिम्ब केवल उसी को रूपायित करते हैं। पर न तो मानव-मन ही इतना सहज-सरल होता है न ही उस के सब से निचले स्तर में निरन्तर उभरते-मिटते रहने वाले कल्पना-चित्र ही इतने स्पष्ट और सहजबोध-गम्य होते हैं। इन अज्ञात रूप से बनते-मिटते रहने वाले बिम्बों के भीतर एक सूक्ष्म स्मृति-तन्तु होता है जो चेतन स्तर पर लाने से पहले ही टूट जाता है। कवि-कल्पना प्रज्ञा अथवा सहज चेतना के सहारे उन्हीं टूटी हुई कड़ियों की खोज करती है। वस्तुतः काव्यात्मक बिम्बविधान इसी कलात्मक खोज का परिणाम होता है। प्रगतिवादी काव्य की निर्माण प्रक्रिया इस के सर्वथा भिन्न है। वहाँ प्रत्येक बिम्ब पहले विचार अथवा चेतना के स्तर पर आकार ग्रहण करता है। फिर उसी चेतन कृति-शक्ति के द्वारा अन्य बिम्बों के साथ उस का सम्बन्ध भी स्थापित किया जाता है। परिणाम यह होता है कि उन बुद्धि-प्रेरित बिम्बों का कोई संवेदनात्मक साँचा (पैटर्न) बन ही नहीं पाता। इस संवेदनात्मक साँचे के अभाव में प्रगतिवादी काव्य के अधिकांश बिम्ब पूर्ण कलात्मक बिम्ब की स्थिति तक पहुँच ही नहीं पाते। इस से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रगतिवाद ने केवल बिम्बविधान के क्षेत्र का विस्तार किया, उस के कलात्मक स्वरूप को विकसित और समृद्ध करने की दिशा में उस ने अपेक्षाकृत कम प्रयास किया।

[ख] प्रयोग और बिम्ब

ऐतिहासिक दृष्टि से प्रयोगवाद का जन्म छायावाद की सूक्ष्मतावादी मनोवृत्ति, अमूर्त-भाव-पद्धति, और स्फीत काव्य-पदावली की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था। जिस प्रकार प्रगतिवाद छायावादी जीवन-दर्शन की एकांगिता के विरुद्ध एक सुनियोजित प्रतिक्रिया के रूप में आया था उसी प्रकार प्रयोगवाद का आगमन भी छायावादी भाषा-शैली और स्वच्छन्द कल्पना के विरुद्ध एक आधुनिकता-मूलक मध्यवर्गीय साहित्यिक आन्दोलन के रूप में हुआ था। परन्तु व्यापक दृष्टि से देखने पर इन दोनों काव्य-आन्दोलनों के भीतर एक आधारभूत समानता भी थी। काव्यगत अमूर्तता (ऐब्स्ट्रैक्शन) के विरोधी दोनों थे और भाव-स्फीत आदर्शवाद तथा असीम और अनन्त-परक सार्वभौम अनुभूतियों को दोनों ने यथार्थ-विरोधी घोषित किया। पर जीवन-दृष्टि और रचना-प्रक्रिया के स्तर पर दोनों का विकास दो दिशाओं में हुआ। सामाजिक मूल्यों पर अधिक बल देने के कारण प्रगतिवाद का विकास मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की दिशा में हुआ और मानव-जीवन के आन्तरिक मूल्यों पर बल देने के कारण प्रयोगवाद का फ्रॉएड और युंग की मनोवैज्ञानिक खोजों की दिशा में। प्रगतिवादी काव्य के द्वारा यदि निम्न-मध्य वर्ग की आशा, आकांक्षा, आक्रोश तथा असन्तोष की अभिव्यक्ति हुई तो प्रयोगवादी काव्य में आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से अनुप्राणित शिक्षित भारतीय युवक की अनास्था, सन्देह और अनिश्चित मनोदशा की। प्रयोग की यह प्रवृत्ति दूसरे महायुद्ध से पूर्व ही दिखाई देने लगी थी। पर उसे एक सुनियोजित 'वाद' या काव्य-सिद्धान्त का रूप सन् १९४३ में ही मिला—'तार सप्तक'[1] के प्रकाशन के साथ। ये कवि अभिव्यक्ति की समस्याओं के प्रति अत्यधिक जागरूक थे और वस्तुतः संवेदना का यही एक बिन्दु था जहाँ वे विभिन्न दिशाओं से आ मिले थे। जैसा कि इस दल के प्रवर्तक श्री अज्ञेय ने स्वीकार किया है, "प्रगतिवादी सम्प्रदाय के कवियों में से कुछ को काव्य की अथवा अभिव्यक्ति की समस्याओं का बोध था। किन्तु अपने मुख्य (आर्थिक) आग्रह के कारण वे उधर को ही झुक गये और अभिव्यक्ति की समस्याएँ उन के निकट नगण्य नहीं तो गौण अवश्य हो गयीं।"[2]

---

१. सम्पादक 'अज्ञेय' तथा संग्रहीत कवि मुक्तिबोध, नेमिचन्द्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल, गिरिजाकुमार माथुर, रामविलास शर्मा, प्रभाकर माचवे और अज्ञेय।

२. आज का भारतीय साहित्य; पृ० ३९९.

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि प्रयोगवाद का जन्म जिस मानसिक संघर्ष के फलस्वरूप हुआ था उस का सीधा सम्बन्ध साहित्येतर समस्याओं से कम और काव्य की तत्कालीन निजी समस्याओं से अधिक था। वह एक प्रकार का कलागत संघर्ष था जिस की उत्पत्ति परम्परागत साहित्यिक मूल्यों की टकराहट से हुई थी। इस में सन्देह नहीं कि अभिव्यक्ति की निजी समस्या के साथ उस युग की अनेक सामाजिक और नैतिक समस्याएँ भी जुड़ी हुई थीं। पर मूलतः वह जिन समस्याओं का समाधान ढूँढ़ने चला था वे उस की अपनी रचनागत उलझनों, रुकावटों और सन्देहों से अधिक सम्बन्ध रखती थीं। वह जिस 'राह का अन्वेषण' कर रहा था, वह शब्दों, लयों, प्रतीकों और बिम्बों के बीच से हो कर गयी थी, प्रत्यक्ष जीवन के खुले विस्तार से हो कर नहीं। लग-भग एक पूरे दशक तक आधुनिक कवियों की इस प्रयोगात्मक वृत्ति ने हिन्दी-कविता की उन रूढ़ियों के विरुद्ध संघर्ष किया जो आधुनिक जीवन की गहन-जटिल अनुभूतियों की मूर्त अभिव्यक्ति में बाधक सिद्ध हो रही थी। छायावाद की उत्तरकालीन अलंकृति और प्रगतिवाद की खल्वाट काव्यपद्धति ने हिन्दी कविता के विकास के सामने जो प्रश्न उप-स्थित किये थे, प्रयोगवाद उन्हीं प्रश्नों के दायित्व को लेकर सामने आया था।

> कहा जाता है कि प्रयोगशीलता प्रत्येक युग की कविता का स्वाभाविक धर्म है। परन्तु आधुनिक युग में इस 'प्रयोग' शब्द को एक विशेष दार्शनिक अर्थ दे दिया गया है, जिस की पृष्ठ-भूमि को समझ लेना आवश्यक है। यों तो इस प्रत्यक्ष अनुभववादी युग के प्रत्येक ज्ञान का मूलाधार 'प्रयोग' ही है, परन्तु साहित्य के क्षेत्र में 'प्रयोग' (एक्सपेरि-मेण्ट) शब्द का आयात विज्ञान के क्षेत्र से न हो कर चित्रकला के क्षेत्र से हुआ था। 'प्रयोग' के साथ ही साथ प्रयोगवादियों ने 'अन्वेषण' शब्द का भी प्रायः उल्लेख किया है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ये दोनों शब्द युरॅपीय चित्रकला के क्षेत्र में बहु-प्रचलित थे। सर हरबर्ट रीड के अनुसार 'एक्सपेरिमेण्ट' शब्द का विशिष्ट आधुनिक अर्थ में सर्वप्रथम प्रयोग प्रसिद्ध अँगरेज़ कलाकार कॉन्स्टेबल ने जून १८३६ में दिये गये अपने एक भाषण में किया था :[१]
>
> "Why, then may not landscape be considered as a branch of natural philosophy, of which pictures are but experiments."

इस प्रयोगमूलक चेतना के साथ चित्रकला के क्षेत्र में आधुनिक-युग का आरम्भ हुआ था। इसी प्रकार 'रिसर्च' (अन्वेषण) शब्द का प्रथम ऐतिहासिक प्रयोग आधु-निक कला के आदि-प्रवर्तक कलाकार सेज़ाँ ने किया था—अपने एक प्रसिद्ध पत्र में।

---

१. *The Philosophy Of Modern Art*; 17.

[ख] प्रयोग और बिम्ब

सेज़ाँ ने प्रेषणीयता की जिस मूलभूत समस्या से विवश हो कर कला के क्षेत्र में नये अन्वेषण की आवश्यकता को अनुभव किया था वह प्रयोगवादियों की अन्वेषण-वृत्ति के बहुत समीप है :

> "The only thing that is really difficult is to prove what one believes. So I am going on with my researches."[1]

रीड ने इस कथन की व्याख्या करते हुए यह स्थापित किया है कि कला के क्षेत्र में होने वाले इन सारे प्रयोगों और अन्वेषणों का सम्बन्ध किसी सार्वभौम अमूर्त सत्य से नहीं, बल्कि ठोस वस्तु अथवा उस के बिम्ब से था और अपनी इस खोज के माध्यम से उस युग के कलाकार वस्तुतः कला और यथार्थ की सहसम्बद्धता (कोरिलेशन) को प्रमाणित करने का प्रयास कर रहे थे। प्रश्न यह है कि साहित्य में प्रयोग अथवा अन्वेषण की आवश्यकता क्यों पड़ती है ? सामान्यतः इस के तीन कारण हो सकते हैं। पहला : काव्य के शब्द और मुहाविरे बहुत दिनों तक घिसते-घिसते अर्थकृष्ट और अमूर्त हो जाते हैं। दूसरा : हर नयी काव्य-प्रवृत्ति अपने चरमोत्कर्ष तक पहुँचते-पहुँचते अपनी समस्त कलागत सम्भावनाएँ खो देती है। अतः नयी दिशा का अन्वेषण करना दोनों ही स्थितियों में आवश्यक हो जाता है। एक तीसरा कारण भी है जिस का सम्बन्ध युग के बदलते हुए मूल्यों से है। पुराने मूल्य जब अनावश्यक समझ कर छोड़ दिये जाते हैं तो नये मूल्यों की प्रतिष्ठा का प्रश्न कलाकार के सामने उपस्थित होता है। वह यथार्थ के नये आयामों और मनुष्य तथा उस के परिवेश के बीच नये अनुबन्ध-सूत्रों की खोज कर के जीवन और सौन्दर्य के नये मूल्यों की प्रतिष्ठा करता है। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् युरॅप के कवियों और लेखकों को एक विचित्र प्रकार के सांस्कृतिक संकट का सामना करना पड़ा। पुरानी मान्यताएँ छिन्न-भिन्न हो गयीं। व्यक्ति और व्यक्ति के बीच भावात्मक आदान-प्रदान का जो [illegible] होता है, वह महायुद्ध के झटके से सहसा टूट गया। ऐसी स्थिति में वहाँ के कवियों ने अपने पूर्ववर्ती रॅमैण्टिक काव्य की सौन्दर्य और आस्था से उल्लसित भावना को युग की वस्तुगत संवेदना से विच्छिन्न अनुभव किया। अतः नयी युग-संवेदना को अभिव्यक्ति देने के लिए यह आवश्यक हो गया कि सम्प्रेषण के नये माध्यमों की खोज की जाये। और इस खोज के अन्तिम परिणाम तक पहुँचने के लिए यह आवश्यक था कि हर नयी खोज को प्रयोग की निर्मम कसौटी पर कस लिया जाये। आधुनिक अँगरेज़ी काव्य में प्रयोग की परम्परा का आरम्भ प्रथम महायुद्ध के बाद ही हुआ जिस का सर्वोत्तम रूप इलियट, एज़रा पाउण्ड और जेम्स जॉएस की कृतियों में देखा जाता है।

हिन्दी के आरम्भिक प्रयोगवादी काव्य पर इन सभी साहित्यकारों का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष प्रभाव देखा जा सकता है। इस का मूलकारण है दोनों की सामाजिक और

---

१. *The Philosophy Of Modern Art*; 17.

मनोवैज्ञानिक स्थिति की समानता। 'तारसप्तक' के वक्तव्यों का यदि ठीक से अध्ययन किया जाये तो पता चलेगा कि अँगरेज़ी के आरम्भिक बिम्बवादी कवियों (जिन में हुल्मे और एज़रा पाउण्ड के अतिरिक्त आरम्भिक इलियट के कृतित्व की भी गणना होती है) और हिन्दी के तारसप्तक-कालीन प्रयोगवादी कवियों के सम्मुख लगभग एक-सी समस्याएँ थीं। जिस प्रकार बिम्बवादियों को साहित्यिक धरोहर के रूप में रॅमैण्टिक काव्य की भावात्मक स्फीति और वायवीय कल्पनाशीलता मिली थी, उसी प्रकार प्रयोगवादियों को छायावादी काव्य की अमूर्त सौन्दर्य-भावना और 'अलंकृत संगीत'। परन्तु यह परम्परा की धरोहर ही उन के लिए सब से बड़ी बाधा थी। एक ऐसे अनिश्चित और खोखले वातावरण में, जब सारे बौद्धिक और सौन्दर्यबोधात्मक मूल्य सन्दिग्ध हो उठे थे, यदि कुछ भी निश्चित था तो कवि का ऐन्द्रियबोध। अतः उस युग के कवियों ने सौन्दर्य और आदर्श की बड़ी-बड़ी बातों को कुछ देर के लिए छोड़ कर अपने संवेदनशील मन पर पड़े हुए ऐन्द्रिय प्रभावों को ही चित्रबद्ध करना आरम्भ कर दिया। फलतः बिम्बवाद का आगमन हुआ। प्रयोगवाद का विकास भी लगभग इन्हीं परिस्थितियों में हुआ। द्वितीय महायुद्ध के बाद का सामाजिक अनिश्चय और मूल्यगत संक्रमण की स्थिति उस के सम्मुख भी थी। सौन्दर्य तथा सत्य के पुराने मान उस के निकट भी सन्दिग्ध हो उठे थे। कदाचित् साहित्य के इतिहास में जब कभी ऐसी संक्रान्ति की स्थिति आती है तो कवि बाह्य चर्चाओं को छोड़ कर एकमात्र अपने ऐन्द्रियबोध पर ही विश्वास करने के लिए विवश होता है। प्रयोगवादी कवियों के साथ भी ऐसा ही हुआ। उन्होंने अनास्था और सन्देह के उस अवसन्न वातावरण में अपने मन पर पड़े हुए प्रत्यक्ष ऐन्द्रिय प्रभावों को काव्यात्मक अभिव्यक्ति देना आरम्भ कर दिया। इस के बाद उन के सम्मुख एक दूसरी समस्या उपस्थित हुई, जिसे 'तारसप्तक' के एक कवि के शब्दों में इस प्रकार रख सकते हैं :

> कुछ अनुभव करते प्राण
> किन्तु अभिव्यक्ति अन्य ही कुछ देती है उसे गिरा।[१]

वस्तुतः 'प्रयोग' का सीधा सम्बन्ध इसी समस्या से था। यद्यपि 'अज्ञेय' ने 'प्रयोगवाद' की मूल प्रवृत्ति की व्याख्या करते हुए उसे व्यक्तित्व की खोज की समस्या के साथ जोड़ने का प्रयास किया है।[२] पर यह उस के बाद के विकास की दिशा है। आरम्भ में उस के सम्मुख प्रेषणीयता (कॅम्यूनिकेशन) की समस्या ही प्रमुख थी। इस के लिए आवश्यक था कि कविता की परम्परागत बिम्बविधान-शैली में अभूतपूर्व परिवर्तन किया जाये। 'तारसप्तक' के वक्तव्य में प्रभाकर माचवे ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि 'नवोन्मेष से विस्फूर्जित और उत्सेकित कल्पना की हिन्दी कविता में कमी है' और यह कि "हमारी कविता में पाये जाने वाले अधिकांश बिम्ब बच्चों के-से निरे

---

१. तारसप्तक; पृ० ३३.
२. आज का भारतीय साहित्य; पृ० ३६६.

शाब्दिक, सहस्मृत या परम्परागत होते हैं।" माचवे ने दृढ़तापूर्वक इस मत की स्थापना की कि "इन सहस्मृत और परम्परागत बिम्बों के बजाय हमें राग और ज्ञान से पूरित, ऐन्द्रेयिक, आवेगाश्रित और अभिजात 'इमेजेज़' की सृष्टि करना है।"[1] जहाँ तक मुझे ज्ञात है आधुनिक हिन्दी कविता के सन्दर्भ मे 'बिम्ब' अथवा 'इमेज' का यहाँ पहली बार उल्लेख किया गया है। आचार्य शुक्ल ने जब बिम्बग्रहण की चर्चा की थी तो उन का अभिप्राय प्राचीन कविता के संश्लिष्ट प्रकृति-चित्रण की पद्धति से था। इस दृष्टि से माचवे का उपर्युक्त कथन ऐतिहासिक महत्त्व रखता है और प्रयोगवादी कवियों के काव्य-गत बिम्ब की सत्ता के प्रति जागरूक होने का प्रमाण उपस्थित करता है। परम्परागत बिम्बों से उन का तात्पर्य सम्भवतः ऐसे बिम्बों से था जिन का निर्माण स्थूल तुलना-मूलक प्रतीतियों (कॅन्सेप्ट्स) के आधार पर होता था। प्रयोगवादी कवि इस के विप-रीत ऐसे बिम्बों की खोज कर रहा था जो 'राग' और 'ज्ञान' दोनों से पूरित हों। दूसरे शब्दों में वह ऐसे बिम्बों की तलाश में था जो अनुभव और चिन्तन—ऐन्द्रिय चेतना और विचार-प्रक्रिया—दोनों की संश्लिष्ट इकाई हों। यह और बात है कि आगे चल कर ऐन्द्रिय चेतना गौण हो गयी और चिन्तन-पक्ष अथवा बौद्धिकता प्रधान हो उठी। परिणाम यह हुआ कि काव्यगत बिम्बों का आकलन विशुद्ध ऐन्द्रिय स्तर पर न हो कर, फ़ॉएड और ऐड्लर के सिद्धान्त-संकेतों के आधार पर होने लगा। पर इस तथ्य को अस्वीकार नही किया जा सकता कि प्रयोगवाद ने छायावाद की अमूर्तता के विरुद्ध सर्व-प्रथम विद्रोह किया और उस के स्थान पर काव्य में प्रत्यक्ष, मूर्त और घनीभूत अनुभू-तियों का महत्त्व स्थापित किया।

प्रयोगवाद की सब से महत्त्वपूर्ण देन यह है कि उस ने हमारे भीतर आधुनिक मानव-मन की द्विधा, उस के भीतर के रहस्यमय एकान्त और अनुभव-चिन्तन की विभिन्न दिशाओं का प्रत्यक्ष बोध जगाया। उस ने काव्य के सहृदय को पहले-पहल वह आधुनिक मनोवैज्ञानिक दृष्टि दी जो व्यक्ति को उस के रागात्मक परिवेश की सापेक्षता में देखती है। इस के लिए उसे भाषा की परम्परागत व्यवस्था में बहुत बड़ा व्यतिक्रम लाना पड़ा। शब्दों के अतिरिक्त लिपिबद्ध भाषा के जो अन्य बहुत से उपकरण होते हैं—जैसे बिन्दु, विराम, कोष्ठक और शब्दों के बीच का रिक्त स्थान—उन सब का कलात्मक उपयोग किया गया। फलस्वरूप एक ऐसी प्रतीकात्मक भाषा का जन्म हुआ जो यन्त्र-युगीन मानव-मन की परस्पर-स्पर्शी अनुभूतियों को सम्प्रेषित करने में पूर्णतः समर्थ थी। अतः हम कह सकते हैं कि यन्त्र-युग की आवश्यकताओं के अनुकूल जिस प्रकार की लचीली और संवेदनक्षम भाषा अपेक्षित थी वैसी भाषा का प्रारूप पहले-पहल प्रयोगवाद ने ही उपस्थित किया। यह नये बिम्बविधान की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण प्रयास था।

---

१. तारसप्तक; पृ० ४२.

यन्त्र-युग की कविता : संवेदना का नया स्तर

प्रयोगवादी कविता के बिम्बविधान की जो विशिष्टता सब से पहले पाठक का ध्यान आकृष्ट करती है वह है उस की आधुनिकता। यहाँ 'आधुनिकता' से क्या तात्पर्य है यह समझ लेना आवश्यक है। एक विशेष अर्थ में प्रगतिवादी कविता में भी यह आधुनिकता थी। पर मूलतः बहिर्मुखी होने के कारण उस में आधुनिक जीवन की आन्तरिक वास्तविकता (नैतिक अनास्था, विक्षोभ, प्रश्नाकुलता, टूटन और निरुद्देश्य जीवन-संघर्ष) का चित्रण नहीं मिलता और स्पष्ट शब्दों में कहें तो आधुनिकता का बोध कोई आरोपित सिद्धान्त न हो कर एक विशिष्ट संवेदना है जो वस्तु के प्रति स्वयं की और स्वयं के प्रति वस्तु की मिली-जुली ऐन्द्रिय चेतना के द्वारा निर्मित होती है। आधुनिक बोध जीवन के प्रति एक समग्र बोध है जिस के तीन स्तर हैं। पहला स्तर विशुद्ध अनुभव का स्तर है, दूसरा सापेक्ष अनुभव का, और तीसरा उस सम्पूर्ण अनुभूत यथार्थ की विकास-दिशा अर्थात् काल के आयाम में उस की गतिशील सत्ता के अनुभव का स्तर है। आरम्भिक प्रयोगवादी कविता आधुनिकता के केवल पहले स्तर के प्रति ही जागरूक दिखाई देती है। शेष दो उच्चतर स्वरों की चेतना उस में अपेक्षाकृत कम पायी जाती है।

अब आधुनिक बोध से हमारा तात्पर्य क्या है, इसे समझ लें। वस्तुतः यह बदले हुए मानवीय परिवेश के बोध का ही दूसरा नाम है जिसे यान्त्रिक सभ्यता के विकास के फलस्वरूप मानव की मूलवृत्तियों के भीतर होने वाले विक्षोभ की अनुभूति भी कह सकते हैं। प्रयोगवाद ने इस 'विक्षोभ' को फ्रॉएड के मनोविश्लेषणात्मक सूत्रों के आधार पर समझने का प्रयास किया था, इस लिए उस ने अनिवार्यतः उस का सम्बन्ध मनुष्य की अवदमित काम-वृत्ति के साथ स्थापित किया। अज्ञेय ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया कि "आज के मानव का मन यौन-परिकल्पनाओं से लदा हुआ है और कल्पनाएँ सब दमित और कुण्ठित हैं। उस की सौन्दर्य चेतना भी इस से आक्रान्त है। उस के उपमान सब यौन-प्रतीकार्थ रखते हैं।"[1] इस प्रकार प्रयोगवाद ने आधुनिक मानव के उस आन्तरिक विक्षोभ को एक सीमित अर्थ में ग्रहण किया। परिणाम यह हुआ कि छायावादोत्तर हिन्दी-कविता का विकास जिस स्वाभाविक दिशा में होना चाहिए था उधर न हो कर बौद्धिक व्याख्याओं और धारणात्मक प्रतीकों (कॅन्सेप्च्युअल सिम्बॅल्स) की दिशा में हुआ। आगे चल कर नयी कविता के आगमन के साथ इस स्थिति में परिवर्तन हुआ।

आरम्भ में यन्त्र-युगीन सांस्कृतिक विपर्यय का बोध बौद्धिक अधिक था, प्रत्यक्ष ऐन्द्रिय चेतना के रूप में कम। इसी लिए कवियों ने अपने वक्तव्यों में यन्त्र-युग की बदलती हुई परिस्थितियों का चाहे जितना उल्लेख किया हो, पर उन की कविता के बिम्बविधान पर मशीनी सभ्यता की छाप स्वल्पतम है। केवल साइरेन की आवाज,[2] रेडियम की छाया[3], सबमेरीन सिन्धुवाहिनी,[4] और 'योजनान्त टैंक'[5] जैसे कुछ नये मुहा-

---

१. तारसप्तक; पृ० ७६.
२, ३, ४, ५. वही; पृ० २७, ४२, ५७.

घिरे ही यान्त्रिक वातावरण का आभास देते हैं। तात्पर्य यह कि प्रयोगवादी कवियों ने विज्ञान-युग के विराट् ऐतिहासिक परिवर्तन की प्रक्रिया को केवल अपनी वैयक्तिक चेतना के स्तर पर ग्रहण किया था जो बहुत कुछ फ्रॉएड के सिद्धान्त के आधार पर निर्धारित हुआ था। निस्सन्देह संवेदना का यह एक नया स्तर था। पर जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यह सब से पहला और ऊपरी स्तर था। प्रयोगवादी कविता के बिम्बविधान पर इस का प्रभाव यह पड़ा कि वह अधिकाधिक आत्म-केन्द्रित हो गया। आत्माभिव्यंजक और अपनी ही मानसिक ग्रन्थियों को खोलने वाले बिम्ब उपचेतन की अँधेरी गुफाओं से ढूँढ़-ढूँढ़ कर लाये जाने लगे। इस प्रकार एक नयी बिम्बविधान की शैली का जन्म हुआ जिस का आधार बना आधुनिक जीवन और मूलस्रोत बना मानव का अज्ञात गहन उपचेतन मन।

संवेदनात्मक बिम्ब

अन्तश्चेतना के गहन-गुम्फित बिम्बों का मोह छोड़ कर इन कवियों ने जहाँ प्रत्यक्ष ऐन्द्रिय प्रभावों को चित्रबद्ध करने का प्रयास किया है वहाँ इन को अधिक सफलता मिली है। 'अज्ञेय' के अतिरिक्त इस क्षेत्र में गिरिजाकुमार माथुर के बिम्बात्मक प्रयोग रूपविधान की एक नयी दिशा का संकेत देते हैं। छायावादी कवियों में रंगों, ध्वनियों और वातावरण के सूक्ष्म परिवर्तनों की जैसी सच्ची और कोमल संवेदना सुमित्रानन्दन पंत की कविता में पायी जाती है, एक भिन्न स्तर पर वैसी ही संवेदनात्मक क्षमता गिरिजाकुमार माथुर की काव्य-कृतियों में भी पायी जाती है। वर्णों और ध्वनियों के उन्होंने अनेक प्रयोग किये हैं और अनुभूति की तीव्रता, गहराई और विस्तार के अनुसार शब्दों की ध्वनियों और उच्चारण की पद्धतियों में भी परिवर्तन किया है। जैसे प्रसिद्ध प्रतीकवादी कवि रिम्बो ने रोमन वर्णमाला के स्वरों के मूलभूत वर्णों (कलस) का आविष्कार किया था, बहुत कुछ वैसे ही माथुर ने भी हिन्दी वर्ण-माला के विभिन्न स्वरों के ध्वन्यात्मक प्रभाव के आकार पर उन की गहराई, ऊँचाई, विस्तार और गति इत्यादि का प्रत्यक्ष आधार ढूढ़ निकाला है।[1] तात्पर्य यह कि उन्होंने बिम्ब को मूर्त और प्रत्यक्ष बनाने के लिए केवल दृश्य वस्तुओं का ही सहारा नहीं लिया है, बल्कि प्रभाव को तीव्र करने के लिए प्रायः ध्वनि-संकेतों का प्रयोग किया है :

> गूँजता था सूनसान
> ऊजड़ खँडेरों में
> गिरते थे पत्ते।[2]

कवि के अनुसार सन्नाटे के इस भाव को व्यक्त करने के लिए 'शून्यता', 'सूनापन', 'सुनसान' आदि शब्द ध्वनि की दृष्टि से निर्बल प्रतीत हुए। 'सूनसान' शब्द

---

१. तारसप्तक; पृ० ४१.

२. वही; पृ० ४३.

में दो स्वर हैं 'ऊ' और 'आ' जो क्रमशः लम्बाई और विस्तार के सूचक हैं। इसी प्रकार 'खँडेरों' में जो 'ए' ध्वनि का आगम हुआ है वह ऊर्ध्व गति अथवा ऊँचाई को व्यंजित करता है। ध्वनि के इन विविध कोणों से मिल कर सूनेपन का एक पूरा बिम्ब खड़ा होता है। पर यह प्रश्न फिर भी रह ही जाता है कि कवि ने विभिन्न ध्वनि-संकेतों से जो अर्थ ग्रहण किया है वह पाठक के मन में तदनुरूप ध्वनि-चित्र जगा पाता है अथवा नहीं? इस के सम्बन्ध में कोई एक उत्तर सम्भवतः दिया भी नहीं जा सकता। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति की संवेदन-क्षमता एक-सी नहीं होती।

यह 'सूनसान' अथवा सन्नाटा का भाव गिरिजाकुमार माथुर के बिम्बों का केन्द्रीय भाव है जो अनेक रूपों में व्यक्त हुआ है। कदाचित् इसी लिए उन्हें प्रत्यक्ष ऐन्द्रिय बिम्बों की अपेक्षा "हलके रंगों की छाँहों के आवरण में लिपटे हुए" बिम्ब अधिक पसन्द हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से यह छायावादी रूमानियत का ही एक रूप है जो एक भिन्न परिवेश में, भिन्न रूपाकार के द्वारा, व्यक्त हुआ है। इसी प्रकार छायावादी कविता के बिम्बधर्मी विशेषणों का भी आधुनिक विकास माथुर की कविता में देखा जा सकता है। पतला नभ, रेशमी छाँहें, नींदभरी किरन, बोझिल उजियाला, थकी उदासी, आदिम छाँहें, घूमते स्वर आदि विशेषण-विपर्यय छायावाद की लाक्षणिक शैली की ही याद दिलाते हैं; यद्यपि इस तथ्य को नहीं भुलाया जा सकता कि ये चित्र जिस मध्यवर्गीय पृष्ठ-भूमि को उद्घाटित करते हैं वह छायावाद की सार्वभौम सौन्दर्य-दृष्टि से सर्वथा भिन्न है। माथुर के बिम्ब पाठक के मन पर आघात नहीं करते। उन में एक स्थितिशीलता है, जो 'स्टिल पेण्टिंग' के गुणों को लिये हुए हैं। वातावरण का एक स्थिर चित्र देखिए :

> दूर-दूर के छाँह-भरे सुनसान पथों में
> चलने की आहट ओले-सी जमी पड़ी थी,
> भूरे पेड़ों का कम्पन भी ठिठुर गया था,
> कभी-कभी बस
> पतझर का सूखा पत्ता गिर कर उड़ जाता
> मरे स्वरों-सा खर-खर करता।[1]

ये चित्र युद्धोत्तर मानसिक विषाद के केवल ऊपरी स्तर को व्यक्त करते हैं। तत्कालीन यथार्थ की आन्तरिक अव्यवस्था को व्यंजित करने वाले बिम्ब 'अज्ञेय' और 'तारसप्तक' के कुछ अन्य कवियों में मिल सकते हैं। इन कवियों के विशेषण अपने युग की विशिष्ट मनोदशा की सूचना देते हैं। प्रकृति का सौन्दर्य इन्हें भी छूता है, पर एक भिन्न स्तर पर। प्रभात बेला इन्हें सुखद तो लगती है, पर एक 'अटपटेपन' के साथ :

---

१. तारसप्तक; पृ० ४२-४३.

क्षणिक, मीठी, अटपटी यह सुखद बेला
रात के उन भय-भरे ऊबे पलों से
है नितान्त विभिन्न।[1]

'मीठी' और 'सुखद' के साथ 'अटपटी' विशेषण का प्रयोग आधुनिक संवेदना के एक नये आयाम का सूचक है जो वस्तुतः उस युग की सन्दिग्ध मनःस्थिति का ही प्रतिबिम्ब है। यह वास्तविकता की नयी संवेदना ही थी जो छायावाद के प्रवाह-च्युत उपमानों और रूमानियत के धूमिल वातावरण से निकल कर नये जीवन-बिम्बों की खोज कर रही थी। फलतः आधुनिक बिम्बविधान की वह विशिष्ट शैली सामने आयी जिसे अन्य किसी नाम के अभाव में 'बिम्बगत प्रतिस्थापन' (जक्स्टापॅज़िशन ऑव इमेजेज़) शैली के नाम से अभिहित कर सकते हैं। नेमिचन्द्र जैन की इन पंक्तियों में इस शैली का आरम्भिक रूप देखा जा सकता है :

हड्डियों को भेद कर कँपकँपी जो उत्पन्न कर दे
उस भयानक शीतबेला में
तुम्हारी याद, प्रिय
पत्तियों पर बस गयी हिम की सतह-सी।[2]

'हड्डियों को कँपाने वाली शीत बेला और उस में प्रेयसी की सुखद याद—दो अनुभूतियों का यह आकस्मिक विरोध ही कवि के तथ्य को मूर्त बनाने में सहायक हुआ है। आधुनिक कविता में बौद्धिक आघात (इण्टेलेक्च्युअल शॉक) देने के लिए इस शैली का प्रयोग सब से अधिक किया गया है। पर 'बिम्बगत प्रतिस्थापन' के लिए यह आवश्यक नहीं है कि एक बिम्ब के पार्श्व में उस के ठीक विरोधी बिम्ब को ही प्रतिस्थापित किया जाये। सामान्यतः किन्हीं भी दो भिन्न देशी और भिन्नधर्मा बिम्बों को आसपास रख कर क्षणिक बौद्धिक आघात उत्पन्न किया जा सकता है। आवश्यक केवल इतना है कि वे दोनों बिम्ब जीवन की किसी अन्तर्निहित विषमता अथवा अलगाव की दोहरी चेतना की ऐन्द्रिय सृष्टि हों।

मुक्त अनुषंग-पद्धति : खण्डित बिम्बयोजना

कुछ पश्चिमी आलोचकों के अनुसार बीसवीं शताब्दी की कविता के रूपविधान को जिस विचारधारा ने सब से अधिक प्रभावित किया है वह है फ़ॉएड का उपचेतन-सिद्धान्त। फ़ॉएड के अनुसार व्यक्ति का उपचेतन-मन उस की समस्त ज्ञात-अज्ञात स्मृतियों, ऐन्द्रिय-चेतनाओं और स्वप्न-बिम्बों का कोश होता है। ये उपचेतनगत बिम्ब मूलतः मनुष्य की काम-मूलक वृत्ति से सम्बद्ध और विस्फूर्जित होते हैं। फ़ॉएड का कहना है कि यह काम-वृत्ति अनेक रूपों में और अनेक माध्यमों से निरन्तर अपने को

---

१. तारसप्तक; पृ० ३८.
२. वही; पृ० २७.

व्यक्त करने का प्रयास करती है। परन्तु बाह्य नैतिक और सामाजिक वर्जनाओं के भय से चेतन मन उन की स्वच्छन्द अभिव्यक्ति में बाधक होता है। फलतः वे सारी अतृप्त इच्छाएँ उपचेतन के गहन स्तरों में संचित होती जाती हैं और अवसर मिलते ही वे स्वप्न, दिवास्वप्न, और छाया-कल्पनाओं का छद्मरूप धारण कर के पुनः अपने आप को व्यक्त करने का प्रयास करती हैं। कम या अधिक उपचेतन का यह रहस्यमय और जटिल क्रिया-व्यापार प्रत्येक व्यक्ति के भीतर चलता रहता है। परन्तु उन व्यक्तियों के भीतर यह विशेष रूप से पाया जाता है जो स्वभाव से अन्तर्मुखी अथवा स्नायविक दुर्बलताओं से ग्रस्त होते हैं। कलाकार भी स्वभावतः अन्तर्मुखी और किसी अंश तक स्नायु-दुर्बल प्राणी होता है। अतः वह प्रायः उपचेतन की अँधेरी गुफाओं में भटकने में सुख पाता है। परन्तु सामान्यजन से वह इस अर्थ में थोड़ा भिन्न और विशिष्ट होता है कि उपचेतन के उन अत्यन्त निजी, अस्पष्ट और धुँधले स्मृति-चित्रों को कला की दूरी से देखने और शब्दों अथवा वर्ण-संकेतों की सहायता से उन के धूमिल और अग्राह्य अर्थ को उद्घाटित करने में समर्थ होता है। जाने-अनजाने काव्यगत चित्रों और प्रतीकों के द्वारा वह अपने उपचेतन मन के रहस्य-लोक को ही बिम्बात्मक अभिव्यक्ति देने का प्रयास करता है। कविता की रचना-प्रक्रिया एक स्वतःचालित और स्व-निर्दिष्ट प्रक्रिया होती है जिस में चेतन-मन या तर्क-बुद्धि का हस्तक्षेप नहीं होता है। अतः ऐसी कविताओं में विचारों की कोई क्रमिक परम्परा अथवा तार्किक संगति नहीं होती। प्रत्येक बिम्ब किसी विशेष मानसिक सन्दर्भ का सूचक होता है और आगे-पीछे के बिम्बों के साथ आपाततः उस का कोई पूर्वापर सम्बन्ध नहीं जुड़ पाता। वस्तुतः जैसा कि नये अनुभव-वादी दार्शनिकों का कहना है, मनुष्य-जीवन में घटित होने वाली घटनाओं में कोई पूर्वापर अथवा कार्य-कारण सम्बन्ध होता भी नहीं। मनुष्य की तर्क-बुद्धि मन की चेतन-शक्ति की सहायता से इन कार्य-कारणहीन घटना-समूहों के भीतर पूर्वापर सम्बन्ध का आरोप कर लेती है और उसे 'इतिहास' के गौरव-पूर्ण नाम से अभिहित करती है। परन्तु आधुनिक मनोविज्ञान इस कार्यकारणबद्ध ज्ञान को, वास्तविक ज्ञान न मान कर ज्ञान का विपर्यास या अध्यास मानता है। इसी लिए मन के चेतन-स्तर को वह अविश्वसनीय मानता है। इस के विपरीत उपचेतन मन के विविध चित्रों और संकेतों में कोई बौद्धिक सम्बन्ध नहीं होता। क्योंकि चेतन-मन से बहिष्कृत केवल वही स्थितियाँ, दृश्य और आकार उपचेतन-मन में शरण पाते हैं जिन का कोई प्रतीकात्मक महत्त्व होता है। बीच के तथ्यपरक विवरण वहाँ अनुपस्थित होते हैं।

मनोविश्लेषणवादी निष्कर्षों के अनुसार वास्तविकता के रूपाकारों का सच्चा प्रतिबिम्ब स्वप्नगत बिम्बों के भीतर दिखाई पड़ता है। क्योंकि वहाँ मन की चेतन शक्ति का कम से कम हस्तक्षेप होता है। अतः सच्ची कविता को भी स्वप्नगत बिम्बों के समान कार्य-कारण शृंखलाहीन, स्वतःचालित और स्व-निर्दिष्ट होना चाहिए। फ्रॉएड की इस स्थापना को युरॅप के अतियथार्थवादी (सर्रिअलिस्ट) कवियों ने सब से पहले

स्वीकार किया और फलस्वरूप बिम्बविधान के क्षेत्र में मुक्त अनुषंग-पद्धति का प्रचलन हुआ। अति-यथार्थवादी कवियों ने स्वप्न-बिम्बों को काव्य का चरम-आदर्श माना और आग्रहपूर्वक अपनी कविता में स्वप्न की-सी सहजता और प्रतीकात्मकता लाने का प्रयास किया। इस प्रयास में उन्होंने स्वप्न-प्रक्रिया की सभी विशेषताओं का पूर्ण उपयोग किया। सामान्यतः स्वप्न-प्रक्रिया की तीन विशेषताएँ मानी जा सकती हैं : बिम्बों का स्थानान्तरण, बिम्बों का विपर्यय और बिम्बों का व्यतिक्रम। अतियथार्थवादी कवियों ने इन तीनों ही पद्धतियों का प्रचुर प्रयोग किया और इस प्रकार बाह्य यथार्थ को उस के सर्वथा नग्न और नकारात्मक रूप में देखने का प्रयास किया। काव्य की रचना-प्रक्रिया को स्वप्न-प्रक्रिया के समान पूर्णतः अचेतन और स्वतःचालित मान लेने के कारण बिम्बों का आकलन स्वतन्त्र मानसिक अनुषंगों के आधार पर होने लगा। आगे चल कर इस स्वतःचालित रचना-पद्धति का प्रभाव अन्य काव्यधाराओं पर भी पड़ा और बिम्बविधान की मुक्त-अनुषंग-पद्धति बीसवीं शताब्दी के काव्य का एक प्रमुख लक्षण बन गयी।

प्रयोगवादी कविता के बिम्बविधान पर इस मुक्त अनुषंग-पद्धति का प्रभाव स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है। रचना-भेद की दृष्टि से इस पद्धति का प्रयोग तीन रूपों में दिखाई देता है। पहला रूप वह है जहाँ कवि किसी केन्द्रीय वस्तु के चारों ओर अन्तश्चेतना के गुम्फित बिम्बों का एक ऐसा कलात्मक जाल बुनता है जिन में आपाततः कोई सम्बन्ध नहीं होता। परन्तु सामूहिक रूप से वे उस केन्द्रीय वस्तु से सम्बद्ध अवश्य होते हैं। 'अज्ञेय' की 'उषःकाल की भव्यशान्ति' शीर्षक कविता इस का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करती है :

> आसन्न-पतन, बिन जमी ओस की अन्तिम
> ईषत् करुण, स्निग्ध कातर शीतलता
> अस्पष्ट किन्तु अनुभूत-
> दूर किसी मीनारक्रोड़ से मुल्ला का
> एक रूप पर अनेक भावोद्दीपक
> गम्भीर आ हवा न-
> 'अस्सला तु खैरुम्मिनिन्ना'
> निकट गली में
> किसी निष्करुण जन से बिन-कारण पदाक्रान्त
> पिल्ले की करुण रिरियाहट।[१]

आसन्न-पतन ओस की शीतलता, मुल्ले के आह्वान और पदाक्रान्त पिल्ले की रिरियाहट में कोई तारतमिक सम्बन्ध नहीं है। पर उषःकाल के सन्दर्भ से इन असम्बद्ध

---

१. तारसप्तक; पृ० ७८.

से दिखने वाले चित्रों में एक अन्तर्निहित एकता का सूत्र भी दिखाई देने लगता है। वस्तुतः यह प्रभात का रूप-चित्र न हो कर, उस के संसर्ग से मन में जगने वाले मानसिक अनुषंगों के स्वतन्त्र चित्रों का एक समूह है।

मुक्त-अनुषंग-पद्धति के दूसरे प्रकार के उदाहरण प्रयोगवादी कविता में अधिक नहीं मिलते। 'अज्ञेय' की बाद की कृतियों में कुछ उदाहरण अवश्य मिल सकते हैं। यह दूसरी पद्धति पहली से भिन्न केवल इस अर्थ में होती है कि इस में बिम्बों की असम्बद्ध योजना को एकता के सूत्र में संग्रथित करने वाली कोई प्रत्यक्ष केन्द्रीय-वस्तु नहीं होती। 'हरी घास पर क्षण भर' शीर्षक कविता के ये खण्डित स्मृति-बिम्ब इस पद्धति का सर्वोत्तम उदाहरण प्रस्तुत करते हैं :

क्षण-भर अनायास
हम याद करें
तिरती नाव नदी में,
धूल-भरे पथ असाढ़ की भभक,
झील में साथ तैरना,
हँसी अकारण खड़े महावट की छाया में,
बदन घाम से लाल, स्वेद से जमी अलक-लट,
चीड़ों का वन, साथ-साथ दुलकी चलते दो घोड़े,
गीली हवा नदी की, फूले नथुने,
भर्रायी सीटी स्टीमर की,
खण्डहर,
ग्रथित अँगुलियाँ,
बांसे का मधु,
डाकिये के पैरों की चाप.......[1]

बिम्बों की यह श्रृंखला और दूर तक जाती है और अन्त तक पाठक उन के बीच कोई वैचारिक अनुबन्ध नहीं स्थापित कर पाता है। स्मृति के एक तात्कालिक आघात से उत्पन्न ये बिम्ब 'देश' (प्लेस) से विच्छिन्न विशुद्ध 'काल' (टाइम) के आयाम में उभरते हैं और प्रत्येक बिम्ब अपने पहले और बाद वाले बिम्बों से प्रायः असम्पृक्त जान पड़ता है। केवल उपचेतन सिद्धान्त के आधार पर ही उन की कलात्मक इकाई को समझा और प्रमाणित किया जा सकता है। प्रसिद्ध बिम्ब-विचारक सी० डे लिविस ने इस पद्धति को समकालीन 'फ़िल्म-टेकनीक' का प्रभाव माना है।[2] जिस प्रकार एक रत्नाकुशल सिने-निर्देशक कुछ असम्बद्ध और अनावश्यक से प्रतीत होने वाले चित्रों के द्वारा दर्शक को एक नाटकीय बिन्दु से दूसरे नाटकीय बिन्दु पर अनायास पहुँचा देता है

---

१. हरी घास पर क्षण भर; पृ० ६१.
२. *A Hope For Poetry*; 19.

उसी प्रकार कवि पाठक को संवेदना के एक स्तर पर ले जाने के लिए खण्डित बिम्बों की योजना करता है। वस्तुतः यह ऐन्द्रिय मनोविज्ञान (एम्पिरिकल साइकॉलॅजि) की एक विशेष विधि है, जिस के द्वारा मानव-मन की अन्धगुफाओं को जानने का प्रयास किया जाता है। जिस व्यक्ति की मानसिक परीक्षा करनी होती है उस के सामने कुछ शब्द कहे जाते हैं। वह उत्तर में, प्रत्येक शब्द के प्रति जो पहला शब्द उस के मस्तिष्क में आता है उसी को उच्चारित कर देता है। मनोवैज्ञानिकों का विश्वास है कि इस विधि के द्वारा व्यक्ति के अचेतन मन का सही विश्लेषण किया जा सकता है। युरॅप के कुछ आधुनिकतावादी कवियों ने इस विधि का प्रयोग काव्य की रचना-प्रक्रिया में भी किया है। कविता के क्षेत्र में टी० एस० इलियट और कथा के क्षेत्र में जेम्स जॉएस इस शैली के सर्वोत्तम प्रयोक्ता माने जाते हैं। हिन्दी में निराला की 'स्फटिकशिला' तथा 'कैलास में शरत्' शीर्षक कविताओं में भी इस शैली का आंशिक प्रभाव देखा जा सकता है। बाद के कवियों में 'अज्ञेय', मुक्तिबोध और शमशेर की कुछ कविताओं में यह शैली और अधिक सहजता और क़लात्मकता के साथ सामने आयी है।

मुक्त-अनुषंग-पद्धति का तीसरा रूप उन कविताओं में दिखाई पड़ता है जिन का निर्माण स्वतःचालित स्वप्न-प्रक्रिया के आधार पर होता है। 'अज्ञेय' की 'चार का गजर'[1] शीर्षक कविता में इस प्रक्रिया का सफल निर्वाह किया गया है। परन्तु उस कविता में स्वप्न का केवल नाटकीय परिवेश-भर लिया गया है। अतः वहाँ सम्पूर्ण परिवेश ही एक बिम्ब है। इस दृष्टि से वह कविता स्वप्नमय वातावरण का एक प्रयत्न-सिद्ध आभास-भर दे पाती है। स्वप्न की खण्डित बिम्ब-प्रक्रिया का सच्चा आभास उन की एक अन्य कविता में दिखाई देता है :

> झरोखे में से बहती हवा का एक झोंका
> इतराता आता है,
> और इतिहास के पन्नों को उड़ाता हुआ चला जाता है।
> दिक्चक्रवाल से सिमट कर चाँदनी
> झरोखे से झरती हुई
> बिल्लौर-सी जम जाती है।
>
> जमी हुई चाँदनी के झलमलाते ताजमहल के नीचे
> बागड़ियों के झोंपड़ों के छप्पर उभर आते हैं
> जिन के खर के आरी सरीखे किनारे मानो आँखों की कोर को
> चीर जाते हैं—
> और छप्पर की छत पर बैठी एक भैंस पागुर कर रही है।[2]

---

१. तारसप्तक; पृ० ८१.

२. इन्द्रधनु रौंदे हुए ये; पृ० ३१.

उदाहरण प्रस्तुत करती है। इस में इतने बिम्ब माने जा सकते हैं—हवा का झोंका, इतिहास के उड़ते हुए पन्ने, झरोखे से झरती हुई चाँदनी, फिर चाँदनी का ताजमहल और इन सब का प्रतिरोधी बिम्ब छप्पर पर बैठी हुई पागुर करती भैंस। सामान्यतः ये बिम्ब अस्पष्ट और अव्याख्येय हैं। पर यदि प्रत्येक बिम्ब को एक संकेतगर्भी प्रतीक के रूप में ग्रहण किया जाये तो उपचेतन-मन के एक जटिल स्तर पर ये एक-दूसरे से जुड़े हुए प्रतीत होंगे। हवा का झोंका जीवन की अनवरुद्ध गति का प्रतीक है, इतिहास के उड़ते हुए पन्ने वस्तुजगत् की अव्यवस्था और बिखराव का। इसी प्रकार चाँदनी प्रेम अथवा सौन्दर्य का प्रतीक है जो धरती का कठोर स्पर्श पाते ही एक ठोस भौतिक वस्तु में बदल जाती है और चाँदनी का ताजमहल उस प्रेम अथवा सौन्दर्य की विगत स्मृतियों का। इन सारे बिम्बों का प्रतिरोधी बिम्ब है भैंस, जो जीवन की विरूपताओं-असंगतियों और संवेदनहीनता का प्रतीक है। 'ताजमहल' शब्द के ऐतिहासिक अनुबन्ध के द्वारा कवि ने इस सम्पूर्ण कविता में एक अद्‌भुत प्रसंग-गर्भत्व ला दिया है, जो प्रतीकों के अर्थ को अन्य दिशाओं में भी प्रक्षिप्त करता है। ताजमहल के परिपार्श्व में बागड़ियों के झोंपड़े का बिम्ब जीवन के उस मूलभूत अन्तर्विरोध को सूचित करता है जो कभी समाप्त नहीं होता! अन्तिम पंक्ति मे स्थानान्तरण-पद्धति का उपयोग किया गया है—छप्पर पर बैठी हुई भैंस के चित्र में—जो पाठक के मन में एक विश्रृंखलित स्वप्नमय वातावरण की सृष्टि करता है। यह स्वप्नमयता ही चित्रों को वह प्रतीकात्मकता प्रदान करती है जिस के बिना वे निरर्थक आकारमात्र रह जाते। इस में सन्देह नहीं कि स्वप्न-गत बिम्बों में अपार काव्यात्मक सम्भावनाएँ होती हैं और प्रत्येक विलक्षण स्वप्न अपने आप में एक पूर्ण कविता होता है। परन्तु जैसा कि स्वप्न-प्रक्रिया के प्रसिद्ध प्रयोक्ता कवि टॉम स्कॉट ने कहा है :

> "मैं ने बराबर यह पाया है कि स्वप्न-प्रक्रिया से अच्छी कविता की सृष्टि कभी-कभी ही हो पाती है। प्रत्येक स्वप्न एक ऐसी शब्दातीत कविता के समान होता है जिस का सीधे-सादे शब्दों में कोई विवरण उपस्थित किया ही नहीं जा सकता।"[1]

यद्यपि स्कॉट ने यहाँ उन कविताओं की ओर संकेत किया है जो स्वप्न की प्रत्यक्ष प्रेरणा से लिखी जाती हैं, परन्तु यह बात सामान्यतः उन सब कविताओं पर लागू होती है जो पूर्णतः उपचेतन अथवा अचेतन के वशीभूत हो कर लिखी जाती हैं। सी० डे लिविस ने मुक्त-अनुषंग-पद्धति की दो सीमाएँ बतायी हैं जो विचारणीय हैं।[2] पहली सीमा तो यह है कि इस में अनिवार्यतः मनोवैज्ञानिकों के उपचेतन-सिद्धान्त

---

१. Quoted by Robin Skelton in *The Poetic Pattern*; 190.

२. *A Hope For Poetry*; 20.

था जिस के बिना 'अमानवीकरण' के सम्भावित परिणामों से मानवता की रक्षा नहीं की जा सकती। अतः 'नये मानव' की खोज के साथ ही नयी कविता ने नयी आस्था का अनुसन्धान भी आरम्भ कर दिया। यह प्रयोगवाद की आत्मकेन्द्रित अन्वेषण-वृत्ति से भिन्न, अनुभव और चिन्तन का एक नया धरातल था। नये कवियों के सम्मुख कदाचित् यह सब से विकट प्रश्न था। क्योंकि भक्तकवियों की भाँति उन के सामने विकल्प नहीं था। उन्हें इसी जीवन और इस टूटती-बिखरती हुई सभ्यता के भीतर से ही खण्डित आस्था के विश्लिष्ट तत्त्वों को पुनः संयोजित करना था। ऐसी स्थिति में यह बिलकुल स्वाभाविक था कि उन की कविता के रूपविन्यास में भी परिवर्तन आता। भाव-बोध के अन्तर्गत वस्तु के प्रत्यक्ष अनुभव को आत्यन्तिक महत्त्व दिया गया। आरोपित दर्शन अथवा गृहीत विचारों की अपेक्षा साक्षात् अनुभव को वस्तुज्ञान की पहली और अन्तिम कसौटी मान लेने के कारण कवियों के दृष्टिकोण में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। 'भावना' के स्थान पर 'संवेदना' और 'धारणात्मक सूक्ष्म' के स्थान पर 'प्रत्यक्षात्मक ठोस' को प्रतिष्ठा मिली। 'अनुभव' को महत्त्व प्रयोगवाद ने भी दिया था। पर उस के निकट साक्षात् अनुभव से अधिक महत्त्वपूर्ण वह मनोवैज्ञानिक दृष्टि थी जो उसे बाहर से मिली थी। इस मौलिक अन्तर के कारण नयी कविता प्रयोगवाद की अपेक्षा यथार्थ के अधिक समीप आ गयी। पर कवि के निकट यथार्थ को समीपता अपने आप में दृष्ट नहीं होती। उस के लिए वस्तु का मानसिक प्रतिबिम्ब स्वयं वस्तु से भी कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। वस्तुतः यह मानसिक प्रतिबिम्ब ही उस की निजी सम्पत्ति है। नयी कविता ने वस्तु के इस मानसिक प्रतिबिम्ब को भी एक नये स्तर पर पकड़ने का प्रयास किया है। वह एक ही साथ वस्तु का आत्मगत बिम्ब और 'आत्म' का वस्तुगत बिम्ब, दोनों को पकड़ने का प्रयास करती है। इस बात को एक ठोस उदाहरण से समझना अधिक संगत होगा। शमशेर बहादुर सिंह की एक कविता है :

> एक नीला आइना
> बेठोस-सी यह चाँदनी
> और अन्दर चल रहा हूँ मैं
> उसी के महातल के मौन में।
> मौन में इतिहास का
> कन किरन जीवित, एक, बस।

पहले तो कवि ने चाँदनी का एक चित्र दिया—बेठोस-सी चाँदनी। ध्यान देने की बात है कि उस ने उसे तरल नहीं कहा, केवल 'बेठोस' कहा, जिस का मतलब है कि उसे सामान्यतः 'ठोस' नहीं कहा जा सकता, बस। यह तो वस्तु का आत्मगत बिम्ब हुआ। अब 'आत्म' का वस्तुगत बिम्ब देखिए :

---

१. कुछ कविताएँ; पृ० १३.

काव्य के अभाव में, बाह्य यथार्थ के साथ सम्पर्क बनाये रखने के लिए बिम्ब को अधिकाधिक महत्त्व देने को विवश है। और पाँचवीं समस्या यह है कि आधुनिक बिम्बों को उपलब्ध करने के लिए यह आवश्यक है कि कवि का भावबोध भी आधुनिक हो, अर्थात् वह केवल आधुनिक विचारों से ही परिचित न हो बल्कि वर्तमान जीवन की जटिलता और अव्यवस्था के बीच अपनी संवेदन-क्षमता को अकुण्ठित रखते हुए जीने की भी क्षमता रखता हो।[1] इन सारी समस्याओं का एकमात्र समाधान यही हो सकता है कि आधुनिक यथार्थ के बिखराव को प्रतिबिम्बित करने के लिए ऐसे जीवन्त बिम्बों की तलाश की जाये जो वर्तमान युग के 'ऐतिहासिक अर्थ' (हिस्टॉरिकल मीनिंग) को ध्वनित करने के साथ ही साथ उस की स्थूल सीमाओं को अतिक्रान्त करने की भी क्षमता रखते हों। बिम्ब के इस महत्त्व का एक ऐतिहासिक कारण भी है जिस का सम्बन्ध आधुनिक कवि की सामाजिक स्थिति से है। नये कवि ने आज की भौतिक सभ्यता के बीच अपने आप को नितान्त अकेला अनुभव किया और एक हद तक निरर्थक भी। फलतः वह अपने भीतर की दुनिया में सिमटते जाने के लिए बाध्य है। एक ओर कवि है जो निरन्तर अपने भीतर की ओर, स्वयं में, लौट रहा है और दूसरी ओर उस की विक्षुब्ध अनुभूतियाँ हैं जो सारी सीमाओं को तोड़ कर बाहर आना चाहती हैं। आधुनिक कविता का बिम्ब इसी आन्तरिक तनाव की सृष्टि है। वह एक ओर यदि बाह्य यथार्थ से सम्पृक्त है तो दूसरी ओर कवि के अन्तर्जगत् से भी। इस प्रकार बिम्ब एक सेतु है जो 'बाहर' और 'भीतर' को कला के स्तर पर जोड़ता है।

जहाँ तक वैज्ञानिक विकास का प्रश्न है, नयी कविता ने उस की उपलब्धियों और सम्भावनाओं को अपने भीतर समाहित करने का प्रयास किया है। पुराने रॅमैण्टिक अप्रस्तुतों और प्रतीकों के स्थान पर यान्त्रिक सभ्यता के नये बिम्ब और प्रतीक महत्त्व पाने लगे हैं। यही नहीं; इन नितान्त अकाव्यात्मक उपादानों को अपनी व्यापक संवेदना का अंग बना कर नये कवियों ने यह सिद्ध कर दिया है कि इन के माध्यम से भी जीवन के गहनतम सत्यों की अभिव्यक्ति हो सकती है। 'प्लैटफ़ॉर्म' का यह कथन कितना मार्मिक है :

> सीटी हुई,
> कुछ देर इंजन
> खड़ा सूँ-सूँ करता रहा,
> अन्त में आवाज़ क्रमशः बढ़ती गयी
> एक झटके के साथ गाड़ी चली—
> बहुत देर तक तेज़ होते हुए इंजन की आवाज़

---

१. *The Poetic Image*—C. Day Lewis; 105.

आती रही, आती रही, आती रही—
और फिर धीरे-धीरे घटती हुई—खो गयी।
प्रगति का इतना ही इतिहास
मैं जानता हूँ।[१]

यह कविता केवल यन्त्र-संस्कृति की ही नहीं, सम्पूर्ण समकालीन यथार्थ का एक बड़ा ही प्रतीकात्मक चित्र प्रस्तुत करती है। इसी प्रकार 'अज्ञेय' ने हवाई यान की ऊँची उड़ान से आधुनिक नगर का जो बिम्ब प्रस्तुत किया है, वह केवल एक नगर का बिम्ब न हो कर सम्पूर्ण मानव-समूह का बिम्ब है :

उतरो थोड़ा और
घनो कुछ हो आने दो
रासायनिक धुन्ध के इस चीकट कम्बल की नयी घुटन को :
मानव का समूह-जीवन इस झिल्ली में ही पनप रहा है।[२]

'रासायनिक धुन्ध' की यह कल्पना सर्वथा नयी है और अणु-युगीन कवि के विशिष्ट भाव-बोध की सूचना देती है। तात्पर्य यह कि आज का कवि नक्षत्रों, फूलों और वनस्पतियों के समान नये वैज्ञानिक तथ्यों के साथ भी [illegible] सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास कर रहा है। भाव-बोध के इस परिवर्तन से नयी कविता का बिम्बविधान पुष्ट और सम्पन्न हुआ है। यद्यपि इस सामाजिक तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि यान्त्रिक उपकरणों के प्रति सामान्य जनता में एक मिश्रित-सा भाव है जो प्राय: साधारणीकरण में बाधक होता है। पर समकालीन वास्तविकता का इतना गहरा प्रभाव आज के कवि के मन पर है कि वह अपनी अभिव्यक्ति की दुर्दम आकांक्षा को भी व्यक्त करने का प्रयास करता है तो उस की आँखों के आगे एक यान्त्रिक बिम्ब ही उभरता है :

सिनेमा की रीलों-सा कस के लिपटा है सभी कुछ
मेरे अन्दर,
कमानी खुलने को भरती है हुमास।[३]

इन यान्त्रिक बिम्बों के अतिरिक्त यदि नयी कविता में विशुद्ध वैज्ञानिक बिम्बों की तलाश की जाये तो 'रासायनिक धुन्ध' जैसे दो-एक बिम्बों को छोड़ कर, अन्य उदाहरण कठिनाई से ही मिलेंगे। अँगरेज़ आलोचक जे० आइज़क के अनुसार आधुनिक अँगरेज़ी कविता में भी वैज्ञानिक बिम्बों का एकान्त अभाव है। इस के आधार पर उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि आज की कविता पर वैज्ञानिक प्रयोगशाला का प्रभाव

---

१. तीसरा सप्तक; पृ० ३६६;
२. इन्द्रधनु रौंदे हुए ये; पृ० ६१.
३. दूसरा सप्तक; पृ० १६५.

प्रत्यक्ष रूप में कम और अप्रत्यक्ष सिद्धान्तों अथवा विचारों के रूप में अधिक पड़ा है।[1] इस की व्याख्या जो भी हो, पर यह एक तथ्य है। सम्भवतः कविता की मूल प्रकृति ही इस ऐतिहासिक तथ्य का मूलभूत कारण है।

बिम्बविधान की नयी दिशाएँ

पारदर्शी बिम्ब

प्राकृतिक परिवेश और सुपरिचित वस्तुओं के प्रति नये कवि का दृष्टिकोण बहुत बदल गया है। वह एक सुन्दर वस्तु को देखता है तो उस के समानान्तर अनेक हलके-धुँधले स्मृति-बिम्ब उभर आते हैं और वह मूलवस्तु उन सब के सन्दर्भ में एक नये सौन्दर्य-मूल्य से सम्पृक्त हो उठती है। अवचेतन के अज्ञात-गहन बिम्बों को उद्‌घाटित करने की यह शक्ति शमशेर बहादुर सिंह की कविताओं में सब से अधिक पायी जाती है। उन की विशेषता यह है कि वे जिस वस्तु का वर्णन करते हैं उस तक संवेदना की अनेक दिशाओं से एक साथ पहुँचने का प्रयास करते हैं। उदाहरण के लिए उन की 'शाम' शीर्षक कविता ली जा सकती है :

नीबू का नमकीन-सा शरबत, शाम
(गहरा, नमकीन)
प्राचीन ईसाई चीज़ों-सी कुछ
राजपूताने की-सी बहुत कुछ
गहरी सोन-चम्पई
सोन-गोरिया शाम।
........शान्त।
तुम्हारी साड़ी की-सी शाम
बहुत परिचित।
मेरे दिल के अजीब फैलाव को
लातीनी पीतल-काँसे के घण्टों की-सी
क्लासिक शाम
बहुत दूर तक बजती हुई शाम।[2]

पहले कवि ने शाम का वर्ण-संकेत दिया—'नीबू का शरबत' जो मदिरा की-सी लालिमा लिये होता है। फिर तुरत वर्ण से स्वाद पर आ जाता है और उसे 'गहरा नमकीन' कहता है जो सम्भवतः शाम की गहन उदासी की ओर एक इंगित है। इस के बाद उस के मन में सन्ध्याकालीन शान्ति, उदासी और रंगों

१. *The Back-ground Of Modern Poetry*; 77.
२. कविताएँ; १९५८, पृ० ८१.

के अनुषंग से कुछ अत्यन्त सांकेतिक ऐतिहासिक बिम्ब उभरते हैं। 'प्राचीन ईसाई चीज़ों' के संकेत से वह एक पवित्र शान्ति की अनुभूति जगाना चाहता है जो सन्ध्याकालीन प्रार्थना के समय प्रायः गिरजाघरों में होती है और 'राजपूताने' के सादृश्य से वह सम्भवतः राजस्थानी स्थापत्य की अलंकृति और वर्ण-योजना की स्मृतियों को उभारना चाहता है। फिर तुरत लौट कर अपने परिचित वातावरण में आ जाता है और शाम के लिए एक नितान्त व्यक्तिगत अप्रस्तुत लाता है—'तुम्हारी साड़ी की-सी शाम'। यहाँ तक तो कवि ने शाम के वर्ण-सौन्दर्य के अनेक स्तरों को उद्घाटित करने का प्रयास किया है। आगे वह शाम के दृश्य सौन्दर्य को ध्वनि-संवेदना के स्तर पर सम्प्रेषित करने का प्रयास करता है और उसे प्राचीन रोमन (लातीनी) सभ्यता के पीतल-काँसे के घण्टों की गूँजती हुई ध्वनि से उपमित करता है। यहाँ 'क्लैसिक' शब्द, विदेशी होते हुए भी कितना ध्वन्यार्थ-व्यंजक है। इन में एक-एक बिम्ब के साथ संवेदना की अनेक तहें लिपटी हुई हैं। नयी कविता के बिम्बविधान की यह एक बहुत बड़ी विशेषता है जिस का सर्वोत्तम उदाहरण यह कविता प्रस्तुत करती है। यहाँ प्रत्येक बिम्ब परस्पर-स्वतन्त्र होते हुए भी एक-दूसरे को विभिन्न कोणों से प्रतिबिम्बित करता-सा जान पड़ता है। अतः विचार की सुविधा के लिए इस वर्ग के बिम्बों को पारदर्शी बिम्ब की संज्ञा दी जा सकती है।

प्रतीकात्मक बिम्ब

दैनिक जीवन के इन सुपरिचित दृश्यों के अतिरिक्त नयी कविता ने कुछ ऐसे काव्यात्मक बिम्ब भी दिये हैं जो एक विशेष प्रकार के जादू-टोने के-से वातावरण के द्वारा आधुनिक जीवन की गहन जटिलताओं को प्रतिबिम्बित करते हैं। बिम्ब-विधान की यह पद्धति नयी कविता की अपनी उपलब्धि है और हिन्दी-कविता के इतिहास में कुछ उस प्रकार का उदाहरण प्रस्तुत करती है जैसा प्रसिद्ध प्रतीकवादी कवि डब्ल्यू० बी० यीट्स की उत्तरकालीन कृतियों में पाया जाता है। यीट्स ने प्रथम महायुद्ध के बाद के सांस्कृतिक विघटन को कलात्मक अभिव्यक्ति देने के लिए मध्ययुगीन गाथात्मक प्रतीकों और तन्त्र-मन्त्र के रूढ़ संकेतों को एक नये ढंग से कविता में ढालने का प्रयास किया था। इधर नयी कविता के क्षेत्र में भी कुछ उसी प्रकार के संकेत दिखाई देने लगे हैं। इस प्रकार के बिम्ब प्रायः भूत-प्रेतों की कहानियों, दन्तकथाओं और आदिम जनगाथाओं के रूप में व्यक्त होते हैं। मुक्तिबोध ने शहर के छोर पर, खण्डहर के बीच परित्यक्त सूनी बावड़ी में स्नान करने वाले 'ब्रह्मराक्षस' के प्रतीक के द्वारा आधुनिक मानव के नग्न नकारात्मक रूप का बड़ा प्रभावशाली बिम्ब प्रस्तुत किया है। अपने विराट् अहम् के बोझ के नीचे दबा हुआ 'ब्रह्मराक्षस' जब कभी बावड़ी के जल (चेतना) में सूर्य की किरणों का प्रतिबिम्ब देखता है तो उसे ऐसा लगता है कि मानो सूर्य (बाह्य सामाजिक सत्ता) उसे झुककर 'नमस्ते' कर रहा है :

किन्तु गहरी बावड़ी की भीतरी दीवार पर
तिरछी-गिरी रवि-रश्मि के
उड़ते हुए परमाणु जब तल तक पहुँचते हैं कभी,
तब ब्रह्मराक्षस समझता है
सूर्य ने झुक कर 'नमस्ते' कर दिया।[१]

इस प्रकार की संकेतगर्भी कविताओं में प्रायः कवि का अचेतन मन ही शब्दों के माध्यम से बाहर आने का प्रयास करता है। इस कोटि के बिम्बों में एक विशद-गम्भीर रूपक का-सा गुम्फन होता है और उस गुम्फन के भीतर कवि व्यापक यथार्थ के जितने सूक्ष्म स्तरों को संग्रथित करने की क्षमता रखता है, कविता का प्रभाव उतना ही तीव्र और स्थायी होता है। ऐसे सफल प्रतीकात्मक बिम्बों की संख्या नयी कविता में बहुत अधिक है। कहीं-कहीं इस प्रकार के बिम्बों में स्वप्न-प्रतीकों की-सी रहस्यमयता भी दिखाई देती है जो छायावादी रहस्यभावना से सर्वथा भिन्न है। एक काव्यात्मक स्वप्न-खण्ड की ये पंक्तियाँ देखिए :

मैं ने आँखें खोलीं, देखा
मैं एक अश्व पर उड़ा जा रहा हूँ अनन्त की ओर,
ऊँची-नीची चढ़ाइयों पर
मैं ने ढीली कर दी है उस की डोर,
जाने कैसे अनगिन पर्वत, सूर्यास्त, मेघ, नक्षत्र
पार कर पहुँचा हूँ उस छोर,
जिस के आगे कुछ दूरी पर
पाषाण-द्वार तक जा कर चुक जाता है पथ का छोर।[२]

पूरी कविता का वातावरण परियों की कहानियों का-सा है और इस में अश्व, सूर्यास्त, मेघ, नक्षत्र तथा पाषाणद्वार—ये सारे प्रतीक दोहरे अभिप्राय से युक्त हैं। एक ओर वे रूपक-कथा के सामान्य वातावरण के प्रतीक-मात्र हैं, दूसरी ओर कवि के अचेतन मन में वासनारूप से निहित आदिम बिम्ब-संकेतों को भी वहन करते हैं। युंग-मनोविज्ञान के अनुसार कला-सृजन की प्रक्रिया को दो भागों में बाँटा जा सकता है। पहले को वे मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया कहते है और दूसरे को अन्तर्दृष्टिमूलक अथवा प्रज्ञात्मक।[3] पहले प्रकार की प्रक्रिया में कवि चेतन-मन के द्वारा प्रस्तुत सामग्री के आधार पर कलाकृति का निर्माण करता है और दूसरे में पूर्णतः अचेतन मन में संचित आदिम-बिम्बों के आधार पर। ये आदिम-बिम्ब नितान्त निर्वैयक्तिक होते हैं और मानव-जीवन

१. कवि, जनवरी १९५७; पृ० ५४.
२. हंस (संकलन, १९५७); पृ० ९७.
३. *Modern Man In Search Of A Soul*—C. G. Jung; 179.

के अनुषंग से कुछ अत्यन्त सांकेतिक ऐतिहासिक बिम्ब उभरते हैं। 'प्राचीन ईसाई चीज़ों' के संकेत से वह एक पवित्र शान्ति की अनुभूति जगाना चाहता है जो सन्ध्याकालीन प्रार्थना के समय प्रायः गिरजाघरों में होती है और 'राजपूताने' के सादृश्य से वह सम्भवतः राजस्थानी स्थापत्य की अलंकृति और वर्ण-योजना की स्मृतियों को उभारना चाहता है। फिर तुरत लौट कर अपने परिचित वातावरण में आ जाता है और शाम के लिए एक नितान्त व्यक्तिगत अप्रस्तुत लाता है—'तुम्हारी साड़ी की-सी शाम'। यहाँ तक तो कवि ने शाम के वर्ण-सौन्दर्य के अनेक स्तरों को उद्घाटित करने का प्रयास किया है। आगे वह शाम के दृश्य सौन्दर्य को ध्वनि-संवेदना के स्तर पर सम्प्रेषित करने का प्रयास करता है और उसे प्राचीन रोमन (लातीनी) सम्यता के पीतल-काँसे के घण्टों की गूँजती हुई ध्वनि से उपमित करता है। यहाँ 'क्लैसिक' शब्द, विदेशी होते हुए भी कितना ध्वन्यार्थ-व्यंजक है। इन में एक-एक बिम्ब के साथ संवेदना की अनेक तहें लिपटी हुई हैं। नयी कविता के बिम्बविधान की यह एक बहुत बड़ी विशेषता है जिस का सर्वोत्तम उदाहरण यह कविता प्रस्तुत करती है। यहाँ प्रत्येक बिम्ब परस्पर-स्वतन्त्र होते हुए भी एक-दूसरे को विभिन्न कोणों से प्रति-बिम्बित करता-सा जान पड़ता है। अतः विचार की सुविधा के लिए इस वर्ग के बिम्बों को पारदर्शी बिम्ब की संज्ञा दी जा सकती है।

प्रतीकात्मक बिम्ब

दैनिक जीवन के इन सुपरिचित दृश्यों के अतिरिक्त नयी कविता ने कुछ ऐसे काव्यात्मक बिम्ब भी दिये हैं जो एक विशेष प्रकार के जादू-टोने के-से वातावरण के द्वारा आधुनिक जीवन की गहन जटिलताओं को प्रतिबिम्बित करते हैं। बिम्ब-विधान की यह पद्धति नयी कविता की अपनी उपलब्धि है और हिन्दी-कविता के इतिहास में कुछ उस प्रकार का उदाहरण प्रस्तुत करती है जैसा प्रसिद्ध प्रतीकवादी कवि डब्ल्यू० बी० यीट्स की उत्तरकालीन कृतियों में पाया जाता है। यीट्स ने प्रथम महायुद्ध के बाद के सांस्कृतिक विघटन को कलात्मक अभिव्यक्ति देने के लिए मध्ययुगीन गाथात्मक प्रतीकों और तन्त्र-मन्त्र के रूढ़ संकेतों को एक नये ढंग से कविता में ढालने का प्रयास किया था। इधर नयी कविता के क्षेत्र में भी कुछ उसी प्रकार के संकेत दिखाई देने लगे हैं। इस प्रकार के बिम्ब प्रायः भूत-प्रेतों की कहानियों, दन्तकथाओं और आदिम जनगाथाओं के रूप में व्यक्त होते हैं। मुक्तिबोध ने शहर के छोर पर, खण्डहर के बीच परित्यक्त सूनी बावड़ी में स्नान करने वाले 'ब्रह्मराक्षस' के प्रतीक के द्वारा आधुनिक मानव के नग्न नकारात्मक रूप का बड़ा प्रभावशाली बिम्ब प्रस्तुत किया है। अपने विराट् अहम् के बोझ के नीचे दबा हुआ 'ब्रह्मराक्षस' जब कभी बावड़ी के जल (चेतना) में सूर्य की किरणों का प्रतिबिम्ब देखता है तो उसे ऐसा लगता है कि मानो सूर्य (बाह्य सामाजिक सत्ता) उसे झुककर 'नमस्ते' कर रहा है :

किन्तु गहरी बावड़ी की भीतरी दीवार पर
तिरछी-गिरी रवि-रश्मि के
उड़ते हुए परमाणु जब तल तक पहुँचते हैं कभी,
तब ब्रह्मराक्षस समझता है
सूर्य ने झुक कर 'नमस्ते' कर दिया।[१]

इस प्रकार की संकेतगर्भी कविताओं में प्रायः कवि का अचेतन मन ही शब्दों के माध्यम से बाहर आने का प्रयास करता है। इस कोटि के बिम्बों में एक विषाद-गम्भीर रूपक का-सा गुम्फन होता है और उस गुम्फन के भीतर कवि व्यापक यथार्थ के जितने सूक्ष्म स्तरों को संग्रथित करने की क्षमता रखता है, कविता का प्रभाव उतना ही तीव्र और स्थायी होता है। ऐसे सफल प्रतीकात्मक बिम्बों की संख्या नयी कविता में बहुत अधिक है। कहीं-कहीं इस प्रकार के बिम्बों में स्वप्न-प्रतीकों की-सी रहस्यमयता भी दिखाई देती है जो छायावादी रहस्यभावना से सर्वथा भिन्न है। एक काव्यात्मक स्वप्न-खण्ड की ये पंक्तियाँ देखिए :

मैं ने आँखें खोलीं, देखा
मैं एक अश्व पर उड़ा जा रहा हूँ अनन्त की ओर,
ऊँची-नीची चढ़ाइयों पर
मैं ने ढीली कर दी है उस की डोर,
जाने कैसे अनगिन पर्वत, सूर्यास्त, मेघ, नक्षत्र
पार कर पहुँचा हूँ उस छोर,
जिस के आगे कुछ दूरी पर
पाषाण-द्वार तक जा कर चुक जाता है पथ का छोर।[२]

पूरी कविता का वातावरण परियों की कहानियों का-सा है और इस में अश्व, सूर्यास्त, मेघ, नक्षत्र तथा पाषाणद्वार—ये सारे प्रतीक दोहरे अभिप्राय से युक्त हैं। एक ओर वे रूपक-कथा के सामान्य वातावरण के प्रतीक-मात्र हैं, दूसरी ओर कवि के अचेतन मन में वासनारूप से निहित आदिम बिम्ब-संकेतों को भी वहन करते हैं। युंग-मनोविज्ञान के अनुसार कला-सृजन की प्रक्रिया को दो भागों में बाँटा जा सकता है। पहले को वे मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया कहते है और दूसरे को अन्तर्दृष्टिमूलक अथवा प्रज्ञात्मक।[3] पहले प्रकार की प्रक्रिया में कवि चेतन-मन के द्वारा प्रस्तुत सामग्री के आधार पर कलाकृति का निर्माण करता है और दूसरे में पूर्णतः अचेतन मन में संचित आदिम-बिम्बों के आधार पर। ये आदिम-बिम्ब नितान्त निर्वैयक्तिक होते हैं और मानव-जीवन

---

१. कवि, जनवरी १९५७; पृ० ५४.
२. हंस (संकलन, १९५७); पृ० ९७.
३. *Modern Man In Search Of A Soul*—C. G. Jung; 179.

के सार्वकालिक सत्यों की अभिव्यक्ति करते हैं। उपर्युक्त कविता, युंग के अनुसार अन्तर्दृष्टिमूलक सृजन-प्रक्रिया के अन्तर्गत आयेगी। ऐसी स्थिति में अश्व मानव की इच्छा-शक्ति का प्रतीक माना जायेगा, उड़ने की क्रिया उस की दबी हुई महत्त्वाकांक्षा का और पाषाणद्वार उस चिरन्तन विरोधी शक्ति का प्रतीक माना जायेगा जिस के विरुद्ध मनुष्य आदिकाल से संघर्ष करता आया है। नयी कविता का एक बहुत बड़ा भाग नानार्थ-व्यंजक आदिम-बिम्बों से भरा हुआ है।

इन अन्तर्दृष्टिमूलक बिम्बों के अतिरिक्त नयी कविता ने कुछ विशुद्ध आधुनिक मानव-मूल्यों को ध्वनित करने वाले बिम्ब भी दिये हैं जो अब धीरे-धीरे प्रतीक बनते जा रहे हैं। सेतु, नदी के द्वीप, शंख और सीपी इत्यादि के प्रतीक इसी कोटि में आयेंगे। 'अज्ञेय' ने सागर-तक की सीपियों के द्वारा आधुनिक मानव-व्यक्तित्व का एक ऐसा ही प्रतीकात्मक बिम्ब प्रस्तुत किया है :

> ये टूटी हुई रंगीन :
> इन्द्रधनु रौंदे हुए ये
> रेत से मिस चले-से भी स्निग्ध, रंगारंग
> जैसे प्यार।[1]

शिशु-बिम्ब :

इस सांस्कृतिक जटिलता के युग में प्रतिक्रिया-स्वरूप कुछ कवियों और कलाकारों के भीतर आदिम सरलता अथवा शिशु-सुलभ सहजता की ओर लौटने की प्रवृत्ति भी दिखाई देती है। पिकासो का अफ्रिका के आदिवासियों की अविकसित कलाकृतियों से प्रेरणा ग्रहण करना इस बात का सब से बड़ा प्रमाण है। इसी प्रकार का प्रयास कुछ हिन्दी के नये कवियों के बिम्बविधान में भी दिखाई दे रहा है। शिशु-मन स्मृतियों का अक्षय कोश होता है और वहाँ प्रत्येक स्मृति, क्रिया अथवा गति का एक मूर्तरूप होती है। गुड्डे, गुड़ियाँ, खिलौने, कागज की नावें, गेंद और पतंग इत्यादि शिशु-जगत् के कुछ सुपरिचित उपकरण होते हैं। 'पतंग' का यह सीधा-सादा-सा संकेतगर्भी बिम्ब देखिए :

> और मैं अपनी स्मृतियों से
> एक प्रागैतिहासिक पतंग की डोरी को
> हलके-हलके खींच कर
> धरती पर उतार रहा हूँ।[2]

कृत्रिम खिलौनों के साथ-साथ शिशु-मन को मेमने, गिलहरियाँ और फूल-पत्ते इत्यादि के प्राकृतिक उपादान भी उतने ही मोहक लगते हैं। पर आधुनिक कवि जब

---

१. इन्द्रधनु रौंदे हुए ये; पृ० ६६.
२. कल्पना (मार्च १९६१); ६४.

के सार्वकालिक सत्यों की अभिव्यक्ति करते हैं। उपर्युक्त कविता, युंग के अनुसार अन्तर्दृष्टिमूलक सृजन-प्रक्रिया के अन्तर्गत आयेगी। ऐसी स्थिति में अश्व मानव की इच्छा-शक्ति का प्रतीक माना जायेगा, उड़ने की क्रिया उस की दबी हुई महत्त्वाकांक्षा का और पाषाणद्वार उस चिरन्तन विरोधी शक्ति का प्रतीक माना जायेगा जिस के विरुद्ध मनुष्य आदिकाल से संघर्ष करता आया है। नयी कविता का एक बहुत बड़ा भाग नानार्थ-व्यंजक आदिम-बिम्बों से भरा हुआ है।

इन अन्तर्दृष्टिमूलक बिम्बों के अतिरिक्त नयी कविता ने कुछ विशुद्ध आधुनिक मानव-मूल्यों को ध्वनित करने वाले बिम्ब भी दिये हैं जो अब धीरे-धीरे प्रतीक बनते जा रहे हैं। सेतु, नदी के द्वीप, शंख और सीपी इत्यादि के प्रतीक इसी कोटि में आयेंगे। 'अज्ञेय' ने सागर-तक की सीपियों के द्वारा आधुनिक मानव-व्यक्तित्व का एक ऐसा ही प्रतीकात्मक बिम्ब प्रस्तुत किया है :

ये टूटी हुई रंगीन :
इन्द्रधनु रौंदे हुए ये
रेत से मिस चले-से भी स्निग्ध, रंगारंग
जैसे प्यार।[1]

शिशु-बिम्ब :

इस सांस्कृतिक जटिलता के युग में प्रतिक्रिया-स्वरूप कुछ कवियों और कलाकारों के भीतर आदिम सरलता अथवा शिशु-सुलभ सहजता की ओर लौटने की प्रवृत्ति भी दिखाई देती है। पिकासो का अफ्रिका के आदिवासियों की अविकसित कलाकृतियों से प्रेरणा ग्रहण करना इस बात का सब से बड़ा प्रमाण है। इसी प्रकार का प्रयास कुछ हिन्दी के नये कवियों के बिम्बविधान में भी दिखाई दे रहा है। शिशु-मन स्मृतियों का अक्षय कोश होता है और वहाँ प्रत्येक स्मृति, क्रिया अथवा गति का एक मूर्तरूप होती है। गुड्डे, गुड़ियाँ, खिलौने, कागज की नावें, गेंद और पतंग इत्यादि शिशु-जगत् के कुछ सुपरिचित उपकरण होते हैं। 'पतंग' का यह सीधा-सादा-सा संकेतगर्भी बिम्ब देखिए :

और मैं अपनी स्मृतियों से
एक प्रागैतिहासिक पतंग की डोरी को
हलके-हलके खींच कर
धरती पर उतार रहा हूँ।[2]

कृत्रिम खिलौनों के साथ-साथ शिशु-मन को मेमने, गिलहरियाँ और फूल-पत्ते इत्यादि के प्राकृतिक उपादान भी उतने ही मोहक लगते हैं। पर आधुनिक कवि जब

---

१. इन्द्रधनु रौंदे हुए ये; पृ० ६६.
२. कल्पना (मार्च १९६१); ६४.

इन को एक शिशु-सुलभ सहजता के साथ आज के बौद्धिक पाठक के सम्मुख उपस्थित करता है तो उस का संकेत अधिक गहरा और तलस्पर्शी होता है :

> तुम में कहीं कुछ है
> कि तुम्हें उगता सूरज, मेमने, गिलहरियाँ, कभी-कभी का मौसम
> जंगली फूल-पत्तियाँ, टहनियाँ भली लगती हैं।[1]

इन [illegible] बिम्बों में मानव-मन के गहनतम स्तरों को छूने की अद्‌भुत क्षमंता है। सहज बिम्बों के द्वारा मानव-मन की जटिलता को उद्‌घाटित करने की यह कला नयी कविता की अपनी खोज है।

भाषावैज्ञानिक बिम्ब (लिंग्विस्टिक इमेज) :

प्रकृति और जीवन के विविध क्षेत्रों से बिम्बों का आकलन सभी युगों के कवियों ने किया है। पर भाषा का क्षेत्र अब तक अछूता रहा है। नये कवियों की अन्वेषण-वृत्ति ने इस नये क्षेत्र में पहली बार प्रवेश किया है और फलस्वरूप भाषा-सम्बन्धी कुछ सर्वथा नये बिम्ब नयी कविता में आये हैं। इस का कारण है भाषा के प्रति आज की बदली हुई यथार्थ-दृष्टि। भाषाविज्ञान की नयी खोजों ने शब्द की सत्ता के प्रति एक नयी उत्सुकता उत्पन्न कर दी है और आज के संवेदनशील कवियों की दृष्टि में 'शब्द' केवल एक सूचनात्मक नाम न रह कर एक ठोस जीवित 'वस्तु' बन गया है। निस्सन्देह इस के पीछे प्रत्यक्षवस्तुवाद और अस्तित्ववाद जैसे दार्शनिक सम्प्रदायों की नयी स्थापनाओं की प्रेरणा भी काम कर रही है। भाषावैज्ञानिक बिम्ब की स्थिति वहाँ मानी जा सकती है जहाँ 'शब्द' अथवा 'शब्दार्थ' स्वयं बिम्ब बन कर आये। नीचे कुछ इस प्रकार के उदाहरण दिये जाते हैं :

> नगर पर तैर रही हैं
> जंगलों की परछाइयाँ
> घरों के सन्दली मौन में गिर पड़ा है
> एक **बैंगनी** शब्द।[2]
>
> ०० ०० ००
>
> क्रिया और **गूँगे विशेषण** के बीच में
> खड़ी है पूरी एक **नामहीन**
> पीढ़ी।[3]
>
> ०० ०० ००

---

१. सीढ़ियों पर धूप में; पृ० ६६.
२. कृति (जुलाई-अगस्त संयुक्तांक १९६१)
३. वही (अप्रिल १९६०); पृ० १२.

उद्भ्रान्त शब्दों के नये आवर्त में
हर शब्द निज प्रतिशब्द को ही काटता
ध्वनि लड़ रही अपनी प्रतिध्वनि से यहाँ ।[1]

इन शब्द-रूप बिम्बों के द्वारा नयी कविता ने हिन्दी-भाषा की व्यंजना-शक्ति का एक नया द्वार खोला है । यद्यपि इन बिम्बों का पूर्णतः प्रत्यक्षीकरण नहीं होता, फिर भी ये आधुनिक संवेदना से युक्त पाठक के मन पर चित्रभाषात्मक प्रभाव डालते हैं । इस दृष्टि से भाषा वैज्ञानिक बिम्ब को मूर्त विधान तथा अमूर्त कला (ऐब्स्ट्रैक्ट आर्ट) के बीच की वस्तु माना जा सका है ।

बिम्बात्मक अमूर्तन :

चित्र-कला के क्षेत्र में अमूर्त-कला की खोज आधुनिक युग की सब से बड़ी घटना है । उस का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रभाव नयी कविता पर भी पड़ा है । फलस्वरूप अमूर्त चित्रों की तरह कविता में भी ऐसे बिम्ब दिखाई देने लगे हैं जिन में भौतिक अंशों का एक हद तक लोप होता है । उदाहरण के रूप में शमशेर बहादुर सिंह की 'गीली-मुलायम लटें' शीर्षक कविता की निम्नलिखित पंक्तियाँ ली जा सकती हैं :

नया गहरापन
तुम्हारा
हृदय में डूबा चला जाता
न जाने कहाँ तक
आकाश-सा
ओ साँवलेपन
ओ सुदूरपन
ओ केवल लयगति............[2]

इन पंक्तियों का कोई स्पष्ट रूप नहीं उभरता । फिर भी 'गहरापन', साँवलापन' और 'सुदूरपन' जैसे शब्दों के द्वारा पाठक के भीतर एक विशेष प्रकार का संवेदन जगता है जो 'गीली-मुलायम लटों' की अनुभूति को और तीव्र करता है । इन शब्दों में तो भौतिकता का अंश फिर भी कुछ न कुछ बना हुआ है; पर कवि जब अपनी विशिष्ट अनुभूति को 'केवल लय-गति' कहता है तो वह अपने कथ्य के भौतिक अंश को एक कलात्मक ढंग से छिपाने का प्रयास करता है और उस के स्थान पर 'लय-गति' के रूप में उस की ऐन्द्रिय संवेदना-मात्र को सम्प्रेषित करता है । नयी कविता की नवीनतम प्रवृत्ति इसी अमूर्तन की दिशा में बढ़ने की है । पर आज की कविता का यह बिम्बात्मक

१. कवि (अप्रिल १९५७); पृ० ५६.
२. कुछ कवितायें; पृ० ४०.

अमूर्तन छायावादी कविता के अमूर्त बिम्बों से सर्वथा भिन्न है। इन का आधार यदि वस्तु की मूल संवेदना है तो छायावादी अमूर्त बिम्बों का आधार विशुद्ध 'भावना' अथवा कल्पना होती थी। फिर छायावादी कवि जान-बूझ कर अपने चित्र के भौतिक अंश को छिपाने का प्रयास नहीं करता था। क्योंकि वह जिस 'भावना' को मूर्त करना चाहता था उस में भौतिक अंश होता ही बहुत कम था।

ऊपर नयी कविता के बिम्बविधान की नयी दिशाओं के कुछ सव्याख्या उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। पर इन के अतिरिक्त भी बिम्बविधान के विकास की कई ऐसी दिशाएँ हैं जिन का स्वरूप अभी उतना स्पष्ट नहीं है। उदाहरण के लिए खगोलिक बिम्बों (कॉस्मिक इमेजेज़) को लिया जा सकता है। इस वर्ग के बिम्ब अभी हिन्दी-कविता में बहुत बिरल हैं। फिर भी अन्तरिक्ष की नयी घटनाओं से प्रेरणा पा कर कुछ कवियों ने उस दिशा में बढ़ने का प्रयास अवश्य किया है। भावी संकेत-सूत्रों के आधार पर कहा जा सकता है कि वैज्ञानिक घटनाओं के क्रमिक विकास के साथ-साथ भविष्य की कविता में खगोलिक बिम्बों का महत्त्व क्रमशः बढ़ता जायेगा।

अध्याय : ७

उपसंहार

प्रस्तुत अध्ययन के आधार पर हम जिन निष्कर्षों पर पहुँचे हैं उन्हें संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है :

काव्य का मुख्य उद्देश्य है बिम्ब उपस्थित करना। सम्पूर्ण कलात्मक निर्माण की सार्थकता इसी बात में है कि वह अमूर्त भावों को मूर्त सौन्दर्य-बिम्बों में रूपायित करता है। यों तो बिम्बविधान की प्रक्रिया प्रत्येक युग की कविता में किसी न किसी रूप में पायी जाती है, परन्तु काव्यगत बिम्ब की सत्ता के प्रति साहित्यिक जागरूकता पाश्चात्य आलोचना के क्षेत्र में सर्वप्रथम अनुभववादी दार्शनिकों के आगमन के पश्चात् आरम्भ हुई और हिन्दी आलोचना के क्षेत्र मे छायावाद के आगमन के पश्चात्। नृतत्त्व-शास्त्र, भाषाशास्त्र, मनोविश्लेषण तथा युंग-मनोविज्ञान की नयी खोजों ने बिम्ब के जटिल स्वरूप पर नया प्रकाश डाला और तत्सम्बन्धी अध्ययन के लिए नयी सामग्री प्रस्तुत की। धीरे-धीरे बिम्ब समस्त आधुनिक काव्य-प्रवृत्तियों का केन्द्र-बिन्दु बन गया है और प्रकारान्तर से उन के मूल्यांकन की मुख्य कसौटी भी।

बिम्ब की प्रकृति और स्वरूप के सम्बन्ध में विद्वानों में बहुत मतभेद है। सामान्यत: ऐन्द्रियता, संवेगात्मकता, ताज़गी और स्मृत्युद्‌बोधन की शक्ति उस की प्रमुख विशेषताएँ मानी जाती हैं। इन में से ऐन्द्रियता अथवा संवेदन-क्षमता बिम्ब का पहला गुण है, जो उसे तुलनात्मक अलंकारों से अलग करता है। परन्तु ऐन्द्रियता ही अन्तिम गुण नहीं है। एक सफल काव्यात्मक बिम्ब देश-कालबद्ध ऐन्द्रियता की सीमाओं को अतिक्रान्त कर के गहन मानवीय सत्यों की ओर संकेत करता है। बिम्ब शब्द अलंकार की अपेक्षा अधिक व्यापक है। उस की स्थिति काव्य के अतिरिक्त संगीत, चित्रकला, और मूर्तिकला इत्यादि में भी मानी जाती है। व्यापक दृष्टि से वह प्रतीक, 'मिथ' और अलंकार को भी अपने भीतर समाहित कर लेता है। काव्यगत विभावन-व्यापार का मुख्य अंग होने के कारण वह रस-निष्पत्ति की सम्पूर्ण प्रक्रिया को प्रभावित और निर्धारित करता है।

बिम्बनिर्माण की प्रक्रिया एक जटिल मानसिक व्यापार है जिस की स्पष्ट शब्दों में बौद्धिक व्याख्या प्राय: असम्भव है। काव्य का आलोचक कवि के गहन अचेतन मन

चयन में स्वाभाविकता लाने का प्रयास तो किया परन्तु उन का सम्पूर्ण बिम्बविधान नितान्त व्यक्तिगत अनुभूतियों तक सिमट कर रह गया।

छायावादी कल्पना की सूक्ष्मता और भावात्मक स्फीति की सीधी प्रतिक्रिया प्रगतिवादी काव्य के बिम्बविधान में दिखाई देती है। इस धारा के कवियों ने गहन उदात्त सौन्दर्य-बिम्बों की अपेक्षा जीवन और जगत् के यथार्थ बिम्बों के संचयन में अधिक रुचि दिखायी। परन्तु कला की दृष्टि से प्रगतिवादी काव्य के वस्तुप्रधान बिम्बों को छायावादी काव्य के सूक्ष्म संवेदनात्मक बिम्बों के समकक्ष नहीं रखा जा सकता। कला के स्तर पर यथार्थवाद का आग्रह और सामाजिक सोद्देश्यता का सिद्धान्त सौन्दर्यबोधात्मक बिम्ब (ईस्थेटिक इमेज) के निर्माण में अंशतः बाधक सिद्ध हुआ। फिर भी प्रगतिवाद की यह देन स्वीकार करनी पड़ेगी कि उसने बिम्बविधान की प्रक्रिया को स्वच्छन्द कल्पना और प्रातिभज्ञान के सूक्ष्म स्तर से उतार कर जीवन की ठोस भूमि पर लाने का ऐतिहासिक प्रयास किया।

छायावाद की उत्तरकालीन अलंकृति और प्रगतिवाद की स्थूल वर्गचेतनायुक्त बिम्बयोजना की प्रतिक्रिया में प्रयोगवाद का आगमन हुआ। इस धारा के कवियों की मूल समस्या थी प्रेषणीयता के नये माध्यमों की खोज। वस्तुतः वे जिस 'राह का अन्वेषण' कर रहे थे वह शब्दों, लयों, प्रतीकों और बिम्बों के बीच से हो कर गयी थी, जीवन के खुले विस्तार से हो कर नहीं। फ्रॉएड के स्वप्न तथा उपचेतन-सिद्धान्त का प्रयोगवादी कविता के रूपविन्यास पर बहुत गहरा प्रभाव पाया जाता है। काव्यगत बिम्ब को पूर्णतः उपचेतन-मन की सृष्टि मानने के कारण प्रयोगवाद की बिम्बयोजना अंशतः जटिल और दुर्बोध हो गयी। प्राचीन कविता की कार्य-कारणबद्ध बिम्ब-योजना के स्थान पर एक नये प्रकार के अतार्किक और खण्डित बिम्बविधान का प्रचलन हुआ जिसे आधुनिक आलोचना की भाषा में 'मुक्त अनुषंग-पद्धति' का नाम दिया गया है। परन्तु फ्रॉएड के मनोविश्लेषणशास्त्र से अत्यधिक प्रभावित होने के कारण प्रयोगवादी बिम्बों का स्वरूप प्रत्यक्षात्मक (परसेप्च्युअल) न हो कर धारणात्मक (कॅन्सेप्च्युअल) अधिक हो गया। उपचेतन के काव्यात्मक अनुकरण की यह चेतनपद्धति सन् पचास की कविता में क्रमशः कम होती गयी। नयी कविता का विकास बौद्धिक विश्लेषण से अनुभव-मूलक संश्लेषण की दिशा में हुआ। फलतः इस धारा के कवियों ने काव्यगत बिम्ब को पहली बार आन्तरिक अनुभूति तथा बाह्य यथार्थ को एक सूक्ष्म स्तर पर जोड़ने वाले भावात्मक सेतु के रूप में देखा। यही कारण है कि नयी कविता के सफलतम बिम्बों में एक ऐसी व्यंजकता और पारदर्शिता (ट्रैन्स्पेरेन्सि) पायी जाती है जो एक साथ अनुभव-चिन्तन की अनेक दिशाओं में संकेत करती है। समकालीन हिन्दी-कविता की नवीनतम प्रवृत्ति बिम्बात्मक अमूर्तन की दिशा में बढ़ती हुई दिखाई दे रही है।

रचना-प्रक्रिया की दृष्टि से देखें तो नयी कविता के बिम्बविधान का रूपाकार पहले से बहुत बदल गया है। भारतेन्दु-युग तथा द्विवेदी-युग की कविता के बिम्बविधान

में एक प्रकार की स्थिरता पायी जाती है जिस के कारण बिम्बों का आन्तरिक सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाता। इस के विपरीत छायावादी कवियों के बिम्बनिर्माण में केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति पायी जाती है। पर आज की कविता में केन्द्रीय बिम्ब प्रायः होते ही नहीं, या होते भी हैं तो उन की स्थिति बहुत कुछ प्रतीकात्मक होती है। नया कवि भावों की जटिलता और अन्तरावलम्बन को व्यक्त करने के लिए कई प्रकार के बिम्बों का प्रयोग करता है। वह एक ही अनुभूति को प्रेषित करने के लिए प्रायः दोहरे-तिहरे बिम्बों का साँचा तैयार करता है। कभी-कभी वह एक बिम्ब के बाद ठीक उस के विरोधी बिम्ब को ला कर बैठा देता है जो सामान्य पाठक के लिए थोड़ी कठिनाई उत्पन्न कर सकता है। इस से कहीं-कहीं नयी कविता के बिम्बविधान में जटिलता और अस्पष्टता भी बढ़ी है। निर्दिष्ट अनुभूतियों के अभाव में बहुत से बिम्ब केवल एक वैचित्र्य की सृष्टि कर के रह जाते हैं। परन्तु जो अपेक्षाकृत प्रौढ़ और जागरूक कवि हैं उन के बिम्बविधान में वैसी ही अनुस्यूत सघनता दिखाई देती है जैसी छायावाद की सफलतम चित्रभाषात्मक कविताओं में पायी जाती है। इस प्रकार आधुनिक हिन्दी-कविता का बिम्बविधान क्रमशः विश्लेषण से संश्लेषण की दिशा में बढ़ता हुआ दिखाई दे रहा है।

●